आशापूर्णा देवी
की
श्रेष्ठ कहानियां

अंतर्भारतीय पुस्तकमाला

आशापूर्णा देवी की श्रेष्ठ कहानियां

अनुवाद

सूर्यनाथ सिंह

नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया

ISBN 81-237-1599-4

पहला संस्करण : 1996
दूसरी आवृत्ति : 2000 *(शक 1922)*

Original Title : Ashapoorna Devir Chhoto Galpo Sankolan (*Bangla*)
Translation : Ashapoorna Devi Kee Shreshtha Kahaniyan (*Hindi*)
रू. 50.00
निदेशक, नेशनल बुक ट्रस्ट, इंडिया
ए-5 ग्रीन पार्क, नयी दिल्ली - 110016 द्वारा प्रकाशित

विषय सूची

मैं लिखती आंखिन की देखी

मैंने अब तक डेढ़ सौ से अधिक उपन्यास और डेढ़ हजार से भी अधिक कहानियां लिखी हैं। कहानी मेरी 'पहली मुहब्बत' है। बचपन से अब तक, एक लंबे समय से लिखती चली आ रही हूं। इस लंबे समयांतराल में जिस तरह मेरे व्यक्तिगत जीवन में अनेक तूफान आए और चले गए , उसी तरह समाज के ऊपर से भी अनेक तूफान गुजरे, अनेक परिवर्तन हुए और इतिहास रचता चला गया। लेकिन लिखना कभी रुका नहीं। समाज में परिवर्तन होते हैं और आदमी की मानसिकता भी बदल जाती है। इस बदलाव की छाप अनिवार्य रूप से लेखन पर भी पड़ती है। इसीलिए कई बार तो ऐसा लगता है कि इन सबके बीच में एक आत्मप्रतिकार का भाव भी पल रहा है। लेकिन जो कुछ भी देखती हूं या देखे हुए की जो स्मृति मन में है वही लिखती चलती हूं। शायद जिसे हम हिंसक समझते हैं, अत्याचारी कहते हैं, वह हिंसक नहीं है, अत्याचारी नहीं है, अज्ञानी है। अज्ञान खत्म होते ही वह अत्याचारी नहीं रह जाता। फिर यह भी देखने में आता है कि मनुष्य सबसे अधिक असहाय खुद से है। यह दिक्कत नारी और पुरुष दोनों के साथ है। और इस असहायत्व से वे मुक्त नहीं हैं। फिर शायद वह स्वयं जान-बूझकर 'अज्ञानी' बना हुआ है। तभी तो एक बार जिस जीवन को परम मूल्यवान समझकर हृदय से प्यार करता आया है, उसे ही एक क्षण के एकाकीपन में मूल्यहीन साबित कर देता है।

मैंने कभी भी अपनी देखी हुई दुनिया के बाहर कदम नहीं रखा, किंतु मेरी वह दुनिया किसी चारदीवारी के भीतर कैद भी नहीं है। फिर भी इसके भीतर मुझे एक असमाप्य जीवन-वैचित्र्य दिखाई देता है। कितने विचित्र चरित्र हैं! जिस मनुष्य के भीतर लक्ष्य की एक प्रेरणा है, एक सुकुमार मंगलकामना है, वही मनुष्य अपने पीछे एक विकृत चेहरा छिपाए घूमता फिरता है। जो कि बाहर से घृणित है, विकृत है। सिर्फ स्त्री-पुरुष संबंधों के बीच ही नहीं बल्कि पारिवारिक जीवन के अन्यान्य पक्षों के बीच भी कितने सारे ताने-बाने, कितनी शुद्धता और मिलावटवाले कारोबार बिखरे पड़े हैं। निरंतर इस असमाप्य जीवन को मैं देखती आ रही हूं , अनुभव करती रही हूं और अपनी कहानियों के बीच बोलती भी रही हूं।

परिवार

मेरा घर बहुत पाबंदियोंवाला घर था। लड़कियों के स्कूल जाने का कोई रिवाज नहीं था। इसलिए मुझे स्कूल जाने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ। फिर भी मैं प्रायः पढ़ती ही रहती थी। पढ़ाई घर में ही होती थी। उसमें भी कहानी तथा उपन्यास ही पढ़ पाती थी। मेरी मां बहुत साहित्यप्रेमी थीं। मां सारे काम-काज संभालने के बाद पुस्तकें पढ़ती थी। घर में अनेक पुस्तकें आया करती थीं। उन दिनों जितनी भी ग्रंथावलियां थीं सब

मां के पास थीं और जितनी भी पत्र-पत्रिकाएं निकलती थीं, लगभग सभी आती थीं। इसके अलावा तीन-तीन लाइब्रेरियों से किताबें लाई जाती थीं। मां के किताब पढ़ने का मतलब कि कुंभकर्ण की भूख! और हमारे लिए भी स्कूल का कोई झमेला नहीं था। इसीलिए हम तीनों बहनें भी निर्विकार भाव से वे सारी किताबें पढ़ जाती थीं। यह क्रिया बहुत बचपन से ही चली आ रही थी। पढ़ते-पढ़ते लिखने का मन हुआ। अचानक एक कविता लिख डाली और उसे एक पत्रिका में छपने को भेज दिया। वह छप भी गई। तब मेरी उम्र तेरह साल की थी। मेरी दीदी थोड़ा-बहुत चित्र बना लेती थी। मुझसे छोटी बहन भी कविता लिखती थी, चित्र भी बहुत बढ़िया बना लेती थी। हमें घर के लोगों के अलावा किसी और से बात करने का सुयोग नहीं मिलता था। मेरे पिताजी 'हरेन्द्रनाथ गुप्त' चित्रकार थे। 'भारतवर्ष' मासिक पत्रिका में पिताजी के बनाए अनेक चित्र छपे हैं। प्रथम अंक का मुखपृष्ठ भी मेरे पिताजी ने ही बनाया था। उसके संपादक जलधर सेन पिताजी के परिचित थे। पिताजी के अन्य अनेक चित्रकार मित्र भी थे। वे सब लोग घर में आते थे, किंतु हमारे साथ उनकी कोई बातचीत नहीं हो पाती थी। हम लोग इधर-उधर से ताक-झांक करके देख लेते थे कि वे एक कलाकार थे, वे एक लेखक थे।

हम कुल आठ भाई-बहन थे। अत्यंत साधारण जिंदगी थी। भाई सब तो पढ़ाई-लिखाई करते थे, किंतु हमारा तो बारह वर्ष की उम्र से ही घर से बाहर निकलना बंद हो गया था। मैं अपने जीवन के बारे में कभी सोचने बैठती तो लगता कि अगर बहुत गरीब घर की बेटी होती अथवा बहुत विशिष्ट किसी धनी आदमी की बेटी होती तो कुछ इस बारे में भी सोचा जा सकता था। दुःख, दुर्दशा, अभाव अथवा ऐश्वर्य की झलक। वैसा कुछ भी तो नहीं था। सिर्फ मध्यवित्त रहन-सहन। मध्य मानसिकता थी। पिताजी चित्र बनाते और मां साहित्य-प्रेमी। इसी कारण शायद अन्य आत्मीय जन के बेटे-बेटियों से हमारी मानसिकता भिन्न थी।

साहित्य और परिवार के अलावा हमारे जीवन में आकर्षण के लिए कुछ भी नहीं था। मैंने चित्र बनाना भी नहीं सीखा, संगीत भी नहीं सीखा। यद्यपि मेरे पिताजी शिल्पी थे, मेरी बहनें भी चित्र बनाती थीं। मेरी इच्छा थी कि बाहर निकलकर बहुतसारी किताबें पढ़ूं। जब मेरे विवाह की बात चल रही थी तो मैं सोचती कि अगर मेरा पति लाइब्रेरियन होता तो मैं खूब किताबें पढ़ती। फिर सोचती कि अगर रेल में भी काम करनेवाला होगा तो बुरा नहीं है। खूब घूमने को मिलेगा। लेकिन दोनों में से कोई भी संभव नहीं हो सका। मेरे पति बैंक में कर्मचारी थे। साध होने पर भी साध्य कम थे। इसलिए लिखना-पढ़ना ही एकमात्र बच गया। सारा काम-काज निबटाकर मैं अपने इस शौक को बनाए रखने की चेष्टा करती। सफल भी होती। इसके अलावा कोई दूसरा आकर्षण नहीं था। सामर्थ्य के अनुसार ग्रहण करती। पढ़ाई की दौड़ में मातृभाषा की सीमा के भीतर ही रही, अनुवाद के माध्यम से विदेशी साहित्य का भी स्वाद ले लेती थी। तब अनुवाद को आग्रहपूर्वक पढ़ती थी, और पढ़ते-पढ़ते यह जाना कि परिवेश,

देश-काल के अनुसार पात्र चाहे जैसे हों किंतु भीतर से सारे मनुष्य एक जैसे ही होते हैं।

साहित्य और समाज

मैंने सबसे पहले बच्चों के लिए लिखना शुरू किया था। अभी भी लिखती हूं। वह लिखना मुझे अच्छा लगता है। बड़ों के लिए कहानी लिखती हूं , उपन्यास भी। उपन्यास मेरा बाद का प्यार है। तभी यह मुझे बहुत अच्छा नहीं लगता। जब मुझे लगता है कि उपन्यास लिखा जाना चाहिए तभी लिखती हूं , नहीं तो नहीं लिखती। पहले तो यह कि—लेखन के क्षेत्र में विशिष्ट जगह पा जाऊं, ऐसी कोई बात मन में रखकर नहीं लिखती, यह तो एक स्वाभाविक कार्य की तरह शामिल हो गया है—जीवन में। फिर भी कहने को हर समय कुछ-न-कुछ अवश्य होता है। हमेशा ही तो एक नई कहानी की तरंगें उठती रहती हैं। किंतु वे कभी पूरी नहीं कही जा पातीं। समय भी कम है, क्षमता भी कम है, किंतु मन तो रुकता नहीं है। हर पल मुझे ऐसा लगता है कि मैं नहीं लिख रही, जैसे कोई मुझसे लिखवा रहा है। तभी तो मैं अपने आपको मां सरस्वती का स्टेनोग्राफर कहती हूं। वे जो लिखवाती हैं वही मैं लिखती हूं। अगर ऐसा नहीं होता तो पूजा के दिनों में रद्दी किस्म के अखबार में मुहल्ले की पूजा पर लिखी गई मेरी उस समीक्षा को लोग इतना पसंद करते? यह एक अदृश्य शक्ति है। लिखाई-पढ़ाई की तो सान चढ़ाई जाती है, नहीं तो हजार-हजार पन्ने कौन लिख पाता? मुझे लगता है कि हर कलाकार और साहित्यकार के भीतर इसी तरह का भाव होगा। अलौकिक से कोई कार्य करने की अदृश्य शक्ति प्राप्त होती है।

मैं चिरकाल से चारदीवारी में कैद हूं। मैंने खिड़की से दुनिया देखी है। पहले तो एक कठोर पाबंदियोंवाले घर की बेटी थी, बाद में लगभग वैसे ही घर की बहू बन गई। चालीस साल बाद भी कोई यह नहीं जानता था कि 'आशापूर्णा देवी' कौन है? कहीं यह किसी पुरुष लेखक का छद्म नाम तो नहीं है? बाद में जब मैं बाहर निकली तो सब से जान-पहचान हुई। सजनी कांत दास, प्रेमेन्द्र मित्र आदि कई लोगों ने कहा कि हम तो समझते थे कि यह कोई छद्म नाम है। असली लेखक कोई पुरुष है। इतना सशक्त लेखन!

कई बार मुझसे इस तरह के प्रश्न किए जाते हैं—"क्या आप कहानी, उपन्यास लिखने से पहले ही सब कुछ सोच लेती हैं? और इस कल्पना के बीच आप किस चीज को प्रधानता देती हैं—घटना, कहानी अथवा चरित्र को?" उसके जवाब में मैं बोलती हूं—"कहानी, उपन्यास लिखते समय मैं मुख्य रूप से चरित्र को ही ध्यान में रखती हूं। इसके बाद चरित्र के इर्द-गिर्द घटना की कल्पना करती हूं। फिर, एक-एक कर उसे सजाने की चेष्टा करती हूं। कई बार चरित्र को ठीक करने के लिए घटना भावना से अलग भी चली जाती है। कई बार तो जो घटना मैं सोचती हूं वह बहुत बदल जाती है। एक बार तो लगता है कि उस सब की नियंता मैं नहीं हूं , अपनी

इच्छानुसार सारी चीजें अपने रास्ते चली जाती हैं। और सोचने बैठती हूं तो कई बार ऐसा भी लगता है कि कहानी की नायिका मैं स्वयं हूं। वह भाव अवश्य मेरे मूल में है। फिर 'मैं' वाली रचना इतनी हीन क्यों? अन्य सब की रचनाओं में भी तो रचनाकार अपने 'मैं' के भीतर छुपा ही होता है।

जब मैं बहुत छोटी थी तभी से मैं यह देख रही हूं कि पारिवारिक जीवन में आत्मीयजनों के भीतर—मैं अपने मध्यवर्गीय परिवारों की बात कर रही हूं—बेटे और बेटियों के प्रति मूल्यबोध में बहुत भिन्नता है। जैसे कि बेटी कुछ भी नहीं है और बेटा कोई रत्न हो—इस तरह की बात। यह बात मुझे बुहत कचोटती थी। लेकिन हमारे भीतर तो ऐसा माद्दा था नहीं कि इस बात का प्रतिवाद कर पाते। जैसे कि बुजुर्गों के मुंह पर कोई बात बोल दो तो फांसी की सजा हो जाएगी। वही सब गुस्सा, दुःख और जलन मन के भीतर एकत्र होती रही। मेरे वे सारे मौन प्रतिवाद ही जैसे एक-एक कर मेरी कहानियों में नायिकाओं के माध्यम से अभिव्यक्त होते रहे। परिपार्श्व का सहारा तो लेना ही पड़ता है। 'सुवर्णलता' के समाज को मैंने बचपन में देखा है। अपने घर में तथा मौसियों और बुआओं इत्यादि के घरों में देखने को मिलता है। हर जगह मैं देखती हूं कि पुरुष का ही प्रताप है। लड़कियां एकदम से घुटने टेके रहती हैं। फिर भी जो बड़ी गृहस्वामिनी हो गई हैं उनका भी प्रबल प्रताप होता है। कम उम्र की लड़कियों, विशेषकर बहुओं का जीवन निरुपाय और दुःखपूर्ण होता है—जो अपने मन की इच्छाओं को दबाकर रह जाती हैं। लड़कियों को यह अधिकारहीनता क्यों है? रचनाओं के माध्यम से यही सवाल बार-बार उठाए जाते रहे हैं।

रवीन्द्रनाथ ने एक जगह लिखा है—''महिलाओं के प्रति अश्रद्धा और निष्ठुरता का एक कारण यही है कि हम अपने बुद्धिगत विकास के कार्यों में उन्हें बहुत कम सहायक पाते हैं। सिर्फ खाने, पहनने और शारीरिक प्रयोजनों के लिए ही हम उन्हें उपयुक्त पाते हैं, इसी कारण उनके लिए हमारे भीतर बहुत कम जगह रह जाती है।'' यही असली और मेरे खयाल से अंतिम बात भी है। लड़कियों के पास पुरुष उतनी मानसिक संतुष्टि नहीं पाता, अगर पाता भी है तो आमोद-प्रमोद के क्षणों में ही। अभी तक तो बहुत कुछ बदल गया है, किंतु मनोधर्म वैसा नहीं बदल पाया है। लड़कियां जितनी सहज प्रेमिका हो सकती हैं, उतनी सहज पत्नी नहीं हो पातीं।

आजकल साहित्य में व्यक्तिगत समस्या ही प्रमुख होती जा रही है। समष्टिगत अथवा सामाजिक समस्या पर बातें उस तरह कहां की जा रही हैं? जो लोग सोचते भी हैं वे बहुत ही अप्रगतिशील समाज की कहानी लिखने वाले कहे जाते हैं। नारी समस्या को लेकर पुरुषों ने तो बहुत कम ही लिखा है। पहले लड़कियों की जो दयनीय स्थिति थी उसे देखकर कुछ पुरुषों का हृदय पिघला था। ऐसा नहीं होता तो विद्या सागर महोदय को प्रातः स्मरणीय क्यों कहा जाता? आजकल के पुरुषों को तो उस तरह द्रवित होने की कोई आवश्यकता है नहीं। कारण, यह कि वे लड़कियों के पहले

के अवहेलित रूप को नहीं देख पाते। आजकल लेखक लोग गांव की लड़कियों को लेकर अवश्य कुछ ज्यादा ही लिखने लगे हैं। किंतु वह सब उनके व्यक्तिगत सुख, दु:ख और शारीरिक आनंद की वेदना की ही कहानी होती है। उनकी भौतिक और सामाजिक समस्याओं पर बहुत नहीं लिखा गया है। तभी से यह सब धारणा मेरी सीमाबद्ध ज्ञान की परिधि में बद्ध हो गई है।

समाज और साहित्य

समाज और साहित्य परस्पर पूरक होते हैं। यही कारण है कि यदि लेखक मनमानी करने लगे तो सामाजिक अनाचार की संभावना बढ़ जाती है। उनके बारे में यह समझा जाता है कि इनके लेखन का कुछ मूल्य होता है। एवं समाज के प्रति इनका कुछ उत्तरदायित्व भी होता है। साहित्यकार का दायित्व है लक्ष्य की दिशा इंगित करना। बनावटी लेखन नहीं। दरअसल साहित्यकार का काम है खुद को प्रकाशित करना। प्रतिकार के बारे में सोचना लेखक का काम नहीं है। यह काम सामाजिक कार्यकर्त्ताओं का है। यदि वे स्वयं को ठीक से प्रकाशित नहीं कर पाते तो उन्हें बहुत यंत्रणा सहनी पड़ती है। खुद को ही जवाब देना पड़ता है।

यदि मैंने कुछ विद्रोही चरित्र गढ़े हैं तो वह सब मैंने प्रतिवाद करने की दृष्टि से ही किया है। फिर भी कभी मैंने ताल ठोंककर उस प्रतिवाद के बारे में बताने की कोशिश नहीं की। मुझे जो पीड़ा मिली है, यंत्रणा और चिंता मिली है और उससे जो न्याय-विवेक मिला है उसी से समझकर मैंने उन्हें निर्मित करने की कोशिश की है। जो देखती हूं, वही लिखती हूं। अगर इससे अलग सोचने की कोशिश करती तो ऐसा कैसे संभव हो पाता? 'यही लिखना उचित होगा'—ऐसा सोचकर मैंने कभी नही लिखा। क्या हो रहा है, वही लिखती हूं। क्या उचित है, यह बतानेवाली मैं कौन होती हूं?

तभी तो मैं बहुतों तक पहुंच सकी हूं। आज जीवन के अंतिम प्रहर में आकर महसूस कर रही हूं कि मेरे जीवनभर की मेहनत बेकार नहीं गई। जीवनभर जो मैं आराम को हराम बोलने की कोशिश करती रही उसे मैं दूसरों को समझाने में कामयाब रही। 'विद्रोहिणी' की सृष्टि करने संबंधी प्रश्न पर मेरे निजी जीवन (और मेरे लेखन) को आमने-सामने रखकर विद्रोहिणी को कभी नहीं समझा जा सकता। यह सब मेरे जीवन के पार्श्व से उभरकर आती है। मैं जो कुछ भी रचती हूं वह मेरा मध्यवर्गीय घेरे के भीतर का ही देखा हुआ होता है। मैं एक लंबे समय से देखती चली आ रही हूं कि हम ऊपरी दृष्टि से जिसे सुखी समझते हैं, वह आंतरिक रूप से सुखी नहीं है। और हम जिसे निहायत दुखी समझते हैं वह दुखी नहीं है। बाहरी और भीतरी चेहरे में आकाश-पाताल का फर्क है। प्राय: यही मेरे लेखन का प्रतिपाद्य होता है। मैंने राजनीति संबंधी कुछ नहीं लिखा, समाज-सेविकाओं के बारे में भी नहीं। मैंने चारदीवारी में बंद कन्याओं के बारे में लिखा; मैंने उनके बारे में भी लिखा जो

असहनीय अवस्था को भी स्वीकार करती हैं। यह असहनीय अवस्था होती है—घर छोड़ देना अथवा पति को त्याग देना। लंबे समय से एक आंतरिक विद्रोह चल रहा था, किंतु वह सामने नहीं आ रहा था। उसे यदि नारी-मुक्ति की पिपासा कहें तो, यह वहीं है। किंतु वह व्यक्तिगत नहीं है। समष्टिगत और सामाजिक है। मेरे समय में 'विद्रोहिणी' ही कहा जाता था। 'नारी-मुक्ति' शब्द प्रचलित नहीं हुआ था। लड़कियों के आरंभिक जीवन की पाबंदियां मुझे बहुत परेशान करती हैं। बचपन से ही मैं उनकी बंधनग्रस्तता देखती चली आ रही हूं। इसके अलावा हर विषय में तो उन्हें अधिकारमुक्त रखा गया है। ऐसी अनेक अवस्थाएं वे झेल चुकी हैं। अंततः अब विद्रोह करके, संघर्ष करके उन्होंने समस्त विषयों पर अपना अधिकार प्राप्त कर लिया है। 'स्वाधीनता'—जो कि उन्हें बाहरी दुनिया में मिलनी चाहिए वह भी उन्होंने पा ली है। अब वे और इन बातों को लेकर मन को पीड़ा नहीं पहुंचातीं। अब पता नहीं कन्याओं को आजादी मिलने के बाद उनके प्रति मेरा सद्व्यवहार है कि नहीं? मन के भीतर जो स्वाधीनता का एक स्वप्न संसार था वह ठीक वैसा मिला कि नहीं? हालांकि आज भी लड़कियों की समस्याएं कम नहीं हैं, हां पहले कुछ ज्यादा जरूर थीं। अब वे दुर्गा बनकर घर-बार संभालती हैं। मैं घर के भीतर की लड़कियों के बारे में लिखती रही हूं, अब वे भीतर और बाहर समान रूप से कार्यरत हैं। इन लड़कियों में अकूत क्षमता है। अब उनके भीतर सहिष्णुता कम हो गई है। यह कहना अनुचित न होगा कि आजकल की लड़कियां बहुत असहिष्णु हो गई हैं। यद्यपि उनकी इस असहिष्णुता ने उनके जीवन में अनेक परेशानियां भी लाकर खड़ी कर दी है। इसके होने से जीवन अवश्य सुंदर हो जाता है। मेरी समझ से तो शिक्षा, सभ्यता और शालीनता का प्रथम पाठ परम सहिष्णुता ही है। धैर्य के साथ दूसरे की तरफ देखना चाहिए।

एक और भी समस्या है, यद्यपि नारी-मुक्ति को लेकर लड़कियां बहुत उत्तेजित और उद्दीप्त हैं, किंतु संपूर्ण आजादी को लेकर कहीं-न-कहीं उनमें एक सुस्त भावना है। अपने क्षेत्र में वे आत्ममर्यादा को ठीक से प्रतिष्ठित नहीं कर पातीं। वे बार-बार यह भूल जाती हैं कि आत्ममर्यादा और आत्मअहमिका एक ही चीज नहीं हैं। यह याद रहे कि जब तक वे 'आसक्ति' का त्याग नहीं करतीं तब तक आजादी नहीं मिल सकती। लड़कियां सब के ही प्रति बड़ी आसक्त होती हैं। तुच्छ वस्तु के प्रति भी आसक्त होती हैं। और फिर मनुष्य के प्रति भी उतनी ही आसक्ति होती है उनमें। पति और बच्चों को एकांत भाव से अपना समझती हैं और वे किसी को भी ठीक से प्यार नहीं कर पातीं। आज की लड़कियां सब कुछ खुद ही संचालित करना चाहती हैं। **यह स्थिति भी कई बार उनके लिए समस्या बनकर खड़ी हो जाती है।**

मैंने अपनी ट्रिलाजी में अपनी विगत तीन पीढ़ियों को संयोजित करने का प्रयास किया है। एक तो उम्र के कारण घर में बंदी जीवन। किस मात्रा में हवा बाहर से भीतर आ पाती है उसे मैंने देखा है। तेजी से बदलते हुए उस युग को आज ठीक

से याद नहीं किया जा सकता। क्रमशः मानव के सुखी हो पाने की क्षमता खत्म होती जा रही है। यही कारण है कि वह सुखी होने की जितनी भी कोशिशें करता है, सारी व्यर्थ जाती हैं। भौतिकता में सुख कहां होता है। हालांकि वह यह समझ नहीं पाता और वहीं अपने सुख की तलाश करता है। फलस्वरूप उसका हृदय संवेदनशून्य होता चला जा रहा है।

पहले की कह आई हूं कि मेरी देखी हुई दुनिया का दायरा बहुत ही छोटा है, फिर भी कई बार ऐसा लगता है कि जैसे मनुष्य क्रमशः संकीर्ण और क्षुद्र होता चला जा रहा है। पहले बड़े घर, बड़े दालान, बड़ी गृहस्थी और बड़े-बड़े सामान हुआ करते थे, अब तो घर-बार, साजो-सामान सभी छोटे होते जा रहे हैं। ऐसा लगता है, उसी के साथ-साथ मनुष्य का मन भी छोटा होता चला जा रहा है। उसकी प्यार करने की क्षमता भी संकीर्ण होती हुई क्रमशः आत्मकेंद्रिकता के दायरे में चली गई है।

साहित्य काल-सापेक्ष होता है। साहित्य और समाज दोनों ही तो समानांतर चलते हैं। साहित्य समाज का दर्पण तो होता ही है, समाज भी साहित्य का दर्पण होता है। फिर यह भी कहा जा सकता है कि साहित्य और समाज दोनों पास-पास दो समांतर रेखाओं पर चलते हैं—एक-दूसरे का अतिक्रमण करने की चेष्टा करते हुए। यह बात तो सदा से रही है, तभी तो पहले के साहित्य और समाज—दोनों ही के बीच रक्षणशीलता का भाव रहा है। यही कारण है कि जल्दी से अतिक्रमण करके नया स्वरूप तेजी से धारण नहीं कर पाया। किंतु आजकल यह रक्षणशीलता का भाव कम होता चला जा रहा है, कई क्षेत्रों में तो मनमाने ढंग से प्रयोगों को ही आधुनिकता कहा जाने लगा है। यही कारण है कि प्रतिक्रमण की गति तेज हो गई है।

इसके अलावा हमारे साहित्य पर विदेशी साहित्य का प्रभाव तो है ही—वर्तमान समाज पर भी पाश्चात्य सभ्यता का बहुत गहरा प्रभाव है, जिसके कारण भारतीय जीवन-दर्शन में तेजी से बदलाव आया है। यह स्वास्थ्यकर है कि नहीं—यह भी सोचने का विषय है।

यह बात बिल्कुल सही है कि जीवन में जो कुछ भी घटित होता है या है, जीवनधर्मी साहित्य में वह सब कुछ आता है। साहित्य तो जीवन का ही प्रतिफल है। फिर भी मेरी यह धारणा है कि—बहुत-सारे क्षेत्रों में जीवन बहुत ही नग्न और निर्लज्ज है जिसे साहित्य में जस का तस चित्रित करने के लिए भी आवरण की आवश्यकता पड़ती है। और वह आवरण है भाषा की शालीनता। शालीन भाषा में सब कुछ को चित्रित कर देना भी एक स्वस्थ शिल्प है। उसे अयथार्थ कहकर निरस्त कर देना क्या उचित होगा?

मानव-शरीर से ज्यादा यथार्थ क्या होगा? फिर क्या उसे लोगों की आंखों के सामने लाने के लिए निरावरण करना जरूरी है। स्वयं के बारे में कहना तो बहुत ही आश्वस्तिकर होगा, फिर भी यदि कोई अस्वाभाविकता उपस्थित होती है तो वह भाषा

की अशालीनता हमारे मन को तो पीड़ा पहुंचाती है, किसी भी तरह मन उसे स्वीकार करने को तैयार नहीं होता। इस लंबे साहित्यिक जीवन में मेरी यही मान्यता रही है, किंतु इस कारण कभी मुझे कोई असुविधा नहीं हुई। पाठकों ने उसे स्वीकार करके मुझे कृतार्थ किया है, 'कृत्रिम' और 'अनाधुनिक ' कहकर खारिज नहीं किया है। मैं अपने पाठक-समाज के प्रति एकांत भाव से कृतज्ञता ज्ञापित करती हूं।

-आशापूर्णा देवी

भूमिका

आशापूर्णा ने भारतीय भाषा के कथाकारों में अपना महत्वपूर्ण स्थान बना लिया है। यद्यपि समुचित अनुवाद के अभाव में वे आज भी विश्व-साहित्य में अपरिचित बनी हुई हैं। भारतीय साहित्य के क्षेत्र में भी जितने उनके उपन्यास चर्चित हैं, कहानियों का अनुवाद उतना नहीं हुआ है। प्रभात कुमार मुखोपाध्याय से बातचीत के प्रसंग में जगदीश गुप्त ने कहा था—''विश्व साहित्य से जुड़ने-जैसी गंभीर ललक लेकर या मन में किसी प्रकार का भय लेकर उन्होंने कभी नहीं लिखा।'' आशापूर्णा के संबंध में यह बात बिल्कुल सही है। चारदीवारी के भीतर रहकर, निश्चिंत मन से बंगाली जीवन के ऊपर ही सत्तर साल से लिखती चली आ रही हैं—यद्यपि हजारों- हजार मानव-जीवन की विचित्रताओं की तरफ उनकी अपनी हजारों-हजार आंखें खुली हुई हैं। जीवन के उल्टे और सीधे दोनों पहलुओं पर उनकी दृष्टि पड़ती है एवं जिस ईश्वर-प्रदत्त लेखनी को हाथ में लेकर ही उनका जन्म हुआ था, उसकी रक्षा में उन्होंने अपने देखे हुए जीवन के विविध चित्रों को पाठकों के सामने जिस कौशल से रखा है उनकी यह दक्षता अतुलनीय है।

उनको लिखते हुए सत्तर साल हो गए लेकिन उनकी लेखनी में अभी भी कोई थकान नहीं दिखाई देती। कोई पुनरावृत्ति नहीं दिखाई देती, बल्कि दिनों-दिन उसमें निखार ही आता गया है। स्वच्छंद प्राणशक्ति के साथ आज भी उनकी लेखनी वैसे ही प्रवहमान है। उसकी धारा में आज भी क्रोध, कौतुक, विषाद, तिक्तता, विस्मय आदि उत्सर्जित होते चले जाते हैं। असाधारण शिल्प और गंभीर रसात्मक बोध की द्वैतशक्ति आज भी उनमें बनी हुई है।

सत्तर साल में दुनिया बहुत बदल गई है, समाज और परिवार बहुत बदल गए हैं, किंतु आशापूर्णा कहती हैं—''परिवेश, देश, काल, पात्र चाहे जितने भी बदल जाएं लेकिन भीतर से सभी मनुष्य एक-जैसे होते हैं। इस देश में भी उस महाभारत युग से लेकर आज तक मनुष्य का मूल रूप बदला नहीं है।'' आशापूर्णा की रचना- धर्मिता इसी 'मनुष्य के मूलतत्व' के प्रति समर्पित है। उनके लेखन में हमें जो मनुष्य दिखाई देता है वह अत्यंत साधारण और मध्यवर्गीय गृहस्थ नारी-पुरुष है, वह अत्यंत परिचित, और अत्यंत प्राणवान है। वह उन्मादग्रस्त अथवा विकारग्रस्त नहीं है, न तो बहुत मेधावी पंडित शिल्पी है, न तो संत-संन्यासी, न तो समाज-विरोधी है और न ही किसी टूटे-बिखरे समाज का रहनेवाला है। आशापूर्णा बहुत ही गहरे आत्मविश्वास के साथ कहती हैं—''मैं कभी भी अपनी देखी हुई दुनिया से बाहर कदम रखने की कोशिश नहीं करती।'' यही आशापूर्णा की विशिष्टता है। निहायत साधारण, आठों पहर सुस्थ, स्वाभाविक लोग जिनके कारण हमारा संसार बंधा हुआ है, आशापूर्णा की कहानियों

में वे ही मुखरित हैं। ठीक उसी तरह, जिस तरह कि एक-एक करके घोंसले का तिनका इकट्ठा किया जाता है—आशापूर्णा चरित्रों को जुटाकर एक समग्र स्केच बनाती हैं। वे कहती हैं—"मैं चरित्र को प्रमुख मानती हूं। इसके बाद चरित्र के परिप्रेक्ष्य में घटनाओं को संयोजित करने की चेष्टा करती हूं।" आशापूर्णा की कहानियों का प्राणतत्व है उनकी तीक्ष्ण अंतर्दृष्टि जो कि उनके धारदार शब्द-चयन में, मर्मभेदी विषय-निर्वाचन में और उदासीन और निरपेक्ष उपस्थापन के बीच मूर्त होता दिखाई देता है। मानव-जीवन की चरम निर्ममता को जिस प्रकार उन्होंने अपने गंभीर मानवताबोध और कठोर यथार्थबोध में आत्मसात कर चित्रित किया है, उसका कोई सानी नहीं है। कहानी में कथा बहुत ही सुडौल होती है, यद्यपि कथा से कहानी ही न गायब हो जाए। कई बार पाठक के अंतर्मन में दोनों के बीच एक रेस-सी चलती रहती है। स्वयं आशापूर्णा के अनुसार—"उपन्यास से मुझे बहुत प्रतिष्ठा मिली है, लेकिन कहानी से मुझे विशेष लगाव है। पता नहीं क्यों?... शायद इसलिए कि कहानी मेरी 'पहली मुहब्बत है', और आज भी मुझे कहानी लिखना बहुत अच्छा लगता है। ...मुझे ऐसा लगता है कि उपन्यास लिखना एक कार्य करने जैसा है और कहानी लिखना आनंद मनाने-जैसा। उसके लिए किसी प्रकार का उपक्रम नहीं करना पड़ता। स्वयं ही बनती जाती है।" इन्हीं स्वयं बनी कहानियों के बीच से बीस कहानियों को स्वयं लेखिका ने चुना है।

मनुष्य, जीवन के छोटे-छोटे क्षणों से अकस्मात एक विशाल चिरंतन प्रतिबद्धता अर्जित कर लेता है। आशापूर्णा अचानक एक झिलमिलाहट हटाकर, एक झरोखे का कपाट खोलकर हमें मानव-मन की दुनिया के एक विशाल महल का दर्शन कराती हैं। अचानक नग्न हुए परिचित चेहरेवाले एक अचीन्हे मनुष्य की नई मूर्त्ति के दर्शन कराती हैं। कभी संत की तरह महान, कभी आत्मकेंद्रित और अमानुषिक, कभी क्षुद्रता, नीचता और पाशविकता से परिपूर्ण, कभी अपरिमित उदासीन और निर्मम। कटोरे के बीचोंबीच सूरज के प्रतिबिंब की तरह, छोटे-छोटे आधारों पर निर्मित कहानी के भीतर ज्वलंत जीवनसत्य झलकता दिखाई देता है। कहानियों में आनंद लेते हुए भी आशापूर्णा खुद को निरासक्त, दर्शक अथवा कथक की भूमिका में मानती हैं, जब कि उपन्यासों में वे 'विद्रोहिणी' की भूमिका स्वीकार करती हैं। "निरंतर इस असमाप्य जीवन को देखती चल रही हूं एवं अपनी कहानियों में कहती भी चली आ रही हूं। वहां मेरी भूमिका प्रथम विद्रोहिणी की नहीं है। केवल निरासक्त दर्शक अथवा कथक मात्र की भूमिका है।" वे बारंबार कहती हैं कि 'कहानी मेरी पहली मुहब्बत है।' निःसंदेह कहानी ही उनका प्रिय हथियार है—जिसके भीतर आशापूर्णा की मेधा की तीव्रतम चमक एवं सर्वत्र एक वैचित्र्य-व्याप्ति दिखाई देती है एवं लेखिका की स्वकीय आभ्यांतर सत्ता भी हर जगह अभिव्यक्त हुई है। ट्रिलाजी की 'सत्यवती' में तो उन्होंने अपने व्यक्तित्व को स्वीकार किया है, किंतु उनकी कहानियों के विभिन्न चरित्रों के

बीच उनके जीवन की विचित्र प्रतिबद्धता पसरी पड़ी है, जो कि किसी भी लेखक के लेखन में स्वात्म कि उपस्थिति तो होती ही है, किंतु उसका चरित्रों के साथ एकात्म न हो पाने के कारण वे जीवंत नहीं हो पाते।

आशापूर्णा की कहानियों के चरित्र सामाजिक प्राणी हैं, समाज ही उनका अंतिम सत्य है। जो हृदय के भीतर घटित होता है, आशापूर्णा की कहानियों में अधिकांश जगहों पर दिखाई देता है कि व्यक्ति स्वेच्छा से समाज के लिए खुद को कुर्बान कर देता है। कहानी रचने की प्रक्रिया में कभी तो वे महानुभवता, कभी हार्दिक दैन्य और कभी आत्मसंयम की परीक्षा से होकर गुजरती हैं। किंतु जड़ों की तरफ गौर से देखने पर हम पाते हैं कि समाज पर अंतिम रूप से व्यक्ति ही विजयी नहीं है। हर बार वह व्यक्ति कहानियों में प्रकृतिजयी समाज से हारता-जीतता रहता है। 'जो घटित होता है मैं वही लिखती हूं'। आशापूर्णा कहती हैं कि 'उचित-अनुचित का न्याय करनेवाली मैं कौन हूं?'

आशापूर्णा की कहानियों में स्त्रियों को पुरुष-चरित्रों की अपेक्षा बहुत अधिक स्थान प्राप्त है। उन्हें अधिक पूर्णता प्राप्त है। नारी-दृष्टि से ही तो आशापूर्णा की देखी हुई दुनिया है। "'मैं' हीन क्या लिखा जा सकता है? संपूर्ण लेखन में ही तो अपना 'मैं' भीतर-भीतर क्रियाशील रहता है।" इसी के चलते आशापूर्णा की नारियां ने संपूर्ण हीनता के बावजूद, त्याग, तीव्र बुद्धिमत्ता, गंभीर बोधगम्यता और संयम से पुरुषों पर विजय प्राप्त की है। आशापूर्णा के पुरुष-पात्र दु:ख और सुख के बीच बहुत कम वर्णित हैं। वे पर्दे के पीछे ही हैं। एक तरह से स्थूल; निरीह, रोगग्रस्त और भीरु । वे शोषक और शोषित दोनों ही भूमिकाओं में दिखाई देते हैं।

चारदीवारी के भीतर कैद होने से क्या होता है, जीवन के संग्राम में आशापूर्णा की नारियां पुरुषों से बहुत आगे निकल जाती हैं। पितृसत्तात्मक समाज में आर्थिक, जनांतिक और बाहरी दुनिया पर संपूर्ण वर्चस्व हासिल किए हुए पुरुष को अपना अंतरंग बनाए बिना भी नारी का काम चल सकता है। किंतु भीतर यदि स्त्रीशक्ति अंतर्निहित हो, तब। आशापूर्णा की नारियों में उनकी बोध-बुद्धि ही प्रकृतिगत स्त्री-धन है। उनकी कहानियों में प्राय: साधारण स्त्रियों के भीतर एक अनन्य साधारण मनुष्यत्व झलकता दिखाई देता है। उनकी जिस कहानी में जितने ही अधिक नारी-पात्र होते हैं वह कहानी उतनी ही चमकदार होती है। हालांकि उन्होंने उसी प्रकार अविस्मरणीय पुरुष- चरित्रों का भी निर्माण किया है किंतु वे हमें कुछ विशिष्ट नहीं लगते।

आशापूर्णा का लेखन चिंतनपूर्ण, बौद्धिकतापूर्ण और खालिस भावावेगरहित होता है। और उसमें मीठे कौतुक हैं, जो कभी विशुद्ध रूप से मधुर होते हैं तो कभी तीखे, कसैले स्वाद से भरे विद्रूप। प्रधानत: नागरिक परिप्रेक्ष्य में ही उनकी कहानियां घटित होती हैं। दो एक कस्बे अथवा गांव भी कहीं-कहीं दिखाई दे जाते हैं, किंतु उनकी संख्या बहुत कम है। आशापूर्णा मन और प्राण दोनों से एक चेतना-संपन्न शिल्पी हैं।

—'शहरी मध्यवर्गीय मानस' कहते ही हमारे मन में पाश्चात्य शिक्षित और पाश्चात्य भावधारा से अनुप्राणित एक मन की परिकल्पना साकार हो उठती है, किंतु आशापूर्णा पूर्णतः इसकी अपवाद हैं। हमें उनके भीतर पाश्चात्य शिक्षा-निरपेक्ष होते हुए भी एक स्वच्छ, मुक्त, मार्जित और पूर्णतः एक बंगाली नागरिक मन दिखाई देता है। आधुनिक पश्चिमी भावना के साथ स्वदेशी संस्कृति का टकराव हमारे समाज को गढ़कर नित नया रूप प्रदान करता जा रहा है। आशापूर्णा की कहानियों में उसी का प्रतिबिंब हमें दिखाई देता है। उनकी ही भाषा में—"समाज कोई एक 'मृत' वस्तु नहीं है। 'जीवंत' में ही परिवर्तन होते हैं। ध्वंस और निर्माण तो निरंतर चलते ही रहते हैं। शायद नया कुछ दिखाई देते ही लोगों के मन में 'गजा-गजा' जैसा शोर गूंजने लगता है, फिर बाद में धीरे-धीरे वही उनके लिए सहनीय और ग्रहणीय हो जाता है। फिर कुछ-कुछ मूल्यबोध होता है जिससे संपूर्ण रूप से कुछ भी मानने को मन तैयार नहीं होता। किसी भी परिप्रेक्ष्य में नहीं।" आशापूर्णा की कहानियां उनकी इसी दृढ़ उक्ति की सदा जाग्रत उदाहरण हैं। पाश्चात्य शिक्षा और संस्कृति का उन्हें सुयोग तो नहीं मिला, किंतु उससे बंगला साहित्य का कोई नुकसान हुआ हो, ऐसा नहीं लगता। वे खुद भी ऐसा नहीं महसूस कर पातीं। "मैं समझती हूं, जितना मैंने पाया है उतनी ही मेरी क्षमता-सीमा है। बाहर कुछ भी उससे अधिक सुयोग या सुविधा नहीं दिखाई देती।"

बीसवीं शताब्दी के इस युग में कलकत्ता जैसी एक उर्वर सांस्कृतिक जमीन पर जीवन यापन करते हुए—जो कि शारीरिक रूप से चारदीवारी के बंधन में रहते हुए भी वे मन से इस बंधन को नहीं मानतीं—आशापूर्णा जैसा तीक्ष्ण धीमती कोई दूसरा शिल्पी दिखाई नहीं देता। उनका यथार्थबोध, कल्पनाशक्ति और सांसारिक ज्ञान कहीं भी खंडित होता नहीं दिखाई देता, प्रखर अंतर्दृष्टि कहीं भी भोथरी होती नहीं दिखाई देती, ईश्वरप्रदत्त शिल्पनैपुण्य सीमित होता नहीं दिखाई देता। घर के भीतर ही रहकर वे अपनी लेखनी और दृष्टि पर सान चढ़ाती हैं। इस विशाल पृथ्वी पर प्रतिबद्धताओं के विचित्र साम्राज्य में अपनी दृष्टि को सुरक्षित रखते हुए उन्होंने मानवता को गहन हृदय से जोड़ दिया है। इससे उनका प्रयोजन अनुभूतियों को अभिव्यक्ति देने का है, जिसके लिए उन्होंने अदृश्य हवा में एक एंटीना छोड़ रखा है जिससे वे दृश्य, शब्द, संवाद आदि ग्रहण करती हैं। आधुनिक बंगाली जीवन की समस्याओं पर लिखना ही उनकी समकालीन सजगता का ध्येय है। विषयवस्तु के अभिनव कलेवर को लेकर वे कभी उद्विग्न नहीं दिखाई देतीं। उनके चारों तरफ ही तो जीवन-समुद्र फैला पड़ा है, जिसमें उनकी तरंगें उठती हैं। पाश्चात्य शिक्षा का मतलब यह नहीं कि एक ही भाषा के अंतर्गत सब कुछ समेट लिया जाए , पाश्चात्य संस्कृति की जो तरंगें हमारे घर-संसार की चौखट के भीतर घुसती चली आ रही हैं, उनकी सजगता उसके प्रति है। मनुष्य का जीवन तो वैसे ही सतत विचित्रताओं से भरा पड़ा है। इस अशेष अभिनवत्व में उनकी कहानियों के लिए प्लाट की कमी नहीं है। आंख, मन और दोनों

कानों को खुला रखने की जरूरत भर है। ''मेरी वह दुनिया एकदम से चारदीवारी के भीतर कैद है, फिर भी इसके भीतर से ही मैं जीवन की असामान्य विचित्रताओं पर निरंतर दृष्टि रखती हूं। कैसे-कैसे विचित्र चरित्र हैं सब।''

शिल्पी आशापूर्णा सच्चे निदर्शन के मामले में बहुत ही निर्मम हैं। वे विश्व के किसी बहुप्रशंसित 'आदर्श' मानवता की स्थापना के बीच भावुकता को नहीं आने देतीं। हमारे समाज में और साहित्य में जो मां और पिता का आदर्श रूप स्थापित किया जा चुका है, आशापूर्णा की निर्मम खरी दृष्टि उस आदर्श रूप की भी चीर-फाड़ करके रख देती है। उनकी कहानियों में बार-बार मातृहृदय अहंकार और मानवी स्वार्थपरता के सामने हार मानता है। एक 'पत्नी, गृहस्वामिनी, मां' की दुनियावी लेखनी से एक के बाद एक इसी निष्ठुरता का चित्र बार-बार कहानियों में उभरता दिखाई देता है। विभिन्न विचित्र घरेलू परिस्थितियों में। कहीं प्रेमी के हाथों में अपने जेवर गहने रखकर पत्नी, पति और पुत्री को ठगने की कोशिश में खुद ही ठगी जाती है—और सब कुछ जानते-समझे हुए भी ऐसा अभिनय करना पड़ता है जैसे वह पुत्री को जानती ही न हो, कभी समाज में अपना माथा ऊंचा रखने के लिए बलात्कृता बेटी का पता चूल्हे में झोंक देती है, कभी सद्यः पुत्रहारा मां बहू के वैधव्य पर प्रसन्न होती है। जीवन के इन पक्षों पर हमारा ध्यान ही नहीं जाता, किंतु आशापूर्णा का निर्मम शिल्पी उस तरफ की भी खिड़की खोल देता है। 'भय' कहानी में जिस प्रकार अपनी सात संतानों के मर जाने के बाद निःसंतान वृद्धा मां 'साहेब डाक्टर' को दिखाना चाहती है—मृत्यु के भय से निर्लज्ज और नग्न रूप से प्रकृति से लड़ती है—''अब जीने की और इच्छा नहीं रही, किंतु मरते हुए बहुत डर लगता है।'' यह द्वंद्व एकांत रूप से सामाजिक मनुष्य और प्रकृति के बीच निरंतर चलता रहता है। जब अहंकारी सुहागिन पुत्रवधू विधवा होती है तब रसोई घर में निरामिष की तरह उसका ही प्रवेश होता है, जयावती के मन में पुत्र-शोक से ज्यादा प्रबल प्रतिशोध का उल्लास दिखाई देता है। 'छिन्नमस्ता' तीस-पैंतीस साल पहले की और बाद तक के लिए लिखी गई कहानी है। किंतु 'आयोजन' आज की कहानी है। 'छिन्नमस्ता' में एक पुरुष को लेकर दो महिलाओं की विषम प्रतिद्वंद्विता पुत्र की मृत्यु से समाप्त होती है, किंतु पुत्र-शोक से नहीं, यह एक निष्ठुर जयोल्लास की अस्फुट भयावहता है।

'आयोजन' में मातृस्नेह नहीं बल्कि पोते के प्रति दादा के स्नेह से उपजी एक आक्रांतता है। बंगाली समाज में ऐसी आवेगप्रवणता की कोई सीमा नहीं है। इस कहानी में ससुर और पुत्रवधू के बीच द्वंद्व है। द्वंद्व के केंद्र में है पोता। ससुर के मना करने पर भी अत्याधुनिका मां बच्चे को तैराकी सिखाने के लिए ले जाती है एवं दादा के भय को सच साबित करते हुए बच्चा ज्वर से पीड़ित हो जाता है। इस ज्वर के कारण दादा के अवचेतन मन में उसकी मृत्यु की गोपन कामना जन्म ले लेती है। यह तीव्र अहंतृप्ति की जटिल उत्तेजना है। बच्चे के स्वस्थ हो जाने पर दादा के मन में आनंद

के बदले एक अद्भुत पराजय बोध की अवसन्नता जन्म ले लेती है। न, सोमनाथ कोई दानव नहीं थे, एक अतिसाधारण अवकाश प्राप्त वृद्ध थे—दुनिया में उन्हें कोई और घमंड नहीं था। किंतु अहं के इस भयंकर चेहरे को दिखाने से भी आशापूर्णा तनिक नहीं हिचकतीं। वास्तव में आदमी कितना क्षुद्र, कितना नीच और कमजोर है। इस पुस्तक में तो वह नहीं है किंतु प्रसंगवश याद आती है 'स्थिर चित्त' कहानी। मृत पुत्र की क्षतिपूर्ति के पैसे को लेकर पुत्र के नाम से 'स्मृति मंदिर' बनाने का स्वप्न जिस समय साकार हो रहा होता है और चरम आनंद की अनुभूति हो रही होती है, मां के हाथ में एक पत्र पहुंचता है। 'स्मृति मंदिर' की प्रतिमा मरी नहीं बल्कि विकलांग होकर अभी भी जीवित है, अपना ठिकाना लिख भेजा है। पाठकों को यह समझने में देर नहीं लगती कि इस अवसर पर मां के हाथ में चिट्ठी आने का मतलब पुत्र के जीवित होने के सुसंवाद के अलावा और कुछ नहीं हो सकता। 'मातृत्व की महिमा' को ध्वंस करने की दक्षता आशापूर्णा के अलावा कम महिला कथाकारों में दिखाई देती है—यद्यपि उनके द्वारा रचित चरित्रों को देखने से लगता है कि वे प्रायः विवेक-निर्दिष्ट नैतिकता के बाहर समाज-निर्दिष्ट नैतिक बोध को ही मानते हुए चलती हैं। यह एक अद्भुत गूढ़ द्वंद्व है—आशापूर्णा के भीतर।

समाज और संस्कारों के लिए व्यक्ति अनायास ही अपनी इच्छा, विवेक और हृदय की आहुति दे देता है। बाहरी समाज को तुष्ट रखने के लिए कई बार पाप-पुण्य की आंतरिक सचाई को भी छोड़ देना पड़ता है। घूम-फिरकर आशापूर्णा की कहानियों में हम जिस तरह व्यक्ति की पराजय देखते हैं, उसी तरह वहां सामाजिक मनुष्य के भीतर व्यक्तिगत युक्तिहीन अहंबोध के समीप हृदयनिष्ठ नैतिकबोध की भी निःशब्द, संगोपन और भयावह निष्ठुरतापूर्वक पराजय देखते हैं (आयोजन, छिन्नमस्ता, कसाई, स्थिर चित्त) विभिन्न सामाजिक परिस्थितिगत दबावों में प्रायः मानसिक संपर्कों को भी भंग होते देखा गया है।

आशापूर्णा के विभिन्न रूपों में चित्रित नारी-पात्र स्मरणीय हैं। किंतु कई बार वे अपने आत्मविलाप के कारण 'महत्व' अर्जित करती दिखाई देती हैं। समाज के प्रति अपनी सत्ता को विसर्जित करके, समाज में आत्मप्रतिष्ठा प्राप्त करने को लालायित नायिकाएं खुद को बहुत सारे कष्ट देकर भी, भ्रष्ट आचरण करके भी, समाज को अपने हाल पर छोड़कर लक्ष्य तक पहुंचने की कोशिश करती हैं। (यहां 'कसाई' कहानी का स्मरण हो आता है—जो कि इस संग्रह में संकलित नहीं है। वह कहानी भी याद आती है, जिसमें कि पागल पति के आत्महत्या कर लेने पर आश्रिता बहन अपने पति का शव उस कोठेवाले कमरे में बंद करके पूरी रात उसकी रक्षा करती है, ताकि भतीजी के विवाह में किसी तरह का विघ्न न पड़ने पाए। अथवा जेल से लौटे पति को पुत्र की प्रतिष्ठा का ध्यान रखते हुए जो पत्नी नहीं पहचानती और इसके बाद वह एक-बड़े से तालाब में आत्महत्या करके पापमोचन करता है।) न, प्रवाहमयी प्रतिवादी नहीं

बल्कि प्रवाहमयी सत्यवादी है आशापूर्णा की निर्भीक लेखनी। जीवन में जो कुछ घटित होता दिखाई देता है, उसी की तस्वीर वे खींचती हैं। जिसके घटित होने से शुभ होता है अथवा जो घटना उचित है, उसका चित्र नहीं। आशापूर्णा स्वयं कहती हैं—"पहले जो मैं लिखती थी वह लगभग सारा का सारा आदर्श-प्रधान हुआ करता था अर्थात् यह कहा जा सकता है कि 'ऐसा होना उचित रहेगा'। मैं हमेशा लिखती हूं 'ऐसा हुआ'। 'ऐसा होना उचित रहेगा'—मैं कभी नहीं कहती।" आशापूर्णा 'क्या होता है' तक ही उद्घाटित करके नहीं रुक जातीं बल्कि अपने उपन्यासों में इससे और आगे एक प्रश्न उठाती हैं कि 'क्यों होता है'। "जो होता है मैं वही लिखती हूं। और फिर सोचने की चेष्टा करती हूं कि 'क्यों ऐसा होता है'। .... 'क्या होता है' वही लिखने लायक होता है। 'उचित' का निर्णय देनेवाली मैं कौन होती हूं।" इस प्रकार अपने शिल्प के बारे में ईमानदारीपूर्वक बखान कर देना आशापूर्णा को ही शोभा देता है। वे समाज और संस्कारों की दुहाई नहीं देतीं। नीतिकथा लिखने नहीं बैठ जातीं। जीवन के स्थिर चित्र खींचती हैं। "ये आदर्श मेरे लिए कभी बाधा नहीं बनते। मैं जो कुछ भी लिखती हूं वह सारा मध्यवर्गीय घरों के भीतर देखा हुआ होता है। बाहरी और भीतरी दोनों चेहरों के बीच आकाश-पाताल का अंतर है। प्राय: यही चीज मेरे लेखन का विषय होती है। मैं कैद गृहस्थिन महिलाओं के बारे में लिखती हूं।" आशापूर्णा के अनुसार —"साहित्यकार का काम होता है खुद को प्रकाशित करना। प्रतिकार की चिंता करना साहित्यकारों का काम नहीं है।" सत्य को प्रकाशित करने के भीतर ही उनकी समालोचना निहित है। प्रतिकार की चिंता तो पाठक को करनी है। आशापूर्णा की विषयवस्तु—"मिलन, विरह, प्रेम अथवा प्रेमभंग नहीं है, बल्कि तुच्छ दैनंदिन कार्यों के बंधन से मुक्त होने को व्याकुल एक आत्मा की यंत्रणा है। यही यंत्रणा नाना रूपों में आशापूर्णा के अकलुष कौशल में फूटती दिखाई देती है। अत्यंत धीमी गति से घरेलू दृश्यों के भीतर से जीवन की अत्यंत निष्ठुर शीतलता को पाठकों की अस्थिमज्जा तक पहुंचा देती है। कुछ पल के लिए तो जैसे चेतनाशून्य हो जाती है। आशापूर्णा एक अत्यंत सचेतन वाक्शिल्पी लेखिका हैं। प्रत्येक कामा, विराम और विस्मयबोधक चिह्नों का प्रयोग वे संतुलित ढंग से करती हैं। शब्द संयम में तो उनकी कोई तुलना ही नहीं है। उसी तरह विषयवस्तु के चयन के मामले में भी हैं। 'काल, उत्ताल, दुरंत, मुर्हुमुर्हु, परिवर्तनशील एवं संयम तथा अग्निगर्भ।' ... फिर छोटी-छोटी चिनगारियों के भीतर से कुछ न कुछ प्रकाश की चेष्टा तो है ही, इससे अधिक नहीं। "मैं अपने देखे हुए जगत से बाहर कदम रखने की कोशिश नहीं करती।"

चिनगारियों को पकड़ने के लिए आशापूर्णा के पास शब्दों का अपार भंडार है। अत्यंत सहज, प्रचलित और घरेलू शब्दों पर सान चढ़ाकर उनसे वे तीखे तीरों की तरह लक्ष्यभेद करती हैं। पाठक की बुद्धि और मन दोनों का एक साथ भेदन करने में उनकी कोई तुलना नहीं है। आशापूर्णा की नितांत साधारण विषयवस्तु उनकी नितांत सहज

भाषा की तरह एक छलनापूर्ण आवरण है जो कि उनके सच्चे दर्शन की शक्ति है। नग्न यथार्थबोध एवं तीव्र मेधा को आधे घूंघट की तरह आड़ बनाकर उसे रहस्य बनाए रखती हैं। भयावह अहंकार किस तरह मनुष्य को मानवीयता से काट देता है, अलग कर देता है, यह मां के स्नेह, दादा की शुभाकांक्षा आदि में, जिस प्रकार सामाजिक कर्त्तव्य में प्रबल हो सकता है उसे हम देखना चाहकर भी नहीं देख पाते। किंतु आशापूर्णा हमारी आंखों में उंगली डालकर उसे दिखा देती हैं। 'स्वर्ग का टिकट' कहानी में बड़ी चाची के धीरे-धीरे दुःखद समाचार सुनाने पर चमेली अपने शरीर में आग लगा लेती है। किसी और तरह से उसे खबर मिलती तो पता नहीं वह क्या करती? आशापूर्णा के लेखन में जिस प्रकार लड़कियों के भीतर चरम यंत्रणा सहन करने की क्षमता है, उसी तरह चरम अत्याचार करने की शक्ति भी है। 'रिहाई रद्द' एक अद्भुत कहानी है—जिसमें ससुराल के अत्याचार से बचने और ईश्वर के घर पहुंचने से लड़की को बचाने के लिए घर में काम करनेवाली लड़की अस्पताल से बच्चा चुराते हुए जेल चली जाती है। जेल से रिहा होकर वह देखती है कि गांव के ससुराल में जेल से लौटी लड़की के लिए अब कोई जगह नहीं रह गई है—जबकि उस जेल में उसका जाना सुफल होता है जिसके परिणाम का वे ही उपभोग करते हैं। छुट्टी पाकर जिस आनंद—पति, पुत्र की जिस ममता के आश्रय की उसने उम्मीद की थी, उसके उलट उसे सामाजिक कलंक का आतंक, घृणा और अस्वीकार मिला। किंतु कहानी यहीं समाप्त नहीं हो जाती—समाप्त होती है एक गंभीरतम मानवता के आश्वासन से, जहां नियम बनानेवाले समाज का आश्रय झूठा पड़ जाता है, किंतु फिर भी लड़की दुनिया में बंधनमुक्त नहीं हो पाती। जीवन समाप्त नहीं हो जाता। एक नवीन मित्रता के संकेत से, उसके नए रास्ते और नए अध्याय की शुरुआत होती है।

आशापूर्णा की कहानियों में एक व्यावसायिक दृष्टि है। नायिकाएं प्रायः छल-कपट के द्वारा दुनिया को शांति और सुरक्षा प्रदान करना चाहती हैं, नीलकंठ की तरह अप्रिय सत्य विषकूट को चुपचाप पी जाती हैं। 'कामिनी राय' की यही वेदना, जैसे आशापूर्णा के नारी चरित्रों के जीवन में, विकसित जीवन में भी और छल-कपट के स्वरूप में कोई अंतर नहीं है। अंतर सिर्फ इतना है कि यहां नारियां सोच-समझकर एक सचेतन सिद्धांत के तहत छल-कपट करती हैं। स्वार्थवश नहीं, परमार्थवश। समाज, परिवार को बचाए रखने के उद्देश्य से । आशापूर्णा की लेखनी से नारी का यह कपट कभी मधुर, कभी विषाक्त, कभी भयावह, और कभी दुःसाहसपूर्ण किंतु समाज-परिवार के प्रति सर्वदा उपकारी बनकर उभरता है। यद्यपि इसी तरह के एक छोटे उपकारी कपट के कारण नीरा को अपनी गुड़िया का घर नष्ट कर देना पड़ा था। आशापूर्णा की नारियां दो तरह से कपट करती हैं—एक, जहां दूसरे की भलाई के लिए दूसरे को प्रताड़ित करना पड़ता है। और जहां समाज का खजाना बचाए रखने की मंशा से खुद को ही प्रताड़ित करना पड़ता है। आशापूर्णा के यहां बालिका से लेकर वृद्धा तक

नारियां परमार्थी कपट में सिद्धहस्त हैं।

यद्यपि आशापूर्णा कहती हैं कि वे चरित्र पर विशेष ध्यान देती हैं, चरित्र पर आधारित रचना करती हैं, फलस्वरूप यह दिखाई देता है कि उनकी कहानियों में समाज की ही प्रमुख भूमिका होती है। समाज ही नायक होता है। यद्यपि देखने में प्राय: प्रधानता मनुष्य की होती है। अपनी अनेक विचित्र मनस्तात्विक गांठों में बंधा हुआ मनुष्य सामाजिक फंदों में असहाय बना रहता है। किंतु बीच-बीच में समाज डोरी खींचता रहता है। आशापूर्णा की कहानियों में नारी संस्कारमुक्त नहीं है। वे संस्कारों के आगे हार मान जाती हैं। किंतु अधिकांश क्षेत्रों में वे भीतर से संस्कार को नहीं स्वीकार कर पातीं। आशापूर्णा ने संस्कार के व्यर्थ अत्याचारों के खिलाफ विद्रोह का उदाहरण नहीं प्रस्तुत किया है, बल्कि उसके ध्वंस की तरफ इशारा किया है। (एक मृत्यु एवं और एक, पराजित हृदय, कार्बन कापी)। उनके चरित्र स्वतंत्र नहीं हैं, द्विधामुक्त भी नहीं हैं, वे जीवन-सागर के तट पर मुक्त विहार भी नहीं करते, समाज की जंजीरों में जकड़े हुए जीवन यापन करनेवाले हैं। स्वयं को भी आत्मीयजनों से अलग करके समाज, परिवार के सामने अपनी विजय-पताका फहराते हैं। जो उनका मन होता है, वह नहीं करते, बल्कि वे उसके विपरीत करते हैं। क्योंकि वे समाज चाहते हैं। अचल संस्कार एवं अहंबोध यही दो चीजें चरित्रों के खून में प्रवाहित होती रहती हैं—जिससे वे मुक्त होने की चेष्टा भी नहीं करते।

यही उनकी कमजोरी है—और वे अपनी इस कमजोरी के शिकार हैं। उनका विद्रोह समाज के खिलाफ नहीं बल्कि अपनी ही कामना, वासना, सपना, आकांक्षा के खिलाफ है। घटना के माध्यम से मनुष्य की चारित्रिक जटिलता उभर कर सामने आती है, और चरित्रों के माध्यम से समाज के अनुशासन का चाबुक लगने से उभरती हुई चीत्कार सुनाई देती है। निर्जन प्रवाहगृह में पुराने पति के साथ तीस वर्षीया डाइवोर्सी आधुनिका को रात्रिवास अचानक दु:साध्य हो उठता है (कार्बन कापी)। शोकार्त्त आधुनिक मां-बाप अत्याचार से पीड़ित अपनी संतान को गले नहीं लगा पाते (पराजित हृदय)। जिस तरह से बाइज्जत जेल से रिहा पत्नी को गांव में रहनेवाला पति त्याग देता है (रिहाई रद्द)। एक प्रौढ़ा भाभी वृथा लोक-लाज के चलते स्वेच्छापूर्वक अपने भोले-भाले देवर को घर से निकाल देती है और स्वयं भी नि:संग कष्टपूर्ण जीवन व्यतीत करने लगती है (एक मृत्यु एवं और एक)। और एक विधवा भाभी देवर के साथ चक्कर चलाकर समाज से मुंह छिपाती फिरती है (हत्यारा)। जमाई के मृत्युसंवाद को पाकर भी इस घटना से अनजान बने रहने का अभिनय करते हुए एक मां जवान बेटी को विवाह संध्या के अवसर पर उपहार देती है—किंतु समाजशासित पिता मां के इस कपट को सहन नहीं कर पाता (वंचक)। पोते के स्वास्थ्य को लेकर भयभीत रहनेवाले दादा के जीवन में एक ऐसा भी क्षण आता है जब उसके स्नेह से ज्यादा मूल्यवान उनका अहं हो जाता है (आयोजन)। क्षुब्ध,

अपमानित सास के लिए अपने इकलौते बेटे की जिंदगी से ज्यादा मूल्यवान हो जाता है बहू का वैधव्य (छिन्नमस्ता)। इन सब कठोर कहानियों के साथ तुलनीय बंगला साहित्य में बहुत कम कहानियां हैं।

यहां नवीन परिवेश में जन्मी नागरिक जीवन-यात्रा की भी कई कहानियां हैं (सब कुछ व्यवस्थित रखने के लिए , बेआबरू, स्वर्ग का टिकट, मकान का नाम शुभदृष्टि, घूर्णमान पृथ्वी, आयोजन, कार्बन कापी आदि)। आशापूर्णा की कहानियों में जिस प्रकार लफंगों की अपसंस्कृत भाषा बिना किसी रुकावट के स्वच्छंद रूप से प्रयुक्त हुई है, उसी प्रकार पाश्चात्य प्रभावयुक्त नवीन बंगाली साहबियाना भाषा भी बहुत सहज ढंग से प्रयुक्त हुई है। इनमें द्रवमयी (भय), जयावती (छिन्नमस्ता) आदि कम जीवंत नहीं हैं। 'जगन्नाथ की जमीन' कहानी में एक अलग ढंग से, प्रतीकात्मक बारीकी के साथ एक अद्‌भुत शिल्प का विकास होता दिखाई देता है।

इस पुस्तक में प्रमुख चरित्रों के गुणों में अद्‌भुत विचित्रता है। कहानियों के बीच का अनमेलपन इस संग्रह की मूल्यवत्ता को बढ़ा देता है। पैंतीस वर्ष के अंतराल में आशपूर्णा पचास वर्ष से भी अधिक समय को अपनी इस स्वनिर्वाचित बीस कहानियों के भीतर बांध सकने में सफल हुई हैं। 1991 बीतने तक आशापूर्णा डेढ़ हजार से भी अधिक कहानियां लिख चुकी हैं—लेकिन अब तक उनके मात्र छब्बीस कहानी संग्रह आए हैं—बाकी सब कहानियां छिट-पुट इधर-उधर असंकलित अवस्था में पड़ी हुई हैं। डेढ़ सौ से भी अधिक उपन्यास उन्होंने लिखे हैं। उन्हें उपन्यासों के लिए राज्य एवं राष्ट्रीय स्तर के श्रेष्ठ साहित्यिक पुरस्कार भी मिल चुके हैं, किंतु कहानी उनकी पहली और अहम मुहब्बत है।

पारंपरिक और तत्सम शब्द आशापूर्णा के शब्दकोश में नहीं हैं। उनका कोई भी चरित्र विशुद्ध रूप से निर्मित नहीं होता—कोई समाज के दबाव से निर्मित होता है (जैसे 'पराजित हृदय') अथवा कोई प्रकृति के दबाव से निर्मित होता है (जैसे 'द्रवमयी का मृत्युभय')। आशापूर्णा स्वयं स्वीकार करती हैं कि वे चरित्रों के आधार पर ही कहानी गढ़ती हैं। उनकी कहानियां घटनाप्रधान और परिवेशप्रधान न होकर चरित्रप्रधान होती हैं। इस प्रकार हम कहानियों का विश्लेषण करने बैठें तो इस संकलन की अधिकांश कहानियां चरित्रप्रधान हैं। किंतु कुछ कहानियों में चरित्र से ज्यादा घटनाप्रधान हो गई है। ये कहानियां समाज का नंगा चेहरा सिर्फ चरित्रों के माध्यम से ही नहीं बल्कि परिस्थितियों के माध्यम से भी (एक परिस्थिति में एक चरित्र किस प्रकार से ठीक-ठीक उद्‌घाटित हो सकता है) उपस्थित करती हैं। नए परिवेश के संक्रमण में उपजी लगभग सभी कहानियां परिस्थितिप्रधान हैं—इन कहानियों का उद्‌देश्य व्यक्ति-चरित्र नहीं बल्कि युगचरित्र को उद्‌घाटित करना है। आशापूर्णा की स्वस्थ और सुडौल कहानियां एकांत भाव से शहरी तथा भीतर और बाहर दोनों तरफ से आधुनिक हैं। जिस प्रकार उनमें प्रकृति नहीं है उसी प्रकार न तो अप्राकृतिक निचाटपन है और न

ही धर्म-विश्वासी छुआछूत। धर्म की चर्चा अगर कहीं आती है तो सिर्फ उसके प्रति एक विद्रूप हंसी की झलक-भर दिखाई देती है। हिंदुत्व की रूढ़ और निस्तेज दिशाओं की तरफ वे इशारा करती हैं। समाज में जिस प्रकार आचार-विचार की कठोरता से मानवता का नुकसान हो रहा है, और धर्म छल-कपट का पर्याय बन गया है, आशापूर्णा की लेखनी उसी स्वरूप को उद्‌घाटित करती है। यद्यपि आशापूर्णा व्यक्तिगत जीवन में निष्ठावान हिंदू विधवा की तरह कठोर व्रत पालन करती हैं—ठीक अपनी कहानियों की नारियों की तरह—समाज-निर्दिष्ट कानूनों के अनुसार। तर्क, बुद्धि और चिंतन के अनुसार उन्होंने जिस चारदीवारी को स्वीकार कर लिया है, अब उसके नियमों से बाहर निकलने का कोई रास्ता नहीं है। शिल्प के साथ जीवन का यह मेल, आचार के साथ मन का द्वंद्व, आशापूर्णा की नारियों में सदा से टकराता रहा है।

आशापूर्णा का बल ऊंची आवाज में बोले जानेवाले लंबे संवादों पर नहीं, बल्कि आहिस्ता से बोले जानेवाले छोटे संवादों पर होता है। इस मामले में इनकी कहानियों की तुलना में कोई दूसरा शक्तिशाली गद्य नहीं है। लेखिका ने यहां सन् 1954 से 1989 के बाद तक की प्रकाशित कहानियों में से बीस कहानियां चुनकर हमारे सामने रखी है। उनके चयन का आधार बहुत ही सुंदर है। सुना है, नेशनल बुक ट्रस्ट के अनुरोध पर उन्होंने यह चयन मात्र एक महीने के भीतर ही किया है। पैंतीस साल का एक लंबा समयांतराल पसरा पड़ा है इन कहानियों के भीतर। लेखिका की भाषा और थीम में जिस तरह का बदलाव उपस्थित है, वैसे ही पैंतीस साल के भीतर मध्यवर्गीय बंगाली समाज में भी बदलाव आता रहा है। अशिक्षित सास के सेनापतित्व में स्थूल अत्याचार के युग से लेकर (छिन्नमस्ता) हम सुशिक्षित पुत्रवधू के सेनापतित्व में होनेवाले सूक्ष्म अत्याचार के युग तक (घूर्णमान पृथ्वी) की यात्रा करते हैं। आशापूर्णा की लेखनी की सहानुभूति किसके साथ है? जो दलित है, जो अत्याचार से पीड़ित है अथवा वह मनुष्य जो पहिए के नीचे दबा हुआ है, उसके साथ है। कभी वह जवान बहू, कभी विधवा सास तो कभी नि:संग बूढ़े ससुर के साथ है। किंतु प्रत्यक्षत: वह किसी का पक्ष नहीं लेती। उसका काम है सिर्फ चित्र खींचना। पक्ष निर्धारित करना तो पाठकों के ऊपर है। आशापूर्णा की कहानियों में मध्यवर्गीय बंगाली का स्वप्न और इतिहास दोनों अभिव्यक्त हुए हैं, किंतु कोई स्लोगन अथवा पोस्टर नहीं है। जीवन की निष्ठुरतम किंतु सत्य वंचनाओं, लांछनाओं, विडंबनाओं की कथा को उन्होंने छोटी-छोटी नहरनी से खोद-खोदकर काल के प्रवाह में बहा दिया है। बड़ी कहानी को छोटा करके कहने में वे उस्ताद हैं, मनुष्य के जीवन में घटित होनेवाली बड़ी-बड़ी घटनाओं को छोटे से छोटा दिखाने में वे पूर्णत: सिद्धहस्त हैं।

—नवनीता देव सेन

सब कुछ व्यवस्थित रखने के लिए

प्रायः दोपहर ढलते ही बादलों-भरे आकाश की मटमैली रोशनी घर के भीतर संध्या उतार ले आती है। बूतान उसी खिड़की के पास बैठी स्लेट पर चित्र बनाती रहती है। स्लेट पर चित्र बनाना उसे बहुत अच्छा लगता है; क्योंकि पसंद न आने पर उसे आसानी से डस्टर से घिसकर साफ किया जा सकता है और नई रेखा खींची जा सकती है।

मां के कमरे में घुसते ही बूतान ने गौर से देखा और चौंकती हुई बोली—"मां! अभी-अभी ही तो तुम आफिस से आई हो, और फिर तुरंत ही बाहर जा रही हो?"

तनिमा बोली—"हां रे, डाक्टर के पास जाना है।"

"डाक्टर के पास? क्यों? किसकी तबीयत खराब है?"

"अरे बाबा, तबीयत किसी की नहीं खराब है। कई दिन से भयानक सिरदर्द बना हुआ है। एक बार आंख दिखाना पड़ेगा।"

"तुम्हारा एक चश्मा तो था न? सुंदर-सा नया चश्मा!"

"वही तो। वही तो सूट नहीं कर पा रहा। उसी संबंध में डाक्टर से बात करने जा रही हूं।"

"वाह रे! मैं सब समझ रही हूं। इसका मतलब मैं यहां अकेली पड़ी रहूंगी।"

"अकेली कैसे? मालती मौसी नहीं है?"

"वो तो बेहूदी है।"

"ऐ! चुप! खबरदार जो चिल्लाके ऐसी बात बोली तो। तुम मालती मौसी से दूध पी लेना। शरीफ बच्चों की तरह खाना खा लेना, समझी; ताकि मालती मौसी तुम्हारा नाम लेकर कोई शिकायत न कर सके...।"

मां के स्वर में दुलार का भाव उमड़ आया—"देखती हो, कैसे मेरे आते ही मालती मौसी तुम्हारी शिकायतें लेकर बैठ जाती है। कहेगी—'बिटिया ने दूध फेंक दिया। ... बिटिया अंडे नहीं खाती। पानी के गिलास में कोयला तोड़कर डाल दिया। ... बिटिया मेरी कोई भी बात नहीं मानती'... ।"

बिटिया आक्रोश के स्वर में बोली—"तुम उसे भगा क्यों नहीं देती?"

"ऐ! फिर? चुप! भगा दूंगी तो काम कौन करेगा। इतनी आसानी से कोई नौकरानी मिल जाती है क्या?"

साढ़े चार साल की अपनी बेटी की ज्ञान-संपदा पर आत्म-विभोर होती हुई तनिमा प्यार-भरे स्वर में बोली—"गुड गर्ल की तरह रहना। मालती मौसी को परेशान मत करना। दूध पी लेना। अच्छा, टा-टा।"

बूतान ने अनमने भाव से टा-टा करने के अंदाज में हाथ उठा लिया। देखने से ऐसा लग रहा था कि कह रही हो—'ना-ना'। फिर तुरंत चिल्लाकर बोल उठी—"कब

तक लौटोगी?"

"अरे बाबा, कैसे ठीक-ठीक बता दूं? बस नहीं मिलती, रास्ता जाम, डाक्टर के पास लोगों की भीड़, तीन घंटे बाद समझ लो..."

"ओ! समझ रही हूं। इसका मतलब कि देर से लौटोगी। ठीक है, मैं भी दूध नहीं पीऊंगी। मालती मौसी की बात नहीं मानूंगी।"

"बूतान! तुम दिन पर दिन बहुत शरारती होती जा रही हो। क्यों? तुम्हें नहीं मालूम कि ये सब परेशानियां आती ही हैं? तुम्हें लेकर बाहर नहीं जा सकती? देखती नहीं हो, हमारे पास कोई गाड़ी नहीं है?"

"हुंह। बाबू से एक बार कहो न! एक गाड़ी क्यों नहीं खरीद लेते।"

तनिमा आगे न बढ़ सकी। वह अपना सारा उत्साह समेटकर लौटते हुए भारी गले से बोली—"तुम्हीं अपने बाबू से बोलो न, बेटे! अच्छे ढंग से, प्यार से बोलना।"

"जैसे मेरे कहने से ही मान जाएंगे। बाबू भी तो वैसे ही हैं। मेरी क्लास की सारी लड़कियों के पिताजी लोगों के पास गाड़ियां हैं।"

मां रुककर बोली—"वे सब स्कूल बस से नहीं आतीं? गाड़ी से आती हैं क्या?"

"आहा-हा! तो क्या हुआ? जैसे उनके बाबू आफिस नहीं जाते क्या? लेकिन खाली समय में जब उनकी मांएं बाहर निकलती हैं तो उन्हें भी गाड़ी में ले के जाती हैं कि नहीं! वे जहां चाहती हैं घुमाती हैं कि नहीं?"

तनिमा एक लंबी सांस खींचते हुए बोली—"तुम्हारी मां के भाग्य में तो कुछ और ही है, बेटे। अच्छा मैं चलती हूं। बहुत देर हो गई है। तुम्हें जो बताया वह सब याद तो है न? एकदम गुड गर्ल बनकर..."

मां ने अपना ध्यान दूसरी तरफ किया।

"मालती, तुम इस तरह चुप-चुप क्यों बैठी हो? इसी समय रोटी-सोटी बना लेती।... तुम्हें तो पता ही है, रोज शाम ढलते ही लोड शेडिंग शुरू हो जाती है।"

मालती जिस तरह बैठी थी वैसे ही बैठी रही। हल्की सी अंगड़ाई लेती हुई बोली—"शाम को किचेन में घुसने को मन नहीं करता। लोड शेडिंग के बाद टी.वी. देखने को तो मिलता नहीं है। इतना पहले खाना बनाकर भी रख देने से कोई फायदा नहीं है। दो मोमबत्ती रख जाइएगा।"

"एक पैकेट मोमबत्ती चाय के बर्तन के पास रखी तो थी। और सुनो, देखो, इन्वर्टर काफी दिनों से खराब पड़ा है। बिजली चले जाने पर बिटिया के कमरे में लैंप जलाकर रख देना।"

"इसके लिए इतना कहना नहीं पड़ेगा। आप कब तक लौटेंगी?"

तनिमा के स्वर में अचानक कठोरता आ गई, वह बोली—"यह मैं तुम्हें ठीक-ठीक कैसे बता दूं। देरी होने पर बिटिया को खाना खिला देना।"

"खाएगी तब न वो लड़की! कभी मेरी कोई बात सुनती भी है?"

"अच्छा ठीक है। बच्चों को थोड़ा बहला-फुसलाकर वश में किया जाता है, मालती।...अगर कोई बेल बजाए तो तुरंत जाकर दरवाजा नहीं खोल देना। पहले बगल वाली खिड़की से झांककर देख लेना कि कौन है। फिर आदरपूर्वक बैठने को कहना, और कहना कि घर में तो कोई है नहीं। बहूजी अभी-अभी थोड़ी देर के लिए बाहर गई हैं और भाई साहब आफिस से आते ही होंगे।"

मालती टाइट फिट ब्लाउज और नाभिदर्शना साड़ी पहने एक बार फिर अंगड़ाई लेती हुई बोली—"यह बात तो आप रोज ही तोते की तरह रटा जाती हैं, बहू दी। बार-बार कहने की जरूरत क्या है?"

बहू दी का चेहरा काला पड़ गया। वैसे ही कड़े स्वर में बोली—"फिर भी बार-बार भूल जाने की गलती तो कर जाती हो। अच्छा, आकर ठीक से दरवाजा बंद कर जाओ।"

मालती एक आह भर कर खड़ी होती हुई बोली—"आप लोगों के घर में यही एक झंझट है। दरवाजा बंद करो, दरवाजा खोलो। फ्लैट वाले घरों के दरवाजे कैसे खींच देने से ही बंद हो जाते हैं। जब लोग लौटते हैं तो चाभी से खोलकर घुस आते हैं। नौकरों के लिए कोई झमेला ही नहीं रहता।"

"हुंह!"

तनिमा गुस्से में बड़-बड़ करती बाहर निकल गई। उसे गुस्सा आ रहा था अपनी उस शरारती बेटी पर, अपने पति के ऊपर और गांव में रहनेवाली अपनी सास के ऊपर। अजीब जिद्दी महिला हैं। बोलकर गई थीं कि गांव का घर-बार सब देख-भाल के अभाव में बर्बाद होता जा रहा है—और जाकर वहीं बैठ गईं (वो तो चली ही गईं, तनिमा के ऊपर तो सदा से भगवान की कृपा रही है। सिर पर पत्थर का जांता पड़ा रहता है।) कलकत्ते का यह मनहूस घर बेचने भी नहीं देतीं, अगर संभव हो भी तो जैसे-तैसे बने इस एकतला घर का—यद्यपि रास्ते के किनारे है, अगल-बगल बहुत सारी जमीन है, फिर भी—क्या ठीक-ठीक दाम मिल सकेगा? ... तो नहीं, बेटे के पास आकर रोती हैं—"तुम्हारे पिता की इच्छा थी कि इस घर को दोमंजिला बनवाते। उन्होंने मरने से पहले कहा था कि 'अब तो अलक चाहे तभी संभव हो सकेगा।' अगर तुम ऐसा नहीं कर पाओ तो जब तक मैं जिंदा हूं तब तक इसे बेचने-खरीदने की कोई बात मत करना। मेरे मर जाने के बाद जो तुम्हें अच्छा लगे करना। ..."

... जैसे वे अभी-अभी मरनेवाली हों। फौलाद का-सा बदन। और ऊपर से मातृभक्त पुत्र की तो बात ही क्या करनी। ...इस बारे में उन्हें सोचना ही क्या है? अगर कभी मैं इस मामले में बात उठाती भी हूं तो उनकी आंखों और चेहरे के भाव से ऐसा लगता है जैसे उनकी मां की हत्या का षड्यंत्र रच रही होऊं। उनको कोई उपाय भी नहीं सूझता। "नहीं, अगर कभी मां बीमार होकर कलकत्ते आकर रहना चाहे

तो? इस घर को बेचकर फ्लैट खरीदकर वहां चले जाने के बाद मां को कहां रखेंगे?" जैसे फ्लैट वाले घर में उनका प्रवेश वर्जित हो। ...

दरअसल बूढ़े-बूढ़ी लोगों का स्वभाव ही कुछ ऐसा होता है कि कोई न कोई सेंटीमेंट खड़ा करके सामनेवाले का हाथ-पांव बांध देते हैं। जैसे उनके जिम्मे और कोई काम ही न हो। उनके मन का स्तर एक जटिल तत्व होता है। अपनी क्षमता का पूरा प्रयोग करते हैं। और यही कारण है कि वे कष्टदायी सिद्ध होते हैं।

यह घर बेचकर एक सुंदर-सा फ्लैट खरीदा जा सकता है। और बैंक में भी कुछ पैसे जमा हैं, उसमें से कुछ लेकर एक सेकेंड हैंड कार के बारे में भी सोचा जा सकता है।

धत् ! कुछ नहीं हो सकता।

ओ ! कितनी देर हो गई।

शायद अलक पहले ही पहुंच जाएगा। दो मिनट पहले भी पहुंचेगा तो बोलेगा कि एक घंटे से खड़ा हूं।

मुक्तांगन में एक नया नाटक आया है। बड़ी दीदी काफी तारीफ कर रही थीं उस दिन, वही देखने का प्रोग्राम है आज।

लेकिन तनिमा की इच्छा पूरी होना क्या इतना आसान है?

पति की खुशामद, घर में छल-कपट, क्या-क्या करना पड़ता है उसे। और वह जो एक बेटी है, कहीं भी बाहर निकलते देखती है तो जैसे जान छोड़कर चिल्लाने लगती है। "डाक्टर के पास जाना है", "मझली मौसी की तबीयत खराब है" इस तरह के बहाने बनाने पड़ते हैं, तब कहीं जाकर रिहाई मिलती है। अगर उसे पता चल जाता है कि मैं सिनेमा, थियेटर जा रही हूं तो वह साढ़े चार साल की बेटी हां-हां करके रोना शुरू कर देती है।

और उसका बाप भी वैसा ही है।

बोलेगा, रात दिन टी.वी. पर सिनेमा, नाटक, नाच, गान—सब कुछ देखती ही रहती हो। हिंदी, बंगला, अंग्रेजी सब कुछ तो आता है। फिर भाग-दौड़ करके इतनी दूर जाने का क्या प्रयोजन है।

मुझे घर भी बसाना था तो इसी आदमी के साथ।

फिर, उस दिन कहने लगा था—"क्यों अभी उसी दिन तो तुम्हारी बड़ी दीदी जमाई बाबू के साथ मिलने आई थीं? रात-दिन फोन पर बात तो होती ही रहती है। फिर यह गुस्सा किस बात का?" मैं कोई आलतू-फालतू विधवा हूं जो हर समय दूसरे ही मुझे देखने आते रहेंगे? जब मैंने उनका मिजाज देखकर कहा था, तब कहीं जाकर जल्दी-जल्दी टिकट खरीदकर लाए थे। ...इसमें क्या निश्चित कहा जा सकनेवाला कोई सुख है? यह जो मैं जा रही हूं—घर लौटकर बेटी से झूठ बोलना पड़ेगा कि 'बस खराब हो गई थी या कोई मिल गया था। नहीं तो, डाक्टर के चैंबर में ही तीन घंटे

बैठना पड़ा था।' और साथ-साथ वह पाजी भी बोलेगी कि 'बहू रानी, जहां जाती हो बेटी को भी साथ लेती जाया करो। उसको मैनेज करना इस मालती मंडल का काम नहीं है।'

'काम नहीं है।' जैसे हंसी-दिल्लगी है क्या? जैसे ढाई लोगों को खाना बनाने के लिए ही तुम्हें ढाई सौ रुपए महीना, चारों टाइम का रामराजी भोजन, साज-सिंगार, ऐशो-आराम और टी.वी. आदि देखने की सुविधाएं दे रखी हैं क्या? और फिर उसके ऊपर से पानी लग जाने से उनके हाथ में घाव हो जाता है। कहती हैं—''बर्तन और कपड़े धोने के लिए किसी और को रख लो। दूसरे घरों में देखती नहीं हैं। एक ही आदमी जूता सिलाई करने से लेकर चंडी-पाठ तक सब करेगा?'' ...हां हाथ में घाव हो जाने के बाद भी खाने में अवश्य हमेशा हाथ रहता है। जैसे काम न करती हों, मेरे ऊपर एहसान करती हों।

चलो यह तो अच्छा हुआ कि तुरंत ही मिनी बस मिल गई। फिर भी तनिमा बस में बैठी-बैठी अपने भाग्य को निरंतर कोस रही थी और उसके भीतर आग-सी बढ़ती जा रही थी। और बार-बार कलाई पलटकर टाइम देखती जा रही थी।

ठीक तभी। शक हुआ नहीं कि बिजली फुक्क से चली गई। बूतान चिल्लाकर रोने लगी—''ऐ मालती मौसी, जल्दी से बत्ती ले आओ। ... आ, देर क्यों कर रही हो, मालती मौसी ...''

मालती जल्दी-जल्दी ढूंढ़कर मिट्टी तेल का लैंप जलाकर, सावधानीपूर्वक हाथ में पकड़कर ले आती हुई बोली—''बाबा रे बाबा! उड़कर आ जाऊंगी क्या? इसीलिए तो तुम्हारी मां से कहती हूं कि जिस दिन आपका इन्वर्टर ठीक न हो उस दिन शाम को बाहर निकलने से पहले ही मिट्टी तेल का लैंप जलाकर रख जाया करें। ... तो कहती है कि 'मिट्टी का तेल इतना सस्ता है क्या?' और इधर बेटी है कि छोटी-छोटी बात पर रोती है।''

''क्या? तूने मुझे छोटी-छोटी बात पर रोनेवाली कहा? जब तुम छोटी थी, घर में कोई नहीं होता था और बत्ती गुल हो जाती थी तो क्या तुमको डर नहीं लगता था?''

मालती सावधानीपूर्वक लैंप टेबल पर रखती हुई बोली—''हः। ऐसा कभी होता ही नहीं था कि मेरे घर में कोई न होता हो। हमेशा ही घर में किच-किच मची रहती थी। ...मां-बाप, बुआ, दादा और हम पांच भाई-बहन। एक सिर्फ दादी की कमी थी।''

''पांच भाई-बहन! क्या :।''

''हां, पांच ही तो। दो भाई, तीन बहन।''

''ओ ! अपना तो खूब मजा रहता होगा न? तभी तो तुम मुझे छोटी-छोटी बात पर रोनेवाली कहती हो। मां को आने दो तो कहूंगी।''

''कह दोगी तो कह दो। तेरी मां मुझे फांसी पर चढ़ा देगी क्या?''

"ऐ ! तुम नौकरानी होकर मुझे 'तू' कहकर बुलाएगी? 'तुम' कहकर नहीं बुला सकती क्या? देखो, मां से कह दूंगी तो वो तुम्हें काम पर से भगा देगी।"

मालती अपने स्वभाव के अनुसार बदन मचकाती हुई बोली—"ओ मां! इतनी छोटी लड़की और धमकी इतनी बड़ी! भगा देगी तो भगा दे। जैसे मुझे कोई काम ही नहीं मिलेगा। वो फ्लैट वाले लोग तो मुझको कब से बुला रहे हैं।"—और झटककर बाहर आकर खड़ी हो गई।

साथ ही साथ बूतान चिल्लाकर रोने लगी—"आ :। मालती मौसी, जाना नहीं, बता देती हूं, हां। इस रोशनी में मुझे बहुत डर लग रहा है।"

"तो मैं क्या करूं? मैं यहीं बैठी रहूंगी तो काम चलेगा? और कोई काम नहीं है? तुम्हारी मां तो आते ही पैंतरे बदलने लगेगी—'ये नहीं हुआ, वो नहीं हुआ। क्यों नहीं हुआ?' "

वह चली गई।

और बूतान भी पीछे-पीछे रसोई घर में चली आई।

"मालती मौसी, मैं पानी पीऊंगी।"

मालती झनककर बोली—"तो यहां क्या है? तुम्हारे कमरे में बोतल में पानी नहीं है?"

"नहीं, मैं यहीं पीऊंगी। फ्रीज का पानी।"

"नहीं, अब नहीं। मां जैसे ही आएगी, बोलोगी—'मां, मालती मौसी ने मुझे फ्रीज का पानी दिया था पीने को।' मैं तुम्हें जानती नहीं हूं क्या?"

जानने से भी क्या होता है। इस समय तो बूतान को यहीं रहना है—एक आदमी के सान्निध्य में। और इस सान्निध्य में बने रहने के लिए जरूरी है कि कुछ न कुछ बातचीत करती रहे। ... इस बातचीत के बीच बहुत समझाने का प्रदर्शन ही किया जाए , यह तो कोई जरूरी नहीं है...।

इसीलिए बूतान मालती के और समीप आकर खड़ी होती हुई बोली—"मालती इस समय क्या-क्या कर रही है, मां को तो पता होगा नहीं। मुझे फ्रीज का पानी दो। मैं बिल्कुल नहीं कहूंगी।"

मालती चौकी-बेलन परे सरकाकर मुस्कराती हुई बोली—"कहोगी नहीं। मां को सुना-सुनाकर खांसोगी और बोलोगी कि 'ठंडा पानी पी लिया था तो खांसी तो होगी ही न?' बिच्छू कहीं की। मैं जानती नहीं हूं क्या?"

बूतान आक्रोश में बोली—"मालती मौसी! तुम मुझे गाली दे रही हो?"

मालती पानी का घूंट भरते हुए बोली--"लो कर लो बात। गाली किस बात की। वो तो मैं मजाक कर रही हूं!"

"मजाक! अहाहा!"

बूतान के चेहरे पर एक देव-दुर्लभ हंसी फूट आई—"मुझे जैसे मूर्ख समझ रखा

है। ...''

''अच्छा-अच्छा। अब तुम यहां बक-बक करना बंद करो तो। पढ़ाई-लिखाई नहीं करना है क्या?''

''पढ़ाई-लिखाई! उस सुनसान कमरे में! उस कबाड़खाने की चिमनी की रोशनी में? आधी छाया-आधी रोशनी!''

''यहां भी तो मोमबत्ती की रोशनी में चारों ओर अंधेरा-सा ही लग रहा है। लेकिन यह है कि यहां एक आदमी का साथ तो है।''

''मालती मौसी! मैं रोटी बेलूंगी। दो...''

''ओफ्फो! बिटिया! काम के समय में परेशान मत करो ना। एक तो लोड शेडिंग के कारण मर रही हूं। पढ़ाई-लिखाई नहीं करना है? सुबह होते ही स्कूल भागना होगा।''

''क्या कल स्कूल जाना होगा? कल रविवार नहीं है? बुद्धू! पागल नहीं तो। लाओ बेलन दो मुझे।''

''ओह! बोला न, काम के समय में परेशान मत किया करो, बिटिया! बहू दी भी इस लड़की को मेरे ही सर पर बिठाकर रोज शाम को बाहर निकल जाती हैं।''

''क्या?''

बूतान फिर कमर पर हाथ रखकर लड़ाई के अंदाज में तनकर खड़ी हो गई, बोली—''तुमने फिर मेरी मां की शिकायत की। मां नहीं होती है तभी तुम उसका नाम लेकर उसकी शिकायत करती हो। आने दो उसको, बताती हूं, तब तुम्हें मजा चखाती है। तब देखना तुम्हारा क्या करती है।''

''देखना! कौन किसको मजा चखाता है। तुम्हारी मां क्या कर लेगी मेरा? गला काट देगी? अच्छा अब यहां से जाओगी भी? काम करने दोगी कि नहीं? वो तो, तुम्हारा कमरा यहां से दिखाई दे रहा है। वहां बैठकर इधर ही रसोई घर की तरफ देखती रहना। वहां अच्छी रोशनी है।''

''ओह! तुम मुझे भगाना चाहती हो।''

बूतान खट-खट करती बाहर निकल गई। इतने अपमान के बाद अब और नहीं रहा गया उसे। आंखों से बाहर छलक आए आंसुओं को फ्राक के कोने से पोंछती हुई दरवाजे के बाहर निकलनेवाली रोशनी की धार में आकर खड़ी हो गई।

जैसे ही पढ़ाई-लिखाई की कोई बात चलती है रोएं गिरा लेती है।

फिर स्लेट-पेंसिल लेकर बैठ गई, लेकिन पता नहीं क्यों वह कुछ बना नहीं रही है उस पर। उसके मन में रह-रहकर अनेक विचार उभरते। बत्ती की लौ कांप क्यों रही है? ...खिड़कियों के पर्दे हिल-हिलकर परछाइयां क्यों बिखरा रहे हैं? कहीं से ये सब आवाजें क्यों आ रही हैं? ...सड़क पर तेज गति से चली जा रही गाड़ियों की आवाज इतनी चुभ क्यों रही है? ...क्या अंधेरे में शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं?

...इस समय रसोई घर से आ रही कलछी की आवाज इतनी प्रिय क्यों लग रही है—कटे पर मरहम की तरह।

उस कलछी की आवाज के पास जाने के अलावा और कोई चारा है?

"मालती मौसी, अभी तक बिजली क्यों नहीं आ रही है?"

"यही बात बिजली विभागवालों से जाकर पूछो न! कलमुंही बिजली के कारण तो एक दिन भी ठीक से टी.वी. देखने को नहीं मिलता।"

"तुम तो खाली टी.वी. को लेकर ही रोती रहती हो। मां कब आएगी?"

"पता नहीं। मुझे बताकर थोड़े गई है। जब थियेटर छूटेगा तभी तो आएगी।"

"क्या? थियेटर से क्या मतलब है?"

"फिर मतलब पूछ रही है। मां थियेटर देखने गई है, जैसे तुम्हें पता नहीं है।"

"कत्तई नहीं। झूठ। मां तो चश्मावाले डाक्टर के पास आंख दिखाने गई है।"

"तुमको तो फुसलाने के लिए यह बहाना बनाकर गई है, समझी?" मालती के चेहरे पर एक पैशाचिक हंसी फूट पड़ी। —"इस घर का काम तो हो ही जाएगा, फिर परवाह किस बात की। अच्छा तुम्हीं बताओ, अगर डाक्टर के पास गई है तो अब तक तुम्हारे बाबू क्यों नहीं आए? मां यहां से गई है और बाबू आफिस से वहां पहुंचेंगे। दोनों थियेटर में मिलेंगे। देखना, एक साथ लौटते हैं कि नहीं।"

"तुमसे बताया है?" बूतान की आंखों में ज्वाला उभर आई।

मालती के मन में तो एक पैशाचिक आनंद की अनुभूति हो रही थी—"मुझे कभी कोई कुछ बताकर जाता है क्या? दोनों लोग आपस में अंग्रेजी में पता नहीं क्या बात करते हैं, कुछ समझ में भी आता है क्या?"

"तुम झूठी हो। मैं तुम्हें मार दूंगी।"

"मारो। मारो न, जितना भी चाहो मार लो।"

"मालती मौसी। मुझे रोटी खिला दो न! इतनी देर हो गई, अभी तक तुमने मुझे खाने को नहीं दिया, क्यों?"

निश्चय ही रोटी खाने की यह बात रसोई घर में रुके रहने का एक सम्मानजनक बहाना होगा।

मालती बोली—"बाबा रे बाबा। राक्षस के मुंह से राम-नाम? तुम्हीं तो जब तक मां नहीं आ जाती, खाना नहीं खाती। इधर आ जाओ। दे रही हूं।"

थियेटर हॉल से बाहर निकलकर तनिमा ने अलक से कहा—"देखा? मैं कह रही थी न कि बड़ी दीदी बता रही थीं कि नाटक बहुत अच्छा है?"

अलक ने कहा—"वो तो मैंने देखा। लेकिन अब घर चलकर जो नाटक होने वाला है वह कितना भयानक होगा, उसी के बारे में सोच रहा हूं। संभव है, जब तक हम पहुंचें तब तक तुम्हारी मालती और बूतान के बीच किसी बात को लेकर कोई युद्ध छिड़ चुका हो।"

"बिना मतलब क्यों डरा रहे हो। कितनी मुश्किल से तो तैयार होकर आई थी। ऐ! एक टैक्सी ले लो न!"

"टैक्सी! बस नहीं मिलेगी क्या?"

"लोगों के बीच में धक्का-मुक्की करते हुए बस में चलने की अब हिम्मत नहीं रह गई है। डरो नहीं, मैं तुम्हारी जेब नहीं काटने जा रही। आज तुम्हें मैं ही गाड़ी पर ले चलूंगी।"

"देखता हूं। टैक्सी मिलती भी है कि नहीं। इस समय..."

"वही तो। अभी से जम्हाई लेना शुरू कर दिया। सचमुच तुम इतने आलसी हो। जीजाजी को नहीं देखते, इस उम्र में भी कितनी एनर्जी है उनमें!"

"जेब में जब एनर्जी का माल भरा हो न, तो हर आदमी एनर्जीदार हो जाता है।"

"उसे तिनके-तिनके करके बड़ी मेहनत से संचित करना पड़ता है, महाशय। आपने तो आफिस और घर के अलावा और कुछ जाना ही नहीं—वो, वो देखो..."

"ऐ टैक्सी!"

तनिमा संभलकर बैठती हुई बोली—"पता है, तुम्हारी बेटी तुम्हें बहुत कोसती रहती है।"

अलक बोला—"यह तो स्वाभाविक है। बच्चों में नकल की प्रवृत्ति तो होती ही है।"

"आहाहा! इश्श! जैसे तुम इस लायक हो ही नहीं।"

इस प्रकार नाटक देखकर तुरंत बाहर निकले दो व्यक्ति पास-पास बैठकर बातचीत करते हुए रास्ते का आनंद ले रहे थे। उनके मिजाज का पारा इस समय बहुत नीचे था।

"जानते हो, क्या कह रही थी? कह रही थी कि—उसके क्लास में सभी लड़कियों के पापा के पास गाड़ियां हैं, एक मेरे पापा ही गाड़ी खरीदना नहीं चाहते।"

अलक हल्की-सी हंसी हंसते हुए बोला—"बस इतना ही? इसके बाद और क्या-क्या चाहिए होगा उसे?"

"ओह! वह तो बेचारी बच्ची है। जो देखेगी तो उसका मन होगा ही न?"

"यह तो अबालवृद्धवनिता सबको होता है।"

तनिमा अलक के शरीर को धक्का लगाते हुए बोली—"दुश्मन कहीं के। फिर भी सच्चाई तो यह है कि पिताजी की गाड़ी होने से जैसे स्वर्ग का टिकट हाथ में होता है। अब यही देखो न, अगर गाड़ी होती तो बूतान को भी साथ ले आते कि नहीं। उसे घर में अकेले तो छोड़कर नहीं आना पड़ता न?"

"बूतान को? नाटक देखने के लिए?"

"ओफ्फो! वो बेचारी क्या नाटक समझेगी? मां-पिताजी के साथ रहेगी, यही

उसके लिए सबसे बड़ा मनोरंजन होगा। और जरा सच-सच बताना तो, क्या उसे मालती के पास अकेले छोड़कर आना चाहिए! वो तुम्हारे बारे में क्या बोलती होगी, हमें समझ में नहीं आता? बूतान के साथ जो गुस्सा करती है और चिक-चिक करती रहती है। हर रोज जो बूतान से उसके बारे में सुनने को मिलता है, मेरा तो माथा जल उठता है। किंतु ज्यादा बात बढ़ाने से कोई फायदा नहीं। वो उसी समय ठुमककर बोलेगी—'नहीं अच्छा लग रहा है तो मेरी छुट्टी कर दीजिए।' फिर भी मन का गुस्सा दबाकर दांत निपोर कर हंसने का अभिनय करना पड़ता है। 'तुम्हारा दिमाग इस तरह फौजी कैसे हो गया है रे। पिछले जन्म में जैसे थी। यही सब बोलती रहती है।' दूसरा उपाय भी क्या है? इतनी आसानी से नौकर भी तो नहीं मिल जाते। इन सबके बावजूद उसमें एक खूबी यह है कि चोरी-चिकारी नहीं करती। यही एक गुण है इसमें।

"इतना भी कम नहीं है।" मालती का प्रसंग खत्म होते ही अलक ने कहा—"सोच रहा हूं, इस शनिवार को श्याम नगर से हो आऊं।"

हां, आजकल अलक इसी तरह की भाषा में बोलता है। पहले शुरू-शुरू में तो बोलता था—"इस शनिवार को मां के यहां जाऊंगा...सोच रहा हूं।" एक दिन बड़ी साली के सामने बहुत अपमानित हुआ था। साली ने कहा था—"तुम्हारे पति तो बहुत घर-घुसरे हैं बाबा। सात जनम में कभी बाहर निकलें तो निकलें। मानती हूं कि तुम दोनों नौकरी करते हो। लेकिन रविवार को क्या करते हो? सोए-सोए बिता देते हो क्या?"

साथ में तनिमा भी बोल पड़ी थी—"अब और मत कहो बड़ी दीदी। शनिवार आ रहा है न, यह दूध पीता बच्चा बोलेगा कि 'मां के पास जाऊंगा'—और जिद पर अड़ जाएगा। बस, रविवार खतम।"

उसी दिन से अलक की भाषा बदल गई है।

"श्याम नगर से घूम आना चाहिए।"

तनिमा चकित होकर बोली—"क्यों, वहां कोई बीमार-विमार है क्या?"

"कोई समाचार ही कहां मिल पा रहा है। कोई चिट्ठी-पत्री तो आती नहीं।"

"क्यों? वो तुम्हारे श्याम नगर वाले डेली पैसेंजर, परेश बाबू?"

"उनको तो छः महीने हो गए रिटायर हुए।"

"ओ। तभी तो मैं कहूं।"

तनिमा थोड़ी देर चुप रही, फिर बोली—"मेरी भी तो एक बार वहां जाने की इच्छा थी ही। बूतान को भी कितने दिन हो गए दादी मां से मिले।"

अलक को बहुत आश्चर्य हुआ। यह क्या—शैतान के मुंह से राम-नाम? कहीं कोई सोची-समझी चाल तो नहीं। या कुछ और? फिर भी धीरे-से बोला—"तुम लोगों को देखकर मां बहुत खुश होगी।"

कहीं तनिमा के भीतर कुछ और तो नहीं पल रहा है? अपनी असुविधाओं का

रोना रोकर कहीं उस बूढ़ी और सीधी-सादी महिला को अपने जाल मे फंसाने में कामयाब हो गई और उसे घर बेचने पर राजी कर ले गई तो? अलक क्या कर सकेगा? तनिमा के मन में यह नेक विचार तो बहुत पहले से ही पल रहा है।

तभी जाने क्या सोचकर वह बोली —"अच्छा, रविवार को सुबह चलकर शाम तक वापस आ जाएं—ऐसी कोई गाड़ी नहीं है? बस से भी तो जाया जा सकता है न?"

अलक अचानक गंभीर हो गया, सुबह जाकर शाम तक वापस? इस तरह जाने का मतलब ही क्या हुआ फिर? मां से तो बातचीत ठीक से हो ही नहीं पाएगी। वह तो पूरे समय हम लोगों के खाने-पीने के इंतजाम में ही लगी रह जाएगी। बात करने का तो समय ही नहीं मिल पाएगा उसको। मैं अकेले भी जाऊंगा तो भी वह व्यस्त ही रहेगी। जो भी बात हो सकती है वह तो शनिवार की रात को ही हो सकती है।

इतनी व्यस्तता भी क्या है? हमारा और कोई परिवार तो है नहीं। अलक के मुंह से यह बात निकलने ही वाली थी कि उसने रोक लिया—'यह बात किसे समझाई जाय?'

"लेकिन रात को रुकने में भी तो प्राबलम है। तब तक के लिए यहां मालती के ऊपर घर को छोड़कर जाना पड़ेगा।"

अलक ने बात स्वीकार की, बोला—"हां, वो तो है ही। डर तो लगा ही रहता है।"

"डर?" तनिमा ने एक तीखा व्यंग्य किया—"उस लड़की का डर? लड़की तो डरने लायक है ही। हजार शरारती लड़कियों में एक।"

"तो फिर क्या? तुम तो कहती थी कि बहुत विश्वसनीय है।"

"वो तो ठीक है, लेकिन जो पक्का चोर होता है उसे खांसी तक नहीं आती।" तनिमा ने धीमी आवाज में दूसरी आशंकाएं और अविश्वास व्यक्त किया—"मान लो, सुनसान घर पाकर वह यह समझे कि अच्छा सुयोग है और अपने चाहनेवालों को घर में घुसा दे। इसकी क्या गारंटी।"

"हुंह। क्या बोल रही हो।"

"उफ! जैसे लगता है इस धरती पर एक यही साध्वी बची हुई है। इसके जैसा कोई और है ही नहीं।"

अलक गंभीर होकर बोला—"लेकिन इतनी जल्दी—एक-दो घंटे में अपने परिचितों को बुलाकर घर में घुसा लेना संभव है क्या?"

तनिमा थोड़ा-सा झुंझलाते हुए बोली—"ऐ महाशय, जो आप सोच रहे हैं न, वैसा नहीं है। घर में कोई तो एक है न? बिटिया को घर में रख आने से ऐसा नहीं है कि हमारा घर बचा रहता है। फिर भी मालती मौसी क्या कहती है। कहां बाहर जाती है, उससे आकर कौन बात कर रहा था, सब चीज पर ध्यान रखती है। ...तो

तुम्हारी बेटी भी कम उस्ताद नहीं है। वो मुझे चुपके से सब बता जाएगी कि मालती मौसी खिड़की पर खड़े होकर एक खडूस आदमी से हंस-हंसकर बात कर रही थी।''

अलक थोड़े-से तीखे स्वर में बोला—''इसका मतलब कि तुम बूतान को एक 'स्पाइ' की तरह प्रयोग करती हो।''

''ओह! बड़े आए नीतिवादी।'' ...कुछ क्षण पहले जैसा आनंद नहीं रहा। तनिमा स्वाभाविक ढंग से उत्तेजित हो उठी—''तुम और मैं तो नौ बजे तक निकल जाते हैं और बिटिया साढ़े दस बजे तक आ ही जाती है। अगर मैं उसका ध्यान रखने के लिए नहीं कहूंगी तो किसको कहूंगी। पता नहीं किस चोर-बदमाश के साथ बातचीत करती है, कोई भरोसा है? पति-पत्नी दोनों अगर नौकरी कर रहे हों तो और भी दिक्कत होती है। तुम्हें कभी गुस्सा तो आता नहीं है। महापुरुष जो हैं आप? मुझे तो आग लग जाती है। कंटीले तार पर चलना होता है। देखते नहीं कितनी उदंडतापूर्वक बातें करती है। मेरे साथ बात करती है तो जैसे मुझे बहुत तुच्छ समझती हो। हालांकि मैं कभी जिरह नहीं करती, लेकिन जैसे ही मैं पूछूंगी कि 'कौन आया था रे?' तो एकदम से भभक कर बोलेगी—'हम गरीब हैं तो हमारे मामा-काका नहीं हैं क्या? तभी तो मैंने आपकी चेतावनी का खयाल करते हुए पागल की तरह खिड़की के बाहर से ही बात करके उनको विदा कर दिया। घर के अंदर घुसने नहीं दिया। उस सामने के घर वाली मौसी ने उनसे खुद बैठने को कहा। चाय के लिए पूछा। बल्कि मौसी ने कहा भी कि 'अहाहा! काका के साथ ऐसा बर्ताव!' आपके घर जैसा घर तो मैंने कहीं देखा ही नहीं।' समझे? लेकिन इसको भी मैंने सहन कर लिया। उस समय एक बार तो इच्छा हुई कि इसको अभी भगा दूं। लेकिन मैं कर भी क्या सकती थी। उसको भगा देती तो खुद नौकरी छोड़कर घर में बैठना पड़ता। तभी तो उस फन उठाए नाग को पूजना पड़ रहा है।''

अलक क्या चिल्लाकर बोल सकेगा—'अगर वह पूजनीय नहीं है जो तुम्हें किसने बाध्य किया है पूजने के लिए।' यद्यपि हर समस्या का समाधान होता है। चिल्लाने से कुछ नहीं होता। फिर उस कालसर्पिणी के हाथ में सर्वस्व सौंपकर निश्चिंत होकर दिन-भर बाहर भी तो नहीं रहा जा सकता न! वो एक अज्ञात कुलशील किसान कन्या—बस परिचय इतना-भर कि पास के ही किसी गांव की कामकाजी लड़की है। बस इतना-भर ही। फिर भी उसके ही हाथों में...

किंतु चिल्लाने से तो कुछ होता नहीं? दिमाग में जवाब तो होना ही चाहिए न? उस समय यह नहीं सुना जा सकता कि अलक के जीवन में यह प्रथम घटना है। और किसी के घर में मैंने ऐसा देखा नहीं कि एक फ्राक पहननेवाली नन्हीं-सी बिटिया के हाथ में सारी गृहस्थी सौंपकर पति-पत्नी दोनों सारा दिन बाहर घूमते रहते हैं।

अतएव चिल्लाने से कोई फायदा नहीं।

आजकल के पुरुषों में तेज बोलने की क्षमता खत्म हो चुकी है।

चुप रहना ही ठीक है।

गाड़ी घर वाले मोड़ के पास आ चुकी है।

तनिमा बोली—"सुनो! तुम यहीं उतरकर सड़क पर दो मिनट खड़े रहना, पहले मैं घर में जाऊंगी। इसके बाद तुम आना..."

अलक अवाक् देखता रहा।

तनिमा ड्राइवर के कानों से बचाती हुई धीरे से अलक के कान में बोली—"तुम से बताया नहीं था कि बूतान से मैं डाक्टर के पास आंख दिखाने जाने का बहाना बनाकर आई हूं। दोनों लोग साथ पहुंचेंगे तो वह शक करेगी।"

अलक स्तब्ध होकर पथराए स्वर में बोला—"इस समय तक डाक्टर के पास?"

"ओह! इसके लिए तो आसानी से बहाना बनाया जा सकता है। तुम्हारी उस बेटी के साथ बनाए गए बहानों पर तो एक लंबी कहानी लिखी जा सकती है। सब कुछ व्यवस्थित रखने के लिए किस तरह मैनेज करके चल रही हूं, वो तो मैं ही जानती हूं।

अलक स्थिर स्वर में बोला—"और मैं? मैं अब तक कहां था?"

प्रश्न इस बार कठोर था।

"अहाहा! यह तुम्हारे लिए कोई नई बात है क्या? आफिस के काम से तो कभी-कभी तुम्हें आधी रात भी हो जाती है। ऐ भाई! गाड़ी जरा रोकना, ये यहीं उतर जाएंगे। मैं थोड़ा-सा और आगे..."

अलक चुप-चाप उतर गया।

क्या यहां चिल्ला उठना संभव है? संभव सिर्फ यही है सिगरेट सुलगाकर सड़क पर कदम ताल शुरू कर दे।

और सोचने लगा—'मकड़ी खुद को ही घेर-घेर कर जाल बुनती जाती है और अपनी कला-निपुणता पर मुग्ध होती रहती है।'

अचानक उसे याद आया कि तीनेक सिगरेट वह पी गया है। अगर बूतान अब तक सो न चुकी हो, तब? अचानक तेज कदमों से चलना शुरू कर दिया। घर के दरवाजे में अपने को समर्पित करके पूरे जोर से बेल दबाया। किंतु क्या, दूसरी तरफ आवाज भी उतनी ही जोर से उभरी?

दरवाजा खोलने मालती नहीं, तनिमा आई।

उसी घंटी के स्वर में झनझनाते हुए बोली—"ओः, अब समय हुआ है घर आने का? अभी तक कौन तुम्हारे लिए आफिस का दरवाजा खोलकर बैठा हुआ था? बोलो तो! बड़ी हैरानी हो रही है मुझे।"

और उससे भी तेज बूतान का स्वर कानों में पड़ा—"मालती मौसी! ऐ मालती मौसी! देखो तो, बाबू तो इस समय आफिस से आ रहे हैं। तुम कह रही थी कि नहीं कि मां डाक्टर के पास नहीं गई है। वो तो थियेटर गई है और तुम्हारे बाबू आफिस

से वहीं पहुंचेंगे। दोनों थियेटर देखेंगे। झूठ। झूठ की रानी! तुम्हें खूब गम-गम करके मुक्के मारूंगी। तुम्हारी गरदन काट के फेंक दूंगी। तुम्हारे बाल काट दूंगी। तुम्हारी आंखों में मिर्च डाल दूंगी। तुमको, तुमको मारकर फेंक दूंगी।''

देखा गया कि एक शुद्ध क्षुब्ध बच्चा भी असहायता की यंत्रणा और दुर्बलता के क्षणों में जब विपक्ष की शरण लेने को बाध्य होता है तब उसके भीतर जो ग्लानि उत्पन्न होती है वह अवसर पाकर किस तरह फूट पड़ती है।

और एक दूसरा मन जो कि सब कुछ को व्यवस्थित रखने के लिए मैनेज करता है वह अपनी कला पर पुलकित होकर बोल उठा—''ओह बूतान, क्या पागल हो गई है! तुम्हें इतना भी नहीं समझ में आता कि मालती मौसी तुम्हें चिढ़ाने के लिए वो सब कह रही थी। एक नंबर की बुद्धू हो तुम!''

एक मृत्यु एवं और एक

मनुष्य को पहचानना सचमुच बहुत कठिन कार्य है।

दुनिया के सारे कठिन कार्यों में सबसे ज्यादा कठिन कार्य है मनुष्य को पहचानना। एक आदमी को बहुत लंबे समय से और प्रतिदिन देखते रहने के बाद भी यह नहीं जाना जा सकता कि उसके मन के भीतर क्या है। अगर ऐसा नहीं होता तो क्या सुनयनी के मुंह से ऐसी बात निकलती!

इतनी घटिया और बेशर्म बात बोली सुनयनी!

सुनयनी की अपनी सगी बेटी भी अपनी मां की बात सुनकर दंग रह गई, जो कि होश संभालने के समय से ही मां की एक-एक सांस के बारे में जानती है। वही है उसकी भद्र, सभ्य, सुरुचि-संपन्न, उदार और सुकुमारी मां! हो सकता है, अचानक आई आंधी के थपेड़े ने मां के चेहरे को बहुत बदल दिया हो। माथे पर सदा चमचमाती हुई सिंदूर की बिंदी और घुंघराले काले बालों के बीच मांग निकालकर ऊपर तक खींची गई पतली-सी सिंदूर की रेखा के अभाव में मां देखने में अजीब-सी लगने लगी है। किंतु यह तो एक बाहरीपन है, जो कि सामाजिक व्यवस्था के नियमों के चलते ओढ़ा गया है। तो क्या इसके कारण भीतर से भी बदल जाएगी? कहीं ऐसा तो नहीं कि यह उसके मन के भीतर पल रहा था? सिर्फ लोक-लाज के भय से बाहरी आह्लाद को दिखावे के रूप में उतार फेंका है?

वर्तमान की चिंता।

बुली और बावली दोनों लगभग एक साथ ही आश्चर्यपूर्वक बोल पड़ीं—''क्या कह रही हो, मां? यह बात अलक चाचा से कहने हम जाएंगे?''

बेटियों की इस तरह की हैरानी से सुनयनी के मन में कोई संयम का भाव उभरा हो, ऐसा देखने को नहीं मिला। वह वैसे ही बोली—''अगर ठीक-ठीक वैसे ही न बोल पाओ तो थोड़ा घुमा-फिराकर भी कह सकती हो।''

''किसी भी तरह नहीं बोला जा सकता। असंभव। इसके बारे में तो कल्पना भी नहीं की जा सकती।''

सुनयनी सख्त स्वर में बोली—''अगर तुम लोगों के लिए यह असंभव है तो फिर यह असंभव काम मुझे ही करना पड़ेगा।''

छोटी बेटी बावली एकदम से झुंझला उठी। वह बोल पड़ी—''क्यों, बोला ही क्यों जाय? जैसे चलता आ रहा है, वैसे ही चलेगा।''

सुनयनी बेटी के उत्तेजित उत्तप्त चेहरे की तरफ देखकर बोली—''जैसे चला आ रहा है? अब स्थिति तब जैसी ठीक नहीं रह गई है, अभी यह बात समझने की तुम लोगों की उम्र नहीं है। घर की आमदनी का जो स्रोत था वह तो चला गया, अब

हमें दूसरा रास्ता तलाश तो करना होगा न! तुम्हारे अलक चाचा इतने लंबे समय से तो बिना किराया दिए घर के ठीक सामने दो-दो कमरे 'आकुपाई' किए पड़े हैं। वो दोनों कमरे मिल जाने से, एक ऊपरवाले छत पर रसोई की व्यवस्था करके पूरा एक तल किराए पर उठाया जा सकता है। आज के समय में यह बहुत है।"

'ओह! इतनी सारी बातें सोची जा चुकी हैं!'

इसका मतलब कि यह परिकल्पना मां के मन में पल ही रही थी। बुली और बावली को यह बात समझने में देर नहीं लगी। अलक चाचा तो पिताजी को जान से भी प्यारे थे, कौन कहेगा कि ममेरे भाई हैं। अपने सगे छोटे भाई से भी प्यारे। तभी तो पिताजी के सामने उनकी प्राणप्यारी बनी रहने के लिए मां हम लोगों के सामने ऐसा व्यवहार करती थी जैसे लगता था कि अलक चाचा उसके भी भाई ही हों। इतना आदर-सम्मान, खाने को लेकर कितना दबाव-मनुहार, जब कभी चित्र बनाते-बनाते विभोर हो उठते और खाने के लिए नहीं आते, तो मां खुद ही जाकर उन्हें जबरदस्ती उठाकर ले आती थी। उनके चित्रों को लेकर कभी हा-हा करके हंसी उड़ाती, कभी कहती—"रुको बाबा, कलाकार का ध्यान भंग नहीं करना चाहिए। तुम लोग जाओ, अलक चाचा को चाय-पानी दे आओ।"

फिर उन चित्रों के 'एक्जीबिशन' के लिए भी तो मां ने अलक चाचा पर कितना जोर डाला था, सबने ही तो उसको देखा था। इसके बाद ही वे एक के बाद एक, दो लोगों की शादियों में कलकत्ते से बाहर चले गए थे और बहुत दिन तक नहीं लौटे थे। पिताजी का मृत्युसंवाद पाकर लौटे थे कि उनके 'क्रिया' के बाद वे यहीं रुक जाएंगे! इतने दिनों तक घर में तमाम लोगों की भीड़ लगी रही, सुनयनी को भी स्तब्ध और शोकाहत मूर्त्ति बने देखा गया। इसके बीच भी सुनयनी को बराबर अलक चाचा का खयाल रखते देखा गया कि अलक ने खाया कि नहीं? क्या यह सब लोगों को दिखाने के लिए किया जा रहा था? तो क्या पूरी जिंदगी पिताजी को खुश करने के लिए वह अभिनय करती रही? पिताजी को यह दिखाने के लिए कि देखो मैं कितनी उदार हूं!

नहीं तो वह ऐसी बात कैसे बोल सकती—"तुम लोग तो कल को अपने-अपने घर चली जाओगी। तो जाने से पहले मेरे लिए कोई व्यवस्था करती जाओ। मेरे बोलने से अच्छा नहीं लगेगा, तुम्हीं लोग उनको कभी रास्ते में देखो तो बोल देना। अब बहुत दिनों तक मेरी इतनी ताकत तो रहेगी नहीं कि एक कम-अक्ल आदमी से बक-झक करती फिरूं।"

वे सब ऐसी भाषा सुनकर 'हां' करके मां के चेहरे की तरफ देखती रह गईं और बदले हुए मुखौटे को गौर से देखा। थोड़ा रुककर बोलीं—"यह बात हम लोग बोलेंगी अलक चाचा से?"

इसके बाद बुली बोली—"अलक चाचा 'कम-अक्ल' हैं?"

सच कहा जाए तो अलक सिर्फ अपने फुफेरे भाई के लिए ही प्राणतुल्य नहीं थे बल्कि उनकी बेटियों के लिए भी थे। और वे भी तो बेटियों को उसी दृष्टि से देखते थे।

बुली और बावली तो अभी भी अलक के लिए बच्ची जैसी ही हैं। उनकी जितनी भी कठिन से कठिन जिद और इच्छाएं होती हैं सब अलक पूरा करता है। यह सुंदर सुकांत और छोटा-सा लड़का जितना ही सभ्य, भद्र, संस्कारी और हृदयवान है उतना ही हंसमुख। चित्र बनाने में मग्न।

बुली को याद है कि एक बार जब प्रियतोष और सुनयनी ने अलक को शादी के लिए परेशान कर दिया था तब अलक चाचा ने कहा था—"इसका मतलब—तुम लोग मुझे सजा देना चाहते हो क्या? ज्यादा दबाव डालने से मैं दूर हो जाऊंगा। विद्या के तो आठ रास्ते हैं..."

अलक ने शादी नहीं की।

प्रियतोष और सुनयनी अनेक प्रलोभनों, खुशामद, मिन्नत और भविष्य के बारे में बहुत-सारे उपदेशों के बाद भी अलक को राजी नहीं कर पाए। अलक हंसते-हंसते बोलते—"प्रिय दा, आप मुझे भविष्य का भय दिखाकर वश में करना चाहते हैं? इतना आसान नहीं है। भविष्य में अगर सुनयनी मुझे पकाने-खिलाने में असमर्थ हो जाय, इस डर से क्या मैं सर पर गंधमादन रखकर बैठ जाऊंगा? इतना मूर्ख हूं क्या? मेरी आजादी के लिए होटल बचे हुए हैं। कलकत्ते में कोई कमी है क्या?"

अलक अपने से सात साल बड़े भाई की पत्नी को भी भौजी कहने को तैयार नहीं थे। कहते थे—"भौजी नहीं कहूंगा। मुझसे उम्र में तो छोटी है। नाम से बुलाऊंगा। बस।"

तब प्रियतोष की मां जीवित थीं। छोटी उम्र में ही मां के मर जाने से अलक बुआ के पास ही रहकर बड़ा हुआ था। बुआ ने कहा था—"ओ मां, सुन रही हो बात। तो क्या इसीलिए भाई की बहू को नाम से बुलाओगे? दुनिया-भर के लोग ही तो छोटी होने पर भी बड़े भाई की बहू को भौजी कहते हैं।"

"बोलते हैं तो बोलें। मुझे नहीं बोलना।"

"वो तुमसे कितनी छोटी है, जरा मैं भी तो सुनूं। मोटामोटी कितने महीने?"

"मुझे पता है। दस महीने। तो इतना भी कम नहीं है क्या? इसका मतलब कि जब मैंने पैरों पर चलना शुरू किया था तभी वो ट्यां-ट्यां करते धरती पर आई थी। फिर उसको भौजी! धत्!"

सुनयनी सास के पास आकर गुहार लगाती—"देखती हो मां, अलक मुझे नाम से बुला रहा है। भौजी नहीं बुलाता।"

सास हंसते हुए कहती—"तो तुम भी तो उसको नाम से ही बुलाती हो, देवर तो कहती नहीं हो।"

"वाह वा, वो मुझको मानने को तैयार ही नहीं है, मैं ही मानती चली जाऊं? बहुत मजे हैं उसके तो।"

सास कोई खूंखार महिला नहीं थीं, वे बहुत ही स्नेहमयी और उदार थीं। बेटे और बहू पर किसी कर्त्तव्य के प्रति दबाव नहीं डालती थीं। उनका खयाल था कि इन सब बच्चों के हंसते-खेलते रहने से घर में सुख-चैन बना रहेगा। मैं तो इतने दिनों से अकेली चली आ रही हूं, बहू के आ जाने से ही...

बहू के प्रति खूंखार होने से बेटे के प्रति भी वे खूंखार हो जाएंगी, उनका मानना था कि ऐसा होने से वे सहज स्नेह के संपर्क से अछूती रह जाएंगी।

हमेशा हंसकर ही वे बोलती थीं। तभी तो उन्होंने कहा था—"अच्छा बाबा, अच्छा। कोई किसी को न माने तो तुम नाम से ही बुलाना शुरू कर दोगी! लड़ाई का अच्छा तरीका है।"

किंतु सुनयनी के भाग्य में यह दुर्लभ वस्तु बहुत दिनों तक नहीं टिक सकी। बुली पैदा हुई थी उसी समय वे चल बसीं। सुनयनी के हल्के और सुरसुरी वाले दिन खत्म हो गए। बहुत भारी जिम्मेदारियां आ गईं। एक तरफ बच्चा, और दूसरी तरफ घर में खाना बनाना और दूसरे काम-काज।

प्रियतोष तो हमेशा से इन सब कामों में मंद थे। वे तो सिर्फ तंग करना जानते थे। कहते थे—"बुली को आदमी बनाने में उसके अलक चाचा का ही योगदान है। बच्ची को खेलाने की नौकरी से क्रमश: 'प्रोमोशन' हो रहा है। खिलाने, सुलाने, और कभी-कभी नहलाने पर भी। शायद शर्तों के अनुसार भी कभी-कभी।"

"ऐ सुनयनी, प्लीज आधा घंटा मेरे पास बैठती जाओ न! मैं तुम्हारी रोवनी बेटी को नहला दूंगा।"

अलक शुरू के दिनों की अपनी स्केच बुक ले आते और सामने एक दांत निकालकर हंसती हुई बूढ़ी का चेहरा रख देते। अलक चेहरे से ज्यादा भंगिमा पर विशेष बल देते हैं।

"ऐ बुआ! तुम दोपहर को किताब पढ़ते-पढ़ते जैसे चश्मा उतारकर सो गई थीं, उसी तरह एक बार फिर से सो जाओ न!"

बुआ की आंख सर पर चढ़ जाती—"ये कैसी फालतू बातें करता है रे तू। सवेरे-सवेरे काम-काज के समय सो जाऊं?"

"वाह, प्रिय दा तो कालेज चले गए। अब कौन-सा काम है तुमको?"

"ना! अब कोई काम नहीं है क्या? जा बाबा जा। अब मैं सोऊंगी तब बनाना।"

लेकिन क्या इतना-भर कह देने से छुट्टी मिल पाती। जब कलाकार को बाई चढ़ती है तो शब्दों से धैर्य नहीं बंधता।

अलक तुरंत कमरे में मेज पर चटाई और टोकरी रखकर तथा एक हाथ में किताब और एक हाथ में पंखा लेकर जैसे-तैसे अभिनय-मंच प्रस्तुत कर देते।

सुनयनी भी कभी-कभार यही काम करती। सुनयनी हाथ-मुंह धोकर शाम का प्रसाधन करके स्टोव जलाकर प्रियतोष के लिए जलपान बनाने बैठ जाती। अलक बहुत चिरौरी करते—"ऐ सुनयनी, प्लीज! थोड़ी देर खिड़की खोलकर खड़ी हो जाओ न! चेहरे पर ऐसा भाव लेकर कि प्रिय दा घर लौटने में देर लगा रहे हैं और तुम हताश आंखों से आसमान की तरफ ताक रही हो।"

सुनयनी गुस्सा दिखाते हुए कहती—"और कुछ नहीं। मैं यहां तुम्हारे लिए 'पोज' बनाकर आकाश की तरफ देखती खड़ी रहूं और तुम्हारे प्रिय दा कचौड़ियों की जगह कच्चा मैदा खाएंगे। तुम्हें तो पता ही है कि भूख लगती है तो खड़ा नहीं रहा जाता?"

"अरे बाबा, तुम्हारी कचौड़ियां मैं तल दूंगा! बेल नहीं पाता हूं, लेकिन तल तो 'फर्स्ट क्लास' सकता हूं, उसका तो प्रमाण भी है, याद है न?"

"तो क्या, वहां खिड़की के पास?"

चूल्हे के पास, मसाले पीसने की सिल के पास, ड्रेसिंग टेबल के पास गमछा से गीले बाल झाड़ते समय—'सुनयनी।' एक मिनट! ऐ सुनयनी, जिस तरह हो वैसे ही फ्रिज हो जाओ। खबरदार तनिक भी हिलना नहीं। कभी वैसे ही काम करते समय, तो कभी अभिनय-मंच सजाकर।

फिर बुली और बावली को भी लेकर कम तमाशे नहीं करता।

"सुनयनी, जरा एक बार इसको बाबा आदम बनाकर बाथ टब में डाल दो न, बाल बिखराकर।"

सुनयनी माथे पर हाथ रख लेती।

"इतनी मेहनत से तो उसके साथ मल्लयुद्ध करके थोड़ा सजाया-संवारा है, और अब बाबा आदम करके बाथ टब में डाल दूं? असंभव।"

"अरे बाबा, एक उभरते हुए कलाकार के लिए असंभव को भी संभव बनाकर उपकार करना चाहिए।"

"तुम हो पूरे।"

"चलो आधा-अधूरा से 'पूरा' तो अच्छा ही होता है।"

प्रियतोष की प्रवृत्ति भी अपनी मां की तरह उदार और स्नेहशील थी। सिर्फ अलक के ऊपर उनका वात्सल्य भाव था।

चित्रों को देखते और विभोर होकर बोलते—"कैसे ऐसा एकदम हू-ब-हू बना दिए हो, बोलो तो? एकदम बुली लग रही है। और यह तो एकदम सुनयनी है। नख से शिख तक।"

अलक हंसते।

"नख से शिख तक क्या, प्रिय दा? असली तो बाल ही हैं। बालों की प्रकृति बदल देने से चेहरे का भाव एकदम बदल जाएगा।"

प्रियतोष को भी कभी-कभी पकड़कर बिठाने से बाज नहीं आते।

बोलते—"बैठिए-बैठिए , ठीक उसी तरह चश्मा लगाए हुए। कैप्शन दूंगा—'नोट-बुक लिखने में व्यस्त अध्यापक'।"

वही अलक।

बुली और बावली के शैशव, बाल्य, कैशोर, सभी कुछ तो हैं 'अलक चाचा'।

बहुत जल्दी-जल्दी करके दोनों बेटियों की शादी करके प्रियतोष मुक्त हो गए। बोले—"बहुत अच्छा लड़का मिला गया। मेरा छात्र था, देखा है। बहुत विलक्षण लड़का है।"

एक के बाद एक दोनों की ही शादियां हो गईं।

अलक ने शिकायत की—"वो सब अच्छे लड़के-वड़के की कोई बात नहीं है, असली बात है कि आप उन्हें विदा करके जल्दी से मुक्त होकर आजादी से नोटबुक लिखना चाहते हैं, प्रिय दा, मैं समझ नहीं रहा हूं क्या? ताकि आपकी एकाग्र साधना को कोई 'डिस्टर्ब' न कर सके।"

फिर सुनयनी को भी ताने देता—"ओह, सुनयनी। कहने से कोई विश्वास करेगा कि तुम दो-दो दमादों की सास बन गई हो! जब दो-दो लड़के तुम्हें मां कहते हुए तुम्हारे पैरों की धूल माथे लगाएंगे तो हंसी आएगी।"

उसने सच ही तो कहा था, लेकिन विश्वास नहीं हुआ।

सुनयनी का चेहरा ही कुछ ऐसा है कि उस पर स्वाभाविक रूप से बुढ़ापा आ ही नहीं सकता। कोई फर्क नजर नहीं आता। समय जैसे उसके ऊपर से आलता की-सी रंगीनी बनकर गुजर जाता है। पतझड़ तो बहुत दूर की बात है, दो पत्ते तक नहीं गिरने पाते।

यह अभी कितने दिनों की बात ही है। पता नहीं, कब सारे पत्ते झर गए। माथे की चमकती हुई बिंदी और सिंदूर की टिपटिप रेखा की जगह कुछ और आ गया।

बुली बोली—"तुम इतना बदल जाओगी, मैंने तो कभी सोचा भी नहीं था, मां।"

सुनयनी एक अद्‌भुत हंसी हंसते हुए बोली—"तो क्या, मां को तुम लोगों ने स्वर्ग की देवी समझ रखा था?"

"वो तो नहीं, लेकिन कभी तुम्हें किसी तरफ स्वार्थ की दृष्टि से देखते नहीं देखा।"

"सही कह रही है।" बावली बोली।

सुनयनी बिना किसी की तरफ देखे, शायद किसी तरफ भी बिना देखे बोली—"वह चिंता तो, तब एक पहाड़ था जिसने रोक रखी थी। मुझे चिंता करने की कोई जरूरत ही नहीं थी।"

"पिताजी के अचानक चले जाने के बाद घर के काम-काज की जिममेदारी के कारण अलक चाचा का शरीर कैसा हो गया है, कभी तुमने गौर से देखा?"

"करता है, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। लेकिन इतने दिनों से उस

आदमी ने भी तो इनके लिए कम नहीं किया है।''

''किया है तो क्या, सभी इतनी श्रद्धा और प्यार देते हैं क्या।''

बावली का गला भर आया। और इसके बाद स्वाभाविक रूप से झुंझलाकर बोली—''यह तो वैसे ही हुआ कि...काम है तब तक काजी, काम खतम तो पाजी।''

''और कोई उपाय भी तो नहीं है।''

अलक चाचा इस घर में कुछ नहीं हैं। जब मन हुआ अलक चाचा को बोल दिया कि 'रास्ता देखो', यह सब दोनों लड़कियों के बर्दाश्त के बाहर की चीज है। बुली बोली—''इससे तो अच्छा है कि अलक चाचा से कहो कि हमें पैसों की आवश्यकता है, तुम दोनों कमरों का किराया दो।''

सुनयनी एक विद्रूप स्वर में बोली—''कहने से दे देंगे क्या, यह तुम्हें विश्वास है? उनकी कोई स्थाई आमदनी है? कभी दो-एक विज्ञापन बनाने को मिल जाता है, कभी किताब का फ्लैप। ये तो उनकी हालत है।''

बावली आवाक् होकर देखती रह गई। सचमुच मनुष्य को पहचानना कितना कठिन है। मां के भीतर अलक चाचा के प्रति इतनी तुच्छता भरी हुई थी। किसलिए छिपा रखा था? एक समय में तो अलक मां के प्राण-प्यारे थे। क्या पिताजी को दिखाने के लिए? बहुत गुस्से में बोली—''इतनी क्या जरूरत आ पड़ी है तुम्हें? पिताजी अपनी लिखी हुई किताबें अपने साथ तो ले नहीं गए हैं।''

बेटी की इस प्रकार की क्रोध और तर्कपूर्ण बातों से सुनयनी विचलित नहीं हुई। बोली—''तुम लोग क्या समझती हो कि 'पब्लिशर' इतने कर्त्तव्यनिष्ठ होते हैं कि समय पर पैसे घर पहुंचा जाया करते हैं?''

लड़कियां अपनी 'प्यारी' मां के मुंह से इस तरह की कठोर बातें सुनकर गुस्से से बरस पड़ीं—''और कुछ नहीं, उस कुटिल बूढ़ी बड़ी मौसी की कुमंत्रणा का फल है यह सब। पिताजी के श्राद्ध में बीस दिन यहीं पड़ी रही, मां के सिर पर हाथ फेर-फेरकर सारा दिन खुसुर-फुसुर करके मां के मन में कुटिलता भर गई है।''

''तुम ठीक कहती हो, दीदी। इतने दिनों से मां अलक चाचा का नाम तक नहीं लेती थी। पिताजी हंसते हुए कहा करते थे कि वह तो 'तुम्हारा प्राण सखा है।' और—''

''बड़ी मौसी तुम्हें अच्छी लगती है बावली? देखने में तो इतनी सुंदर है।''

''अच्छी है, लेकिन मेरी दोनों आंखों में ही विष है। उसकी बातें कितनी कंटीली होती हैं। मां फल, डाब यह सब नहीं खाती, फिर भी उसके सामने ढेर सारा रखकर बोलेगी—'कुछ तो खाना ही पड़ेगा न भाई। यहां तो चाय-बिस्कुट लेकर बैठ नहीं सकती।' नहीं सकती, पता नहीं क्यों, समझ में नहीं आता। चाय-बिस्कुट में मांस-मछली भरा होता है? और मां भी उसकी तरफ ही जाकर मिल गई, यह तो उसकी खुशी का विषय है ही। असह्य। नीच बुढ़िया। उसकी हिम्मत बढ़ने का कारण तो

मां ही है..."

इस तरह की बीसियों बातें सुनकर मां के चेहरे पर जो विस्मय और संशय की रेखा उभरी उसको पहचान कर दोनों बहनें कुछ शांति बनाने की युक्ति के द्वारा मां का मन बदलने की कोशिश करते हुए , जैसे उनको अचानक याद आया हो, बोलीं—"अच्छा मां, जरा सोचकर तो देखो कि अलक चाचा के अलावा यहां घर में कोई पुरुष 'गार्जियन' नहीं है।"

सुनयनी के होठों के कोनों पर एक सूक्ष्म हंसी उभर आई। बोली—"वही तो सोचती चली आ रही हूं। पुरुष ही क्यों, लड़की भी तो नहीं है। तुम लोग तो हवा हो जाओगी।"

वे सब असहिष्णु स्वर में बोलीं—"हम लोग तो हवा हवाई हैं ही। हमारी बात ही कहां आती है इसमें। अलक चाचा के चले जाने से तुम एकदम अकेली पड़ जाओगी, इसका ध्यान है तुम्हें? 'सिक्योरिटी' की समस्या नहीं उत्पन्न हो जाएगी?"

सुनयनी शांत स्वर में बोली—"इसीलिए तो मैं एक परिवारवाले किराएदार का जुगाड़ सोच रही हूं रे।"

"जुगाड़ कर सकोगी? तुम कहां से जुगाड़ कर पाओगी?"

"बड़ी दी की ससुराल में ही जैसे। दो ही कमरे में दस लोग रहेंगे। तुम्हारी मां को नुकसान न हो तो कोई आपत्ति ही क्या है।"

'ओ! वही बड़ी मौसी। इसका मतलब कि पहले से ही तुकबंदी फिट है। जाओ। सब चौपट हो गया। उनके हाथों से बात बाहर निकल चुकी है।'

मुंह बिचकाकर बोलीं—"जिसमें तुम्हारी खुशी हो, वही करो। लेकिन दया करके जब तक हम लोग यहां हैं, अलक चाचा को कुछ कहना नहीं।"

"क्यों? सारी मुसीबत मां ही उठाएगी?"

सुनयनी बेटियों का अनुरोध नहीं मान सकी। जब अलक और वे सब खाने बैठे (अब सुनयनी तो टेबल पर खाती नहीं) तो सुनयनी अचानक बोल पड़ी—"तो अलक बाबू , कल से आप अपना वह स्वतंत्र होटल 'ज्वाइन' कर रहे हैं?"

आश्चर्यचकित होकर अलक देखने लगे। प्रियतोष के चले जाने के बाद पहली बार सुनयनी को इस भंगिमा में बोलते सुना था। इसका मतलब कि इसके बाद धीरे-धीरे वह अपने 'फार्म' में आती जाएगी। अगली बात! लेकिन इस बात का मतलब क्या है?

बुली और बावली भी चकित रह गईं।

कमरे के बारे में ही तो कहने का मतलब था। फिर और क्या? इस नई बात का मतलब?

सुनयनी समवेत चकित चेहरों की तरफ देखकर अथवा बिना देखे बोली—"लड़कियां तो आज चली जा रही हैं। और गृहिणी के लिए रसोई के अलावा

और कोई बवाल तो है नहीं। खुद बनाना और एक ही तरह के भोजन से रोज पेट भरना। लेकिन तुम्हें तो रोज एक परिवर्तन चाहिए।''

तो इतनी सी ही बात थी। सुनयनी क्या उसी तरह निभाना चाहती है?

नियम भंग होने पर किसी शुभाकांक्षिणी हृदयवती की तरह करुणा विगलित स्वर में बोली—''किंतु ऐसा कैसे संभव हो पाएगा? तुम तो बाहर मांस, मछली और तरकारी सभी कुछ खा सकते हो, भाई।'' सुनयनी ने जवाब दिया—''किंतु यहां तो निरामिष तरकारी बन पाना संभव नहीं। अरुचि हो गई है मुझे तो।''

भाड़ में जाय। इस समय क्या यही बात करने को थी?

दोनों लड़कियां सर नीचे झुकाए बैठी थीं जैसे थाली के साथ चिपक गई हों। अलक की आंखों में पानी भर आया। बोले—''तुमने ऐसा कैसे सोच लिया कि तुम्हारे इस एक ही तरह के भोजन से मुझे आपत्ति है?''

''तुम्हें आपत्ति भले न हो, मुझे तो है न? मैं किसी दिन पकाती हूं, किसी दिन नहीं भी पकाती हूं, कोई ठीक तो रहता नहीं है। तुम्हारी चिंता लगी रहती है।''

अलक ने सर झुकाए हुए कहा—''ठीक है, कल से वही होगा।''

कमरे में आकर बुली बोली—''मां, ये क्या मतलब है, बात घर की थी और तुमने खाने की बात की?''

सुनयनी बोली—''मैंने सोचा कि एक पुराने बरगद को काटने के लिए एकदम से उसकी जड़ों पर ही कुल्हाड़ी नहीं चला देना चाहिए। पेड़ काटने से पहले उसके डाल-पात सब छांट देने चाहिए।''

मां को किसी जिन्न ने पकड़ लिया है, यह मानकर दोनों बेटियां पिता के चित्र को प्रणाम कर अपने-अपने पति के साथ गाड़ी में बैठ गईं। दोनों का स्टेशन एक ही रास्ते पर है। एक का दुर्गापुर, एक का आसनसोल।

अलक उन सब के साथ हावड़ा तक गये। सुनयनी ने धीरे से दरवाजा बंद किया और प्रियतोष की 'इंलार्ज्ड' तस्वीर के सामने खड़ी होकर धीरे-से बोली—''खूब तो स्नेह-प्यार किया! किंतु अब? अब छुरी पर धार चढ़ाने की शक्ति दो।''

स्टेशन से लौटकर अलक मेज पर सर टिकाकर बैठे हुए थे।

पुरुष लड़कियों से भिन्न होता है, तभी तो वे रो नहीं रहे थे। हालांकि यही अशिक्षितों-जैसा काम वे एक बार कर बैठे थे, जबकि प्रियतोष का संज्ञाशून्य शरीर कॉलेज से बाहर करके डॉक्टरों ने घोषणा कर दी थी कि अब इसमें संज्ञा वापस नहीं आ सकती। तब अलक चिल्ला उठे थे—''सुनयनी, अब हमारा क्या होगा?''

सुनयनी सुनकर अवाक् रह गई थी।

सुनयनी तो लगातार बोले जा रही थी—''अब मेरा क्या होगा? अब मेरा क्या होगा?'' जबकि सिर्फ यही एक लड़का था जिसको चिंता थी कि 'अब हमारा क्या होगा?'

यद्यपि सुनयनी ने स्टेशन से वापस लौटे अलक को देखकर सोचा कि छुरी तेज करने के बदले वह पेड़ के तने पर चोट कर आई है।

बोली—"घर कैसा लग रहा है? भूतों का डेरा?"

अलक ने मुंह उठाकर देखा।

सुनयनी बोली—"झटपट इस भूतों के डेरे से अपना तख्ती-तख्ता लेकर कूच कर दो, हे 'आर्टिस्ट' महोदय।"

"दूर हो जाऊंगा।"

अलक के बुद्धू की तरह देखा।

सुनयनी बोली—"जाओगे नहीं तो क्या करोगे? तुम्हारे आश्रयदाता तो बिना नोटिस के तुम्हें रास्ते पर खड़ा करके चले गए। मैं अकेली औरत जात, किस हिम्मत से तुम्हें घर में प्रतिष्ठा दे सकूंगी, बोलो तो?"

अलक एक क्षण उसकी तरफ देखकर धीरे-से बोले—"तो क्या दुनिया में 'आदमी' का कोई मूल्य नहीं है?"

सुनयनी बोली—"कान मत खाओ।"

कितने दिनों तक दिन-भर कहीं न कहीं घूमते रहने के बाद एक दिन अलक आकर बोले—"मुझे जगह मिल गई है, मैं जा रहा हूं। ये थोड़े-से सामान हैं, इन्हें मैं यहीं रख जाता हूं। इनको रखने की वहां कोई जगह नहीं है। इन्हें कहीं रख लेना।"

सुनयनी ने गुस्से में देखा, यह पुराना काले रंग का ट्रंक, जिसमें अलक के शुरू के बहुत सारे स्केच थे। हाथ पक्का करने के नमूने। जिनमें सुनयनी नामक लड़की की किशोरावस्था, यौवन, प्रथम तरुणाई और प्रथम मातृत्व की चमक चित्रित थी।

सुनयनी उसकी तरफ देखते हुए बोली—"गंगा में तो बहुत पानी है, इसके लिए उसमें जगह नहीं है क्या?"

अलक बोले—"ध्यान नहीं दिया। तुम्हें इच्छा हो तो देखना कि उतना पानी है कि नहीं। चाभी तुम्हीं रखो।"

"मैं पागल हूं क्या? चाभी लेकर क्या करूंगी?"

"कहां जा रहा हूं, पूछोगी नहीं?"

सुनयनी बोली—"पाखंडी कहने का अच्छा तरीका है।"

अलक हंसते हुए बोले—"पाखंडी समझता तो तुम्हारे पास मैं अपना सर्वस्व इस तरह छोड़ जाता? पता छोड़े जा रहा हूं। बावली को दे देना। नहीं तो बावली रो-रोकर मर जाएगी।"

कुछ दिनों बाद एक दिन बावली कलकत्ते आई। पता पाकर भी रोती हुई बोली—"इतना घटिया व्यवहार किया तुमने अलक चाचा के साथ, फिर भी उन्होंने तुम्हें माफ कर दिया। चंद पैसों के लिए इतने दिनों के प्यार और आदर के बारे में कुछ नहीं सोचा! बचपन से ही तुम्हारे दोस्त..."

जैसे, कहीं किसी ने फस् करके दियासलाई जलाया हो और सुनयनी की आंखें उसकी आंच से झुलस गईं। जैसे सुनयनी के गले में, स्वर में आकर लगी हो वह आंच।

जैसे बहुत दिनों का दुःख, यंत्रणा, लज्जा हाहाकार करके आग की ज्वाला के रूप में फूट पड़ा हो। उसी चिनगारी उगलते स्वर में सुनयनी बोली—"अगर मैं अपने उस बचपन के प्यारे दोस्त और ममेरे देवर को जिस तरह पहले रखी हुई थी, अभी भी रखती तो समाज की आंखें सर पर नहीं चढ़ जातीं? दोस्त मानते? उस दोस्ती को लोग अच्छी निगाह से देखते? कालिख नहीं उछालते? प्यार, दुलार, मनुष्यत्व ये सब लड़कियों के अधिकार में नहीं हैं, बावली।"

बावली थोड़ा-सा रुकी। फिर उसके भोलेपन का आंकड़ा लगाते हुए बोली—"इः। इस उम्र में दमाद भी हो गए और, कौन तुमको बोलता है, जरा मैं भी तो सुनूं?"

सुनयनी विद्रूप हंसी हंसते हुए बोली—"अपनी ही मां-बहनें आती हैं। चालीस साल की उम्र हो गई है और दमाद भी हो गए हैं, कह देने से थोड़े न कोई बोलना बंद कर देता है? सुनकर तुम लोग भी माफ कर देतीं क्या? मां के नाते मुझे माफ कर देतीं? औरत ही औरत के मुंह पर कालिख पोतती है, बावली। और वो भी अपने लोग ही। इतनी बड़ी सचाई इतने दिनों से मैं नहीं समझ पाई थी, तुम्हारे पिताजी ने जाकर यह भी समझा दिया।"

सचमुच, इस निर्लज्ज सचाई को सुनयनी जब सधवा थी तब नहीं समझ पाई थी। सुनयनी हमेशा से यही समझती आई थी कि जीवन का मतलब है 'सुख', जीवन का मतलब है 'प्यार'। जीवन का मतलब है 'निश्चिंतता।'

शायद वह इस जानकारी से अछूती रह जाती अगर प्रियतोष जैसे आदमी की इस तरह निष्ठुर मौत नहीं होती।

रिहाई रद्द

आंखों के सामने से 'सूं' करके एक गाड़ी निकल गई।... एक? एक, दो, तीन, चार। ...आश्चर्य से मालती देखती रही। जैसे इस तरह का स्वर्गीय दृश्य जीवन में कभी देखा ही न हो।

देखा ही नहीं। पूरे तीन साल तक मालती ने रास्ता, गाड़ी, और रास्ता चलते आदमी तक को नहीं देखा है। हालांकि सोचकर देखें तो विश्वास नहीं होता। तीन साल मालती ने अपनी पहचानी हुई दुनिया से अलग एक अद्‌भुत दुनिया में बिताए हैं। ...उसे आश्चर्य हो रहा है जबकि वह फिर उसी पुरानी दुनिया में आकर खड़ी हो गई है। ...अचानक अपने शरीर पर चिकोटी काटकर उसने देखा कि कहीं वह सपना तो नहीं देख रही है।

यह काल रात्रि ही वह पाजी है—मालती समझ नहीं पाती कि इसे क्या कहकर संबोधित किया जाना चाहिए। सरदार! नहीं, कर्त्ता? क्या पता। कभी जानने की इच्छा भी नहीं हुई। मालती मन-ही-मन उसे पाजी कहती रही। तो, उस काल रात्रि ने खिलखिलाकर हंसते हुए कहा था—"कल सवेरे तुम्हें छुट्‌टी मिल जाएगी रे, मालती।"

छुट्‌टी। छुट्‌टी मिल जाएगी। इस नर्क से मालती को छुट्‌टी मिल जाएगी? विश्वास नहीं होता। ...पूरी रात एक भयानक यंत्रणा-जैसी चिंता में काटी उसने। सो नहीं पाई। बार-बार सोचती रही कि कहीं यह पाजी उसे उत्तेजना का मजा चखाने के लिए तो नहीं यह शुभ समाचार सुना रहा। झूठ-मूठ का बनाकर।

कल सुबह जब मालती यह प्रश्न करेगी कि 'कैसे छुट्‌टी हो गई?' तब वह शरारती हंसी हंसेगा। ...किंतु सचमुच यह अविश्वसनीय घटना घट गई। पता नहीं, कहां से कौन एक कर्कश घृणित स्वर में बोल पड़ा—"मालती दासी ...ऐ , ऐ हट! ..."

इसके बाद वह खुद भी नहीं समझ पाई कि जेल के भीतर से किसके साथ किस तरह जेल का गेट खोलकर वह बाहर आसमान के नीचे आकर खड़ी हो गई। किस तरह वह बदहवास की तरह चली आई। ...

आने से पहले कई परिचित चेहरे दिखाई दिए। उन चेहरों पर हताशा थी। या फिर ईर्ष्या। ...दो-एक लोगों ने कुछ-कुछ कहा भी, लेकिन मालती ने ध्यान नहीं दिया। वह भी कुछ-कुछ बोलती चली आई, वह भी उसे ध्यान नहीं। साथ में पहरेदार जैसे पशुओं की तरह 'हट-हट' करते हुए प्रताड़ित रूप से उसे ठेलते हुए लेकर बाहर आ गया।

छुट्‌टी मिल गई है। मुक्ति मिल गई है, फिर भी इन सबों के पास जितनी देर रहोगे ये दुर्व्यवहार करते ही रहेंगे।

वही तीन साल पहले—

मालत्ती ने जब सुना था कि उसे जेल की सजा हुई है, तो उसे लगा था कि जैसे जेलखाने में घुंसते ही उसके गले में फांसी लगा दी जाएगी। ...लड़की को जेल की सजा! कैसी शर्म की बात है! उसकी बस्ती में किसी लड़की के साथ कभी ऐसा हुआ है? लगभग समूची बस्ती शरीफों की बस्ती है। ...औरत-मर्द सभी कमाते-खाते हैं। ...बाल-बच्चों के साथ भरे-पूरे परिवारवाले। ...या तो हर जगह मर्द काम नहीं करते, या करते भी हैं तो जो पैसा कमाकर लाते हैं उससे ताड़ी, शराब पीते हैं, और बीवी की कमाई से भात खाते हैं। ...फिर भी मेहनत बहुत करते हैं। महिलाएं भी सभी काम करती हैं, कमाती हैं। सात-आठ साल की उम्र से ही मां के साथ बाबुओं के घरों में काम करने के लिए जाने लगती हैं। फिर रात को वापस लौटकर डेरे में घुसकर एक ही साथ सो जाती हैं। ...एक ही घर का आसरा है, फिर भी उसी घर में जन्म, मृत्यु, मिलन, विरह, रुदन, कलह सब कुछ अपने नियम के अनुसार चलते रहते हैं। और इन सब कुछ के भीतर एक परिवार 'परिवार' की गरिमा को लेकर बसता है।

इसीलिए 'पंचाननतला' की इस बस्ती को 'गृहस्थ बस्ती' कहा जाता है। इनके बीच जो 'युगल जीवन' का प्रवाह वर्तमान है उसको लेकर वैधता संबंधी कोई प्रश्न ही नहीं उठता। उसमें अपना माथा खपाने की किसी को फुर्सत नहीं है। अतएव, कहा जाता है कि अब हमारे देश में शिक्षित महिला-समाज के भीतर चल रहे नारी-मुक्ति आंदोलन के तहत विवाह के बंधन से मुक्त होकर 'लिव टुगेदर' की प्रथा कायम करने पर जो पत्र-पत्रिकाओं में जोर दिया जा रहा है, यह प्रथा बहुत पहले से ही चली आ रही है और बहुत विश्वास के साथ कायम है। 'निरक्षरता' एवं 'नारी-मुक्ति' जैसे दोनों शब्दों के उबकाईपूर्ण संपर्क न हो पाने के बावजूद।

इनके लिए वर्तमान ही सबसे बड़ा सच है।

किंतु मालती का परिवार ऐसा नहीं है। मालती और अमूल्य, परंपरागत ढंग से विवाहित दंपति हैं। जिला हावड़ा के सजनेपाड़ा गांव के अनंत गड़ाई के बेटे अमूल्य गड़ाई के साथ पास के ही गांव चंडीखोला के केतूदास की बेटी मालती दास के विवाह के समय नाई, पुरोहित, केला, तोरण, मंडपछादन सब कुछ हुआ था। और वही मालती ऐसी हो गई, लड़की को जेल की सजा। कैसी शर्मनाक और घृणास्पद बात है! ...

सरकारी जेल में महिला कैदियों की कोई कमी नहीं है। किंतु मालती को यह क्या पता था। तभी तो, जब उसने हुकुम सुना तो उसे लगा कि भारत की जमीन पर यह पहली घटना है—अतएव, पुलिस के बीच घुसते ही उसे फांसी दे दी जाएगी। ...अगर रस्सी नहीं मिलेगी तो साड़ी तो है न? उसे ही फांसी के काम लाया जाएगा।

किंतु फिमेलवार्ड में घुसते ही मालती आश्चर्यचकित हो गई। इतनी सारी औरतें जेल में भर्ती हैं? बूढ़ी से लेकर जवान और बच्चियों तक।

देख-सुनकर मालती ने 'साड़ी की फांसी' का भय त्याग दिया। सोचा, कितनी यंत्रणा मिलेगी? देखा जाएगा। साड़ी तो हाथ में रहेगी ही।

और वही 'देखना' देखते-देखते दिन-रात, महीने गुजरते चले गए और तीन साल बीत गए। हालांकि यह इतनी आसानी से नहीं कटा, पल-पल काटना पड़ा।

फिर भी उसने काटा।

जेल के फाटक पर आकर उद्भ्रांत होकर मालती ने देखा। वह चिरपरिचित चेहरा कहां है? ...सीधी नाक, चौड़ा माथा, छरहरा बदन और तांबई रंगवाला वह पुरुष यहां कहीं नहीं खड़ा है? क्या उसको यह खबर नहीं है कि आज मालती रिहा हो रही है?

निश्चित रूप से, नहीं तो और सारे दिन तो आता ही था। पैदल ही चलकर आता था। कहता, 'आने-जाने में बहुत सारा समय बर्बाद हो जाता है, काम का भी नुकसान होता है। पैसा भी तो कम खर्च नहीं होता?' मालती ने स्वयं ही कहा था—"तो रोज-रोज आने की कोई जरूरत नहीं है। एक ही बार रिहाई के दिन आ जाना। लौटते समय हम दोनों मां काली के मंदिर में पूजा करके घर लौटेंगे।"

लेकिन अमूल्य कहां है?

वो क्या तारीख भूल गया है?

मालती भौचक्की होकर इधर-उधर देखती रही। जेल के कर्मचारियों ने जेल से बाहर निकलते समय उसके हाथ में एक पोटली पकड़ा दिया था। इसमें मालती की निजी संपत्ति थी, जो कि जेल में घुसते समय उसके पास थी। ...क्या थी? तब डर के मारे उसने शरीर पर एक चादर डाल ली थी और अमूल्य ने उसके साथ एक नया गमछा दिया था, और हाथ में पहनी हुई कुछ प्लास्टिक की चूड़ियां थीं। यह सब किस तरह खोला था मालती ने, याद नहीं। ...इन लोगों ने कुछ पैसे भी दिए हैं राह-खर्च के लिए।

अमूल्य, आया नहीं। काफी दिनों से नहीं आया।

वह स्वस्थ तो है न? बच्चा कैसे है? ...वह तीन साल का बच्चा तो अब छः साल का हो गया होगा।

अमूल्य बच्चे को एक बार भी नहीं लाया।

मालती ने जब लोहे के फाटक से मुंह लगाकर चिल्लाते हुए कहा था—"गोपाल को एक बार भी नहीं ले आए?"

अमूल्य ने उदास होकर कहा था—"मैंने उसको बताया ही नहीं। बोला है कि तुम्हारी मां अपने पिताजीके घर गई है। पिताजी की बीमारी में।"

किंतु पिता की बीमारी कब तक रहेगी, और यदि बीमारी ठीक हो गई तो, फिर भी मां पिता के घर क्यों रुकी हुई है? यह प्रश्न गोपाल ने पता नहीं अपने बाप से किया या नहीं, मालती को नहीं मालूम। गरीब और अभागे लोगों में धैर्य बहुत होता

है। वे अपने लोगों के परदेश जाने के बाद किसी से चार-छ: महीने पर भी खबर मिलने पर आश्वस्त हो जाते हैं कि चलो वे सकुशल हैं। भाग्यवान लोगों की तरह अपने लोगों के साथ हर पल कुशल-क्षेम बतियाने की वे सोच भी नहीं सकते। मालती मुनीम के घर में ऐसा देखती-सुनती रही है। मुनीम की बीवी टेलीफोन पर जोर-जोर से बातें करती रहती है, और बाद में बताती है कि 'बहन से बात हो रही थी।'

"किंतु वह बहन है कहां? मैंने तो कभी देखा नहीं?"

"बाबा रे, देखोगी कैसे? वह तो विलायत में है।"

विलायत से ही बोल रही थी। गरीब लोग यही समझते हैं कि सागर-पार के सारे देशों को विलायत कहा जाता है। वह भी यही समझती है।

भाग्यशाली लोगों का तो—प्यार, उछाह, मन ही क्या, सब कुछ ज्यादा होता है। विलायत में बैठी बहन से जब-तब बातें करती रहती है।

मालती-जैसे लोगों की तो बात ही अलग है।

मालती-जैसों को तो अभी शिक्षा की जरूरत है। मालती उस दिन से सोचती रही है, और गुनती रही है कि जब लौटकर जाऊंगी तो गोपाल तब तक कितना बड़ा हो गया होगा क्या पता। क्या अभी भी वहां पहले-जैसा ही चल रहा है? कौन स्नेह और आत्मीयता दे रहा होगा? अमूल्य के ही हाथ में तो अब खाना पकाने का काम भी हो गया है, दोनों बाप-बेटे क्या खा-पका रहे होंगे। ...उसे रंगाई मिस्त्री का काम भी तो व्यवस्थित करना पड़ता होगा। ...मालती मुनीम के घर से अस्सी रुपए महीना पाती थी, प्लस दोनों वक्त की रोटी, चाय भी तो बच ही जाती थी। वो तो अब चला गया। ...

मुनीम की बीवी के तो रोम-रोम से परिचित है मालती। वह बस्ती की औरतों को बुला-बुलाकर बताती है। अपनी उदारता प्रदर्शित करते हुए बोलती है—"देखती हो, आजकल कैसी-कैसी रंग-बिरंगी साड़ियां पहनने लगी है मालती। ...कुछ ही दिन पहन के दे देती हूं।" ...मालती बोलती—"वो सब हमारे-जैसे बंगाली थोड़े हैं, वहां तो बुढ़िया भी रंगीन चटक कपड़े पहनती है।"

"बंगाली नहीं हैं वो तो ठीक है, लेकिन बातचीत तो वे हमारे साथ हमारे-जैसे ही करती हैं। हमेशा से यहीं तो रही हैं। हर आदमी एक-जैसा थोड़े ही होता है।"

लेकिन अब?

अब मालती मुनीम की पत्नी को दोनों वक्त बिना शाप दिए , कोसे, पानी तक नहीं पीती। मालती का जीवन तो उसके ही कारण बर्बाद हुआ है।

हालांकि यह कहना गलत न होगा कि मालती के मन में भी 'लोभ' तो था ही। किंतु यह भी कहना सच है कि उसकी तरफ से दया और श्रद्धा का भाव ही ज्यादा था। ...कोई अमीर महिला, मालती जैसी तुच्छ औरत का हाथ पकड़कर विनती कर रही है, प्रार्थना कर रही है। उसकी आंखों से आंसू निकल आए हैं। यही दृश्य मालती

को विचलित कर गया था।

नहीं, किसी भी तरफ कहीं भी अमूल्य की छाया तक नहीं है।

धीरे-धीरे अकेले ही मालती आगे बढ़ने लगी। बस किधर से मिलती है? बहुत दिनों से उसने सड़क पर पांव नहीं रखा, आज इस सुबह की किरणों में पांव किस तरह छम-छम कर उठे हैं।

अचानक सामने एक आदमी की छाया उभरी। छाया बहुत लंबी थी। ...कौन हो सकता है? अमूल्य तो नहीं आ रहा?

नहीं। क्षण-भर में ही आशा की किरण बुझ गई।

अमूल्य नहीं है। फ़िर भी एकदम उसी की तरह उठा लंबा बदन, आंख और चेहरा कठोर, चेहरे पर घनी दाढ़ी। लेकिन शरीर का रंग एकदम काला।

आदमी मालती की तरफ सिर से पैर तक गौर से देखकर हंसते हुए बोला—"छुट्टी हो गई?"

मालती चौंक पड़ी।

मालती इतने दिनों तक जेल में थी, आज छुट्टी मिली है, यह जानकर क्या करेगा यह आदमी?

मालती ने एकदम से उत्तर नहीं दिया, बोली—"मैंने आपको पहचाना नहीं।"

आदमी के भी हाथ में एक गठरी थी। उसे शरीर से चिपकाते हुए अपनी भंगिमा बदलकर वह बोला—"पहचान भी कैसे पाओगी? एक साथ तो कभी रहे नहीं। कभी देखा-सुनी भी नहीं हुई। तुम तो चली गई फिमेल वार्ड में। ...मेरी भी आज ही छुट्टी हुई है।"

मालती एक बार फिर चौंकी—'तो यह आदमी भी वहीं कैदी था?'

आश्चर्य, लेकिन मालती का मन उस आदमी को एकदम से अपने-जैसा मानने को तैयार नहीं हुआ। सोचा—'बाबा रे! ये कोई चोर-डकैत तो नहीं!' किंतु अपने बेजार चेहरे पर सौजन्य प्रदशित करते हुए उसने पूछा—"ओ, कितने दिन पहले?"

आदमी बोला—"पता नहीं। इतना हिसाब मुझे नहीं आता। चार साल हुआ होगा। सजा की मियाद जो थी, वही बता रहा हूं।"

मालती ने सोचा—'चार साल। इसका मतलब कि यह मुझसे बड़ा पापी है। इसके बाद सो भी ...लेकिन मैं तो सचमुच की पापी नहीं हूं। दुर्भाग्यवश...'

उस आदमी ने फिर कहा—"देख रहा हूं कि तुम्हारे भाग्य में भी कुछ मेरे-जैसा ही है। ...गेट पर कोई लेने नहीं आया। तुम तो औरत हो—कोई एक आदमी तो—मैं समझता हूं , कोई है नहीं तुम्हारा भी।"

मालती मन-ही-मन 'शॉट' महसूस करती हुई बेजार स्वर में बोली—"होगा क्यों नहीं? पति है, बेटा है। आ नहीं सके। कौन जानता है, शरीर की हालत कैसी होगी?"

"कितने दिन की सजा थी?"

आदमी के प्रश्नों से मालती के तन-बदन में आग लग गई, लेकिन उसी तरह मिजाज दिखाकर भी क्या करेगी? इसी से पूछने से शायद पता चल जाय कि 'पंचाननतला' जाने के लिए बस कहां से मिलेगी। कितने नंबर की लेनी होगी। वह अनिच्छापूर्वक बोली—"तीन साल।"

"ओ। ...तो जाओगी कहां?"

मालती के हाथ चांद लगा, बोली—"पंचाननतला। कौन सी बस लेनी होगी?"

आदमी एक बार फिर भंगिमा बदलते हुए बोला—"इस शहर में पंचाननतला एक तो है नहीं। कई एक हैं।"

"ओ मां!" बात तो सुनो। हावड़ा में पंचाननतला कितने हैं?"

"ओ! हावड़ावाला पंचाननतला! वो तो बहुत दूर नहीं है। मैं भी चल रहा हूं, चलो दिखा देता हूं।"

मालती ने सोचा, अचानक यह आदमी इतनी हमदर्दी क्यों दिखाने लगा? कहीं इसकी नीयत तो नहीं खराब है? किसी उल्टी-सीधी बस में बिठाकर मुझे कहीं और ले जाने का षडयंत्र तो नहीं कर रहा है! देख रहा है कि एक लावारिस औरत अनजान बनी घूम रही है। ...नहीं, बस, गाड़ी में तो धोखा हो नहीं सकता है। और जो लोग चढ़ रहे होंगे उनसे पूछ लूंगी। ...

फिर बोली—"क्या आप मुझे बताएंगे कि आपको कहां जाना है?"

"मुझे?" आदमी काले-कलूटे मुंह से सफेद दांत निकालते हुए हंसा—"मेरा कोई ठौर-ठिकाना नहीं है। कहीं भी रह जाना होगा। ...चलो उधर ही रह लूंगा।"

लेकिन दो-चार कदम आगे चलकर ही बोला—"मुझे बहुत जोर की भूख लगी है। ...थोड़ा-सा कुछ खा लेते तो अच्छा रहता। वो उस तरफ एक चाय की दुकान दिखाई दे रही है..."

ऐसा सुनते ही मालती को भी याद आया कि उसे भी तो खूब भूख लगी है। किंतु अंततः एक चाय पी लेने से तो मिटेगी नहीं। ...बिना किसी प्रतिवाद के उसके साथ आगे बढ़ ली।

चाय की दुकान क्या थी, रास्ता छोड़कर ऊबड़-खाबड़ जगह पर बनी एक छावनी थी। सामने एक फटे-चिथड़े ढंग की लंबी बेंच पड़ी थी। दोनों बेंच पर बैठ गए। आधे घुटने तक अपना पाजामा ऊपर चढ़ाते हुए वह उदार मन से बोला—"दो चाय और दो बढ़िया बिस्कुट। ..."

मालती गठरी का मुंह खोलने का उपक्रम करते हुए बोली—"अपना पैसा मैं खुद दूंगी।"

आदमी हाथ से रोकते हुए बोला—"रुको न! पुरुष के होते हुए महिला चाय का पैसा दे, अच्छा नहीं लगता।"

मालती ने फिर एक बार तीखी नजर से देखा। बहुत घाघ लग रहा है। धीरे-

धीरे फंसाने की कोशिश कर रहा है। और दिखाने के लिए कैसा उदास-सा अलग-थलग-सा भाव बनाए हुए है। तभी एक अवसर पाकर मालती बोली—"कोई जान नहीं, पहचान नहीं। आपके पैसे से कैसे खा सकती हूं?"

"जान-पहचान नहीं है, वो तो ठीक है।" आदमी ने हंसते हुए कहा—"लेकिन शास्त्र भी नहीं पढ़ा है, ऐसा तो नहीं है।"

"शास्त्र?"

"हां, शास्त्रों में लिखा है कि दो आदमी अगर ढाई कदम भी साथ चलते हैं तो वे दोस्त हो जाते हैं। तो हम तो इतनी दूर आ गए हैं। ...है कि नहीं!"

मालती ने शास्त्रों की बात स्वीकार कर ली।

बिस्कुट देते हुए आदमी ने पूछा —"केस क्या था?"

"आं! क्या कहा?"

"बोला कि, तुम्हारा केस क्या था?"

आदमी को देखने से अब वैसा संदेह नहीं रह गया मन में। पता नहीं यह शास्त्र-वाक्य का प्रभाव था या कुछ और।

मालती ने धीरे से कहा —"वह बहुत लंबी कहानी है। एक पाप और दंड। केस तो था बच्चा-चोरी का।"

"बच्चा-चोरी!"

"हां तो। दो दिन का बच्चा। अस्पताल से बाहर करके ले आते समय..."

अचानक मालती के भीतर एक तूफान-सा उठ खड़ा हुआ। हालांकि अपना कैद का इतिहास उसने जेल की दो-चार लड़कियों से बताया भी, लेकिन शायद उन्हें विश्वास ही नहीं हुआ। ...और यह आदमी विश्वास करेगा! भीतर की दुःख-आवेग-ज्वाला अचानक बाहर आने के लिए जोर मारने लगी। और उसने एक अद्‌भुत कहानी सुनाई। ...अथवा अद्‌भुत नहीं, इस दुनिया में इस तरह की बातें तो अक्सर ही होती रहती हैं। पंचाननतला में रहते हुए मालती को यह पता ही नहीं था।

मालती एक बहुत ही रईस आदमी के घर में काम करती थी। उस आदमी की 'बड़ा बाजार' में गद्दी है। दो-दो गाड़ियां हैं। ...किंतु एक चीज नहीं है। जिसे शांति कहते हैं।

दो-दो बेटे हैं। वे अपने बाप का बिजनेस नहीं देखते। बहुत पढ़ाई-लिखाई कर ली है। वे दूसरे के घर की चाकरी को अच्छा समझते हैं। अपने बीवी-बच्चों के साथ एक दिल्ली और दूसरा बंबई जाकर बस गया है। ...एक बेटी है, वह भी दूर ही है। बीकानेर में उसके ससुर का बहुत बड़ा बिजनेस है। लेकिन बेटी का विवाह हुए छः-सात साल हो गए , कोई संतान नहीं है। ...

बेटी की चिट्‌ठी से पता चलता है कि ससुराल में इस बात को लेकर उसे काफी दुःख उठाना पड़ता है। पति प्रायः अपमानित करता रहता है एवं सास बार-बार चेतावनी

देती रहती है कि एक साल और देखूंगी, नहीं तो फिर बेटे की दूसरी शादी कर दूंगी। ...संतान न होने पर डाइवोर्स का कानून है। ...यही चल रहा था। और डर के मारे बेटी सूखकर कांटा हो गई थी। तो भगवान की दया से इतने दिन बाद उसको संतान की संभावना दिखाई दी। तबीयत बहुत खराब थी। सास ने बहू को मां-बाप के पास भेज दिया था एवं चेतावनी दे दी थी कि...'गोद में बिना बच्चा लिए बेटी को वापस नहीं भेजना। बेटा चाहिए। वंश का वंशधर। इतनी संपत्ति का वारिस कौन होगा, अगर बहू 'फेल्योर' हो जाएगी तो?'

किंतु भाग्य ने निर्लज्ज परिहास किया।

उस उत्पीड़िता लड़की को पुत्र तो पैदा हुआ, किंतु मृत। लड़की शायद उसी वक्त आत्महत्या कर लेती, अगर उसमें उठ सकने-भर की क्षमता होती। जैसे-तैसे उस बूढ़ी महिला ने उसे बचा लिया। फिर बर्तन-बासन मांजनेवाली उस लड़की मालती के पास आकर रोने लगी। 'अब ऐसा करना होगा, कि कहीं से भी एक नवजात शिशु ले आकर उसे देना पड़ेगा।'

इसके लिए उन्होंने अपने गले का दस तोले का पक्के सोने का हार उतारकर मालती को दे दिया और बोली कि इसके लिए चाहे जितनी भी घूस की जरूरत होगी वे देने को तैयार हैं। चाहे तुम्हारी बस्ती से हो, या किसी अपरिचित अस्पताल से हो। अस्पताल की आया से दोस्ती करके अथवा जमादारिन को घूस खिलाकर यह काम किया जा सकता है।

मालती की द्वंद-दुविधा को शांत करते हुए उन्होंने उपाय भी सुझा दिया—"अरे बाबा, अस्पताल से तो कुत्ते, बिल्ली, सियार बच्चे लेकर अक्सर भाग जाते हैं। देख-रेख के अभाव में कितने बच्चे तो मर ही जाते हैं और जो बच जाते हैं वे सब दीन-दुखी घरों के कुत्ते, बिल्लियों-जैसे बच्चे होते हैं। ...इनमें से एक को अगर उस कूड़े के ढेर से उठाकर राजसिंहासन पर बिठा देती हो तो वह पाप नहीं, बल्कि पुण्य ही होगा। ..."

जो कि मालती-जैसी महिलाएं इस मालकिन-महिला का पैर तक छूने की हिम्मत नहीं कर पातीं, वही महिला आज मालती का हाथ पकड़कर उसके सामने चिरौरी-विनती कर रही है, जैसे काकपक्षी की चतुराई नहीं चल पा रही हो।

मालती ने सचमुच काकपक्षी जनसमाज में किसी की चतुराई नहीं चलने दी—सिर्फ अपने पति को छोड़कर। कहा था—"सोचकर देखो, पाप नहीं, बल्कि पुण्य ही होगा।" ...इसके अलावा दस तोले सोने का हार हाथ में पाकर तुम लोग अब रंगाई मिस्त्री का काम और पंचाननतला बस्ती छोड़कर अपने गांव में जाकर पहले की तरह फिर दुकान खोल सकोगे।"

आदमी ने हैरानीपूर्वक पूछा—"गांव और घर क्या तुम्हारे नहीं हैं?"

इस सवाल के जवाब के पीछे भी कई कहानियां हैं। ...हैं नहीं, बल्कि थीं।

चिउड़ा, लाई, बतासा और गुड़ की दुकान थी। किंतु दसेक साल पहले अकाल के समय जब अनाज के लिए हाहाकार मचा था, कहां है चिउड़ा, लाई, मूढ़ी? ... चावल के बटवारे को लेकर हंगामा खड़ा हो गया था, और इधर बच्चे-बच्चे भूख से चिल्लाने लगे थे।

'धत्तेरे की। रोज-रोज की यह अशांति अब सहन नहीं होती। यहां से हम दोनों शहर जाकर मेहनत-मजदूरी करके जीवन बिताएंगे'—यही सोचकर अमूल्य अपनी पत्नी के साथ शहर आ गया था।

तब गोपाल नहीं पैदा हुआ था। वे ही दो प्राणी थे।

उनकी जिंदगी ठीक-ठाक ही चल पड़ी थी।

यद्यपि बीच-बीच में अमूल्य कहता—"इतनी दूर आकर इस बस्ती की किच-किच तो और भी अच्छी नहीं लगती। तब तक उसने रंगाई का काम अच्छी तरह सीख लिया था। तभी अचानक वह मुनीम की बीवी उनकी जिंदगी में काल बनकर आ गिरी थी।

मुनीम की बीवी के दिए पैसे (खर्च-वर्च) में से आधे अमूल्य के पास रखकर आधे को काम में लगाने की सोच उसने आंचल के कोने में बांध लिया। 'सांतारगाछि के निहायत घटियो किस्म के अस्पताल से जमादारनी के माध्यम से काम बन सकता है।' और जिस आनंद और आह्लाद के साथ उसने आचंल के कोने में पैसे बांधे थे उससे ऐसा लग रहा था कि यह मालती के लिए कोई पुण्य का काम हो। वह अधेड़ महिला थी। कुली बस्ती की रहनेवाली। पांच-सात बच्चों की मां। ऐसा भी नहीं कि वंश चलाने का लालच था उसमें। फिर भी वह बच्चे जनने के लिए अस्पताल आई हुई थी। '...हर साल बच्चे जनने के लिए अस्पताल आती है, लेकिन बच्चे पैदा होते हैं जैसे बिल्ली के बच्चे होते हैं। मोटे-ताजे गोरे। ...इसके बाद उनकी हड्डी-चमड़ी सब काली हो जाती है और सड़क पर मारे-मारे फिरते हैं। इस बार जो होगा उसको लिए जाना।'

सब कुछ पक्का हो गया था।

शाम के समय मालती बच्चे को गोद में लेकर रिक्शेवाले से उसे अपना बच्चा बताते हुए चलने को कहा था। किंतु अंततः सुरक्षित नहीं रह पाई। शायद उन जमादारिनों के बीच बटवारे को लेकर कुछ लफड़ा हो गया था और उनमें से ही एक ने उसे फंसा दिया था। ...

मालती मुनीम के घर के पास आकर पकड़ी गई थी। किंतु उसने अपनी शपथ का पूरी तरह पालन किया। कह दिया कि अपने स्वार्थवश उसने ऐसा किया था।

किंतु उसकी स्वीकारोक्ति के बाद क्या उसे किसी ने छुड़ा दिया?

मालती को सजा हो गई।

इस प्रकार छोटे-मोटे सभी असामियों को जेल में भर देने के बाद भी जेलखाने

की मर्यादा को बचाए रखना होता है।

वे दोनों और एक चाय पी लेने के बाद उठ गए। चलते-चलते मालती बोली—"अपनी बात आपको बताकर मन हल्का हो गया। लेकिन मैं तो अपनी ही सुनाए जा रही हूं। ...आपकी कहानी तो कुछ सुनी ही नहीं।"

"मेरी कोई कहानी नहीं है। जेल का अन्न-जल तो अपना नसीब बन गया है।"

"आं! क्या इसके पहले भी आ चुके हैं?"

"और क्या? मैं तो किराए का गुंडा हूं। कहीं अगर जमीन-जायदाद के संबंध में लाठीबाजी की जरूरत पड़ती है तो निकुंज को याद किया जाता है। इस बार थोड़ी-सी गलती हो गई थी। एक बड़ी पार्टी के आदमी का माथा फूट गया और वह मर गया। और मुझे कैद हो गई। किसी ने छुड़ाने की चेष्टा भी नहीं की।"

मालती आश्चर्य से उसकी तरफ देखती रह गई। आदमी ने कितनी सहजता से अपना अपराध स्वीकार कर लिया था।

"तो आपका नाम निकुंज है? ...गांव-घर कहां है?"

"धत्!... न तो अपना कोई घर है, न कोई गांव।"

"ओहो। कहीं तो एक दिन पैदा हुए होंगे? मां-बाप भी रहे होंगे?"

"नहीं। वो सब मैंने कभी देखा नहीं। मैं अपने-आपको भुईफोड़ समझता हूं। ...अब चलो, देखता हूं तुम्हारे पंचाननतला में नंदीबाबू की बस्ती। ..."

"लेकिन वहां कौन-सा परमधाम है?"

मालती की आंखों में जो चित्र था वह लपलपाकर जल उठा। ...उस दिन घर से निकलने से पहले जो अपना फूलोंवाला ब्लाउज और गोपाल का नीला हाफ पैंट बाहर फैला आई थी, आज बस से उतरते ही वह भी सामने दिखाई देगा, यही सोचते हुए वह जल्दी-जल्दी बस पर चढ़ गई।

लेकिन कहां क्या है?

कहीं रास्ता भूलकर मालती कहीं और तो नहीं चली आई?

निकुंज बोला—"लगता है, तुम भूल गई हो। किसी और तरफ जाना है शायद।"

भूल? तुम्हारे कहने से भूल गई हूं? ये स्कूल और इसके बाद जदू मोदी की दुकान ...उसके बाद ...

उसके बाद? उसके बाद क्या ये ऊंचे-ऊंचे घर? ...नए-नए रंगाई किए गए खिड़की, दरवाजे, और बरामदों में लटकती हुई रंगीन साड़ियां? खिड़कियों पर पर्दे? इन सब दरवाजे-खिड़कियों पर किसने रंग किए हैं?

मालती दिशाहारा की तरह ऊपर मुंह उठाए जहां की तहां खड़ी रह गई।

निकुंज पंसारी की दुकान पर जाकर पता कर आया।

"नंदीबाबू बस्ती की जमीन बिक गई और वहां अब ये सब फ्लैट बन गए हैं।"

"और, बस्ती में जो लोग थे, उनका क्या हुआ?"

"उनको ढूंढ़ने कौन गया था?"

"किसी से कुछ बोलकर नहीं गए?"

"कौन यहां किसी का बहनोई-दमाद बैठा है? आयं? ...कौन यहां किसी का खजाना लेकर बैठा है?"

मालती सड़क के बीच से ही ऊंची आवाज में बोली—"इतने लोग अपने बाल-बच्चे और गृहस्थी के साथ उजड़कर चले गए और किसी ने उनका पता-ठिकाना तक जानने की कोशिश नहीं की? इतना पत्थर दिलवाले लोग हैं इस मुहल्ले में? किसी में माया नहीं है? हृदय नहीं है?"

जिन लोगों के कानों में यह आवाज गई वे उसे पागल समझकर 'फिस्स' से हंसते हुए आगे बढ़ गए।

'अब क्या करोगी?'

निकुंज रास्ते के किनारे खड़े एक पुराने बरगद की जड़ों पर बैठकर बीड़ी सुलगाते हुए बोला—"तुम्हारी नंदीबाबू बस्ती तो उजड़ गई, वहां अब तो एक परी का राज्य आकर बस गया है। अब?"

मालती अचानक फफककर रो पड़ी—"ओ रे मेरे गोपाल रे! तुम्हें कौन किधर ले गया रे?"

निकुंज चुपचाप बैठा रहा और बैठे-बैठे बीड़ी खत्म करने लगा। किसी तरह की कोई सांत्वना देने की कोशिश नहीं की।

थोड़ी देर बाद मालती अपने-आप चुप हो गई और बोली—"अब और जिंदा रहने का क्या फायदा। जाकर गंगा की गोद में सो जाऊंगी। तुम मुझे गंगा जाने का रास्ता बता दो। इसके बाद तुम्हारी छुट्टी।"

निकुंज बोला—"तो चलो। मेरा भी सिर झन्न-झन्न कर रहा है। एक डूबकर की गई आत्महत्या भी देख लूंगा।"

तो क्या उसे डुबोने के लिए निकुंज ही उठा?

मालती नहीं उठी?

वह सब संभव नहीं हो सका।

निकुंज बोला—"एक ही यात्रा में दो परिणतियां? चलो डूबने-डाबने का विचार त्यागकर हम आस-पास देखें तो कहीं कुछ खाने-पीने लायक कोई होटल है।"

"इतना पैसा कहां है?"

"हो जाएगा।"

"तो मेरे पास जो है वो ले लो। देखती हूं, ढाई रुपए दिए थे उसने।"

निकुंज हंसा—"बाकी ढाई रुपए मार गया होगा और क्या?"

भात मिल गया। भात-दाल और एक सब्जी। इतना ही अमृत था। एक-एक पान

भी खाया।

मालती ने एक कारखाने के शेड के नीचे थोड़ा आराम करने की गरज से बैठते हुए आसमान की तरफ ऊपर देखा। शाम ढल रही थी। मालती ने कहा—"अब तक तो जैसे-जैसे गुजर गया। लेकिन रात होने पर कहां जाएंगे? जेल में रहकर कम-से-कम इसकी चिंता तो नहीं थी।"

निकुंज अपने काले-कलूटे चेहरे के भीतर से अपने सफेद दांत निकालते हुए हंसा और बोला—"फिर से जाना चाहती हो क्या? कहो तो चलकर तुम्हें फिर से हिरासत में डलवा दें। ...वहां मेरे कई दोस्त-मित्र हैं।"

मालती बोली—"गले में फांसी न लगा लूंगी जो फिर वहां जाऊंगी।"

इसके बाद मालती एक बचकानी जिद कर बैठी—"आज सुबह से ही आपको मेरे कारण बहुत धक्के खाने पड़े। न कोई जान न पहचान। आपने अपनों से भी ज्यादा किया। तो एक आखिरी काम मेरा और कर दीजिए कि मुझे आप एक ठिकाने पर पहुंचा दीजिए। इसके बाद आपकी छुट्टी।"

"किस जगह? आयं?"

"और किस जगह? उसी हावड़ा जिला के सजनेपाड़ा गांव के ईश्वर अनंत गड़ाई के घर। मालती के लिए वही एक ठिकाना तो बच गया है अब।"

आंचल से आंख पोछते हुए मालती ने कहा—"मेरा मन कह रहा है कि बस्ती उजड़ जाने की पीड़ा मन में लिए मेरा आदमी बेटे को लेकर वहीं गया होगा। वहां तो अभी भी चाचा और जेठ रहते ही हैं। बेटे को देख लूंगी तो मेरा जी जुड़ा जाएगा। ...वह यहां से दूर भी नहीं है। वहीं हावड़ा की गुमटी से बस छूटती है। बसों के ऊपर लिखा होता है—चंडीतला, सजनेपाड़ा बाकुली..."

"अरे मैं सब जानता हूं। उन सब जगहों से मैं खूब अच्छी तरह परिचित हूं।"

"आयं? सचमुच? तभी तो ईश्वर ने तुम्हें रास्ते में मुझसे मिला दिया। अब मुझे वहां जल्दी से पहुंचा दो। ...मैं समझ रही हूं कि तुम्हारे ऊपर बहुत जुल्म हो रहा है, किंतु जब तक तुम मेरे लिए कोई व्यवस्था नहीं कर देते तब तक तुम्हारी छुट्टी भी नहीं है।"

अमूल्य गड़ाई की घरवाली मालती गड़ाई के लिए कोई व्यवस्था किए बिना एक किराए का गुंडा निकुंज दास की छुट्टी क्यों नहीं हो सकती? यह बात तो मालती के माथे में घुसी ही नहीं।

निकुंज बोला—"जुल्म की बात नहीं है। किंतु अगर तुम्हारे सजनेपाड़ा गांव का गड़ाई भवन भी नंदीबाबू बस्ती की तरह उजड़ गया हो तो?"

मालती ने आश्वस्त स्वर में कहा—"गांवों में शहरों की तरह इतनी जल्दी चेहरे नहीं बदला करते। बीस-पचास साल तक एक-जैसे ही बने रहते हैं।"

"तब फिर क्या करना चाहिए? इसी बंद कारखाने के किनारे शेड में इसी तरह

बैठकर रात गुजार दें और कल भोरवाली बस पकड़ लेंगे। जिस पर लिखा होगा—चंडीतला, सजनेपाड़ा, बाकुली।''

मालती भले ही गरीब परिवार में पैदा हुई है, लेकिन उसके पास किसी विषय पर सोचने-समझने की बुद्धि बहुत अच्छी है। ...गांवों के चेहरे बीस-पचास साल तक वैसे ही रहते हैं—इसमें उसने कुछ गलत नहीं कहा है। बाहर से भले ही इधर-उधर से बदल जाएं , लेकिन भीतर से बिल्कुल एक-जैसे ही होते हैं।

मालती बस में बैठी। जैसे ही कोई बस स्टैंड आता वह चिल्ला उठती—''देखो-देखो, मैं कह रही थी न, 'कुछ भी नहीं बदलता', वो देखो 'शीतलतला' पार हो गया और वो है देखो 'बूढ़े शिव' का मंदिर ...वो देखो बरगद का पेड़...''

उतरनेवाली जगह पर कुछ भीड़, कुछ कोलाहल। चाय की दुकान के सामने मिट्टी के कुल्हड़ के टुकड़े।

निकुंज बोला—''इस बार रास्ता पहचानने की जिम्मेदारी तुम्हारी। पहचान सकोगी?''

मालती ने कुछ डरते हुए कहा—''तुम मुझको यहीं छोड़कर लौट जाओगे?''

''नहीं, जाऊंगा नहीं।'' ...यहीं रहूंगा, लौटती बस के छूटने तक। गांव की बहू इतने दिन बाद एक पराए पुरुष के साथ लौटेगी तो लोग इसे अच्छी निगाह से नहीं देखेंगे।''

ठीक। बात में औचित्य है।

मालती दो कदम आगे बढ़ी, फिर मुड़कर बोली—''तब तक तुम दुकान पर जाकर चाय-वाय पी लो।''

''वो तो मैं कर लूंगा। ...घंटे-दो घंटे बाद ही वापसी की बस मिलेगी। अगर तब तक तुम नहीं लौटोगी तो मैं समझूंगा तुम्हारे ससुर का घर अभी सलामत है। ...''

मालती खड़ी रही।

''क्या हुआ, रास्ता याद नहीं आ रहा?''

''नहीं-नहीं, वो तो मुझे खूब याद है। सोच रही हूं कि इसके बाद तो तुमसे मुलाकात नहीं होगी?''

निकुंज बीड़ी सुलगाते हुए बोला—''और मुलाकात की जरूरत ही क्या है? एक ही दिन की तो दोस्ती है।''

मालती इधर-उधर देखकर बोली—''वो तो है। तुमने मेरा इतना उपकार किया और घर के पास आकर इस तरह लौट जाओगे? एक गृहस्थ के घर से—''

निकुंज के कठोर चेहरे पर एक हल्की-सी मुस्कान बिखर गई। फिर बड़ी आजादी से बोला—''अगर ऐसा ही है तो वहां जैसी सुविधा हो, जलपान सजाकर किसी के हाथ पठा देना। ...मैं तो यहीं हूं।''

''वो तुमको पहचान पाएगा?''

"मैं खुद ही उसे पहचान लूंगा।" कहकर उसने बीड़ी की ठोंटी जमीन पर रगड़ कर बुझाते हुए निश्चिंत भाव से धुआं मुंह से बाहर निकाला ...।

किंतु ससुर का घर सलामत है कि नहीं, क्या यह देखने के लिए मालती हमेशा वहां आती रही है?

अचानक सामनें ससुर के कुलदीपक दिखे। मालती को देखते ही छिटककर बोले—"कौन?"

मालती इस सवाल का जवाब ठीक से न दे सकी। विचलित स्वर में बोली—"जो मैंने सोचा था वही हुआ। मैंने ठीक समझा था। नंदीबाबू बस्ती उजड़ जाने के बाद बेटे को लेकर तुम यहीं आ गए। ...डर लग रहा था कि कहीं गड़ाई-भवन भी न उजड़ गया हो? कल ही मैं रिहा हुई हूं।"

अमूल्य गड़ाई का चेहरा कठोर हो उठा। दांत पीसते हुए गला दबाकर बोला—"कल रिहाई हुई और आज दौड़ी-दौड़ी यहां आ गई। अच्छा तरीका है। ...कैद की सजा भुगतकर आनेवाली औरत गड़ाई के घर में घुस आई है।"

मालती का चेहरा फक्क पड़ गया। उसने गौर से देखा—'सामनेवाला आदमी अमूल्य ही तो है न?' धीरे से बोली—"तो और कहां जाऊंगी?"

"क्यों, यमराज का घर नहीं था क्या? यमराज का घर? गले में फांसी नहीं लगा सकती थी? जाओ-जाओ। खबरदार, आगे बढ़ने की कोशिश मत करना।"

"मुझे ताड़ना दे रहे हो?"

अमूल्य गला दबाकर गुस्से में बोला—"नहीं तो क्या, कोल्हू की तरह चक्कर लगाकर आई हुई चोर-चोट्टा बीवी को माथे पर चढ़ा लूं? जाओ! जाओ!"

मालती रोते हुए बोली—"चोरी-चिकारी मैंने अपने लिए नहीं की। तुम्हारे लिए ही की थी। और अगर कोल्हू की तरह चक्कर काटकर आई बीवी को उल्टे पांव भगा देना ही तुम्हें धर्म नजर आता हो तो भगा दो। लेकिन मेरे गोपाल को मुझे दे दो।"

"गोपाल को? वाह रे वाह! अच्छा तरीका है। ईश्वर अनंत गड़ाई के पोते को तुम्हारे हाथ में दे दूं? मैंने बोल दिया न, बहुत बक-बक मत करो। जाओगी कि गरदन में हाथ लगाकर धक्का देना पड़ेगा?"

मालती का चेहरा और आंखें सख्त हो आईं। बोली—"इतना करने की कोई जरूरत नहीं है। एक बार गोपाल को अपनी आंखों से देख लूंगी तो खुद ही चली जाऊंगी।"

"ओ हो हो! बहुत अच्छा झमेला खड़ा हो गया है। गोपाल समझता है कि उसकी मां मर गई है। गांव के लोग भी यही जानते हैं। और अचानक उसकी मां प्रेतनी के रूप में यहां आकर नाटक कर रही है। तुम जाओगी कि नहीं?"

तब तक दो-एक लोग आ गए।

"क्या हो रहा है? आंय? क्या हो रहा है?"

"क्या कहूं? पता नहीं कहां से एक पगली आ गई है। कितना भी कह रहा हूं, जाने का नाम ही नहीं लेती। ..."

"क्यों रे? क्यों रे?"

आगे बढ़कर वे सब एक उत्फुल्ल भाव से कहने लगे —"अरे 'पागल' 'पगली' बहुत उम्दा चीज है। बिना किसी खरच के कुछ देर मजे लिए जा सकते हैं। ...किंतु उन्हें यह सुअवसर नहीं प्राप्त हो सका। मालती उल्टे पांव तेजी से बस स्टैंड की तरफ बढ़ गई।

निकुंज हंसते हुए बोला—"क्या हुआ? ससुर का घर उजड़ गया न?"

मालती हांफते-हांफते बोली—"हां।"

निकुंज अनासक्त स्वर में बोला—"अभी 'कायांबजार' के लिए एक ट्रक जा रहा है। मैंने ड्राइवर से बात कर ली है। कच्चे कुल्हड़ों के बीच में थोड़ी-सी जगह बनाकर बिठा देगा।"

ट्रक चलने ही वाला था।

निकुंज पहले जल्दी से ऊपर चढ़ गया और झुककर एक हाथ बढ़ाते हुए मालती को पकड़कर ऊपर चढ़ा लिया और थोड़ी-सी जगह बनाकर बोला—"बैठ जाओ।"

मालती को समझ में नहीं आया कि ये वही कठोर हाथ हैं जो कि एक आदमी का सिर फोड़ देने के कारण चार साल की सजा काटकर रिहा हुए हैं। मालती एक क्षण के लिए साड़ी से फांसी लगाने की बात भूल गई। धीरे-से बोली—"तुम्हें वहां से अभी रिहाई नहीं मिली?"

"मिलती भी कैसे?"

उसने फिर एक बीड़ी सुलगा ली।

चारों तरफ तरह-तरह का शोर। और इसी शोर के बीच मालती ने एक निःश्वास लेते हुए मन-ही-मन कहा--'एक बार इसी तरह इसी सजनेपाड़ा गांव से हम दो लोग भाग्य पर भरोसा करके बाहर निकले थे, और आज फिर वही घटना, उसी तरह का वृत्तांत घट रहा है।

मुक्तिदाता

''आदमी के ऊपर भरोसा करना सीखो, देबू , दुनिया में हर चीज अविश्वसनीय नहीं होती। शायद परिस्थितियों के दबाववश...''

सत्यव्रत अपने स्वभाव के अनुसार भारी और मद्धिम स्वर में बोले—''मैं कह रहा हूं न, बच्चा है, अपराधी नहीं है। परिस्थिति के दबाववश...''

सत्यव्रत की आवाज जितनी ही भारी और गंभीर थी, पुत्र देवव्रत की आवाज उतनी ही हल्की और ऊंची। देवव्रत में बहुत कुछ अपनी मां की तरह के गुण हैं। मां और बेटा दोनों सत्यव्रत को 'सुस्त' और 'खयालों में जीनेवाला' समझते हैं।

अतएव पिता के इस मानवतावादी और आशावादी वाक्य को सुनकर देवव्रत को बचकानांपन लगा। वह अपनी ऊंची आवाज को थोड़ा और ऊंचा करते हुए बोला—''आपकी उस सतयुगवाली सोच आज के इस जमाने में भी अटल है, पिताजी। हमें बदमाश को थाने में ले जाकर सौंप देना चाहिए। विश्वास! इस आदमी के ऊपर भरोसा करना होगा! आप कहां हैं? किस स्वर्गीय स्वप्नलोक में जी रहे हैं आप?''

सत्यव्रत को हंसी आ गई। बोले—''शायद मूर्खों के स्वर्ग में। फिर भी स्वर्ग-सुख लाभ के खाते में जमा हो रहा है। अगाध-अनंत नरक से यह बुरा तो नहीं है?''

देवव्रत और चिढ़ गया। बोला—''मैं कहता हूं , बहुत बुरा है। एक झूठे और रंगीन चश्मे के भीतर से दुनिया को रंगीन देखना न सिर्फ मूर्खता है, बल्कि मिथ्याचार भी है। आप क्या कहना चाहते हैं कि आप दुनिया में हर आदमी के ऊपर भरोसा करते हैं?''

सत्यव्रत फिर एक बार हंसे। बोले—''करता हूं, ऐसा तो नहीं कह सकता, फिर भी विश्वास करने की चेष्टा करता हूं। हां, आज के 'केस' में मैं चेष्टा नहीं, बल्कि विश्वास कर रहा हूं। बच्चे की जात अपराधी नहीं हो सकती।''

देवव्रत के स्वर में एक व्यंग्य उतर आया। उसके होठों के कोने में एक व्यंग्यात्मक हंसी उतर आई।

वह बोला—''अगर कोई बच्चा पक्के चोर की तरह पाइप के सहारे ऊपर चढ़कर घर में घुस आए , फिर भी!''

''वो तो मैं देख ही चुका हूं कि वह आया है। लेकिन बात यह है कि...''

बात क्या है, सत्यव्रत पूरा न कर सके। रसोई घर की तरफ से नीहारकणा आ गईं। पिता-पुत्र की बातों का कुछ अंश उनके भी कानों में पड़ चुका था। तभी इस रंगमंच पर उनका आविर्भाव हुआ था।

नीहारकणा के हाथों में एक गीला गमछा था और वे उसे ही झाड़ते-झाड़ते चली आ रही थीं। और वे उसे झाड़ते-झाड़ते ही बीच में बोल पड़ी थीं—''क्या बात है

रे देबू? उस अभागे लौंडे को पुलिस को न देकर वैसे ही छोड़ देना होगा?''

देवव्रत व्यंग्य और क्षोभ के स्वर में बोला—''अगर छोड़ देना होता तब तो फिर भी अच्छा था। उसे घर में रखना होगा और अपने अच्छे व्यवहारों से उसको बदलना होगा।''

नीहारकणा लगभग चिल्लाने-जैसी आवाज में बोलीं—''और तुम सुने जा रहे हो? तुम्हें इतना भी समझ में नहीं आ रहा कि इस आदमी का दिमाग खराब हो गया है? इनकी बात छोड़ो। इस मुंहझौंसे लड़के को थाने में दे आओ। क्या पता, इसी के सहारे किसी बड़े गैंग का पता चल जाय। नहीं, तुम चाय पीकर संतोष को साथ ले कर तुरंत निकल जाओ। हाथ का बंधन खोलने से पहले उसकी जेब टटोल लेना, कहीं कोई चाकू-फाकू न रखा हो?''

सत्यव्रत चौंक पड़े—''क्या! उसका हाथ बांध रखा है?''

नीहारकणा तेज स्वर में बोलीं—''नहीं? हाथ खुला छोड़ देने पर पता नहीं क्या कर बैठे, कुछ पता है?''

सत्यव्रत एकदम धीमे स्वर में बोले—''उस कमरे में बाहर से ताला लगा दिया है कि नहीं?''

''वो तो लगा दिया था। क्या पता, ताला खुला छोड़ देने से वो चाकू-फाकू लेकर मारने को दौड़ पड़े। सांप पर विश्वास किया जा सकता है! जा, देबू! बहू चाय लेकर बैठी है। पीकर उस पाप को विदा कर आओ।''

नीहारकणा ने जितनी आसानी से यह बात कह दी थी कि 'इस आदमी का दिमाग खराब हो गया है' उस बात को देवव्रत ने उतनी आसानी से नहीं लिया; क्योंकि एक पत्नी जितनी आसानी से ताने दे सकती है, उतनी आसानी से बेटा नहीं दे सकता; क्योंकि एक के इस तरह की बातें करने में अपमान नहीं होता है जबकि दूसरे के करने में बहुत अपमानजनक बात है। अगर बेटा विवाहित हो तो और भी।

तभी तो देवव्रत मां के इस जोरदार निर्देश पर भी छूटते ही बोल पड़ा था—''जब तक घर के मालिक की आज्ञा नहीं होगी तब तक यह कैसे संभव हो सकेगा?''

बोलकर चला गया था।

समस्या बहुत जटिल हो गई थी।

पिछली रात, लगभग आधी रात के आस-पास अचानक नीहारकणा की नींद ...ी तो उन्हें महसूस हुआ कि खिड़की से ठंडी-ठंडी हवा आ रही है और बारिश होनेवाली है। इसी के साथ उन्हें याद आया कि कल शाम को अचार का बर्तन तो वे छत पर से लाई ही नहीं थीं। अगर कहीं पानी बरस गया तो सारा अचार चौपट हो जाएगा। तब फेंकने के सिवा और कोई रास्ता भी नहीं बचेगा। यही सोचते-सोचते नीहारकणा आलस त्यागकर बिछौने से उठकर छत पर आईं।

सीढ़ी के दरवाजे में भीतर से सिटकिनी लगी थी। अचानक उन्होंने देखा कि

कोई एक आदमी उसे फटाक से खोलकर निकला चला जा रहा है।

नीहारकणा इतनी डरपोक नहीं हैं जो वे भूत के बारे में सोचेंगी।

फटाक से उन्होंने छत पर की सामने की बत्ती का स्वीच ऑन कर दिया और जोर से बोलीं—"कौन है रे? कौन है वहां?"

वहां जो भी था जब उसकी कोई अवाज नहीं आई कि 'मैं हूं' तब उन्होंने रक्षार्थ चिल्लाना शुरू कर दिया—"चोर! चोर!"

अतएव आस-पास की खिड़कियां खुल गईं और लोग जग गए। शब्दों को लक्ष्य कर सभी लोग आश्चर्य से उसी घर की तरफ देखने लगे और अपनी-अपनी छतों पर चढ़ आए। सभी के हाथों में कुछ न कुछ हथियार था। मालिक की बहू और नौकर संतोष ने मिलकर उसे घेर लिया।

बेचारे चोर को भागने की कोई गुंजाइश नहीं रह गई। हाथों-हाथ पकड़ लिया गया।

बारह-तेरह साल का एक लड़का। फटी हुई एक सूती हाफ पैंट और पीठ पर फटी हुई एक बनियान पहने हुए।

संतोष उसका हाथ पकड़कर खींचते हुए रोशनी के सामने ले आकर खड़ा कर दिया। और उसी समय सबको लगा कि यह चेहरा कुछ पहचाना-पहचाना-सा लग रहा है।

"तू कौन है?"

लड़के ने संतोष की वज्रमुट्ठी की पकड़ को छुड़ाने की कोशिश करते हुए कहा-"कोई नहीं।"

"कोई नहीं? बेटा, बदमाश, शैतान! बोल, कौन है तू?"

उससे कुछ नहीं बोला गया। तभी नीहारकणा की तेज और खोजी निगाह ने सवाल का जवाब तलाश लिया। उनकी तेज आवाज ने रात के आसमान को भी चीर डाला—"तुम पारुल के बेटे कन्हाई हो न?"

लड़का कुछ देर तक वैसे ही गरदन झुकाए हुए खड़ा रहा और हाथ छुड़ाने की कोशिश करते हुए अपना परिचय छिपाने की कोशिश भी करता रहा। "किसी पारुल को मैंने कभी नहीं देखा," बोला, फिर वह रो पड़ा—"हाथ तोड़ डालोगे क्या? मैं कह रहा हूं न, छोड़ दो।"

सत्यव्रत बोले—"छोड़ दो, संतोष। उसकी हड्डी भी टूट सकती है।"

अंततः संतोष ने छोड़ ही दिया।

लड़का हाथ पर फूंक मारकर सहलाते हुए बोला—"ओह! ऐसा मरोड़ दिया, जैसे स्क्रूप टाइट कर दिया हो। उंगलियां तो खुल ही नहीं रही हैं।"

"नहीं, बातचीत के ढंग से लग रहा है कि यह पारुल का बेटा कन्हाई नहीं है।"

पारुल कभी इसी घर में बर्तन मांजने आया करती थी। कन्हाई नाम के अपने ढाई-तीन साल के बच्चे को साथ लेकर काम करने आती थी एवं बच्चे के हाथ में बासी रोटी अथवा पावरोटी का टुकड़ा थमाकर काम में लग जाती थी। किंतु बच्चा रोना नहीं बंद करता था। सत्यव्रत अपने हाथ का अखबार नीचे रखते हुए बोलते—"ओ रे बाबा—ये कन्हाई तो चुप ही नहीं हो रहा! इसे कुछ और दो न, भाई।"

नीहारकणा गुस्से में बोलतीं—"आते ही दे दिया था।"

फिर भी मूढ़ी या बिस्कुट ले आकर दे जातीं। न देने से भी काम नहीं चलता। बच्चे के रोने से तंग आकर अगर काम अधूरा छोड़कर पारुल जाने को मजबूर हो जाती तो? पारुल निहारकणा की बहुत प्यारी थी। जितना ही अच्छा काम करती थी उतना ही उसका नम्र व्यवहार था। काम में मन लगाती थी। कभी तबीयत भी नहीं खराब होती थी उसकी।

नीहारकणा बोलतीं—"तुम्हारा बेटा थोड़ा और बड़ा हो जाय, पारुल, तो मैं उसे स्कूल में भर्ती करा दूंगी, रोना-धोना कम कर देगा।"

बड़े होने पर उसका रोना-धोना कम हो गया। फिर भी स्कूल में भर्ती नहीं हो सका। स्कूल के नाम पर कन्हाई सैकड़ों मील दूर भागता। किंतु वही कन्हाई घरों में खोज-खोजकर कामों में हाथ बंटाता।

"ओह! दादू के जूतों पर इतनी धूल! घर में कोई ब्रश नहीं है?" वह ब्रश खोजकर कर ले आता और जूतों को झाड़कर साफ कर देता।

"ओह, सीढ़ियों पर पता नहीं किसने अखबार फैला रखा है?" और वह बैठे-बैठे सीढ़ियों पर बिखरे अखबार को इकट्ठा करके सीढ़ी की खिड़की पर रख देता।

बहुत फुर्ती से काम करता।

"बाप रे! पता नहीं किसने यहीं पानी फैलाकर बाढ़ ला दी है? मांस का अचार खाने में तो बहुत मजा आता है, क्यों?" और वह एक कपड़े का टुकड़ा लेकर उसे साफ कर देता।

तो इस लड़के को कौन स्कूल भेजने जाय? यह तो अपने-आप नौकर का दर्जा पाता जा रहा था। और तब तक संतोष इस घर में नहीं आया था। बहू भी नहीं आई थी। नीहारकणा को उसकी वजह से बहुत आराम मिलता था। अचानक जवानी में ही हैजे के कारण पारुल की मृत्यु हो गई।

नीहारकणा माथे पर हाथ मारती हुई लोगों से कहती फिरतीं—"मैंने यह तो जरूर सुना था कि बर्तन मांजनेवाली, कपड़े धोनेवाली छोड़कर चली गई है, लेकिन यह कहीं नहीं सुना था कि मर गई है। मन-ही-मन सोच रही थी कि इस बार का उसका महीना उसके घर भेज दूंगी।"

वह बेचारी पारुल अपनी यह दु:खद खबर सुनाकर चली गई। नीहारकणा की

आंखों में सरसों के फूलोंवाला खेत उतर आया। कन्हाई की मां के मर जाने के बाद उसकी बुआ आकर उसे उठा ले गई। तब कन्हाई सात साल का था।

इतने दिनों बाद वही कन्हाई!

कठोर गठन वाला। प्रबल तार्किक चेहरा।

''चोर हो गया है, बदमाश कहीं का? और इसी घर में चोरी करने घुसा था? नमकहराम, पाजी।''

वह बदमाश यह प्रतिवाद कर रहा था कि वह चोरी करने की नीयत से नहीं घुसा था। बल्कि...

''क्या बल्कि? बोल! बोल शैतान, क्या बल्कि?''

''उन सबों ने कहा कि—'तू इस घर की एक-एक चीज के बारे में जानता है, किसी भी तरह इस घर में घुसकर बीच का दरवाजा खोल दे, पांच रुपए देंगे।' ओह! बहुत सिखाया था। पैसा तो खाक मिलेगा, उल्टा पकड़े ही गए।''

ऐसा नहीं कि इतनी बात बता देने से उसको मार पड़नी बंद हो जाएगी। और वह भी तब जबकि देवव्रत और संतोष दोनों वहां उपस्थित हों। बल्कि और जोरदार-जोरदार थप्पड़ पड़ने लगे और साथ ही पुलिस के हाथ में सौंप देने की धमकी भी मिल रही थी।

मार की अतिशयता सहन न कर पाने के बाद सत्यव्रत बोले—''अगर इस अभागे को यहीं 'फिनिश' कर दोगे तो फिर पुलिस को क्या दोगे? तुम्हें यह तो पता है न कि कानून को अपने हाथ में लेना अपराध है? पुलिस अगर उसके बदन पर मार के निशान देखेगी तो हम लोगों को भी चालान कर सकती है।''

पुलिस के डर से नहीं, बल्कि पिताजी के प्रतिवाद के कारण देबू ने उसे पीटना बंद कर दिया। संतोष भी पीछे हट गया। तभी नीहारकणा ने आज्ञा दी कि 'इस नमकहराम को सीढ़ी के नीचे कोयलेवाले कमरे में बंद करके ताला लगा दो। सुबह पुलिस को दे आना।'

तभी कन्हाई ने प्रतिवाद किया—''पुलिस को क्यों? मैंने आपका कुछ चुराया तो नहीं है?''

इस समय सत्यव्रत बोले—''चोरी नहीं की है, लेकिन चोरों की सहायता तो की है? दरवाजा खोलने का मतलब क्या है? मतलब नहीं समझते? छिः, सिर्फ पांच रुपए के लिए तुमने...''

कन्हाई के आक्रोश पर जैसे पानी पड़ गया। और उस पानी से कहीं ज्यादा उसकी आंखों से पानी झरने लगा।

''सिर्फ पांच रुपए। आहा! तीन दिन से कुछ खाया नहीं था, इसीलिए।''

नीहारकणा कड़े स्वर में बोलीं—''देख रहे हो बदमाशी। तीन दिन से पेट में दाना क्यों नहीं गया? तुम्हारा बाप तो मर नहीं गया है?''

"वह एक तरह से मर ही गया है। पता नहीं कहां से एक चुड़ैल को ले आकर घर में सौतेली बनाकर बिठा दिया है। उन्हें अपनी ही हांडी नहीं जुटती। बाद में तो बच्चे भी होंगे।"

"ओह! बातें तो बहुत ऊंची कर लेते हो। तुम्हारी उम्र तो काम करने की हो ही गई है, करते क्यों नहीं?"

कन्हाई अवज्ञा के स्वर में बोला—"ओह, काम। जैसे मेरे लिए ही पूरे देश में काम फैला पड़ा है। कहीं दिलवा दो न काम। देखूं जरा, कितनी ताकत है आप में।"

यह वाचालता और किसी को चाहे जैसी लगी हो लेकिन नीहारकणा की बहू को सहन नहीं हो पाई।

वह उस भीड़ को लक्ष्य करके अथवा शायद आत्मगत भाव से ही बोली—"इस मुक्तांगन में यह नाटक रात-भर ऐसे ही चलता रहेगा क्या? अब मेरा धैर्य जवाब दे रहा है। मैं सोने जा रही हूं" और इतना कहकर जम्हाई लेती हुई वह नीचे उतर गई।

उसी क्षण नाटक का पटाक्षेप हुआ। देबू जल्दी-जल्दी संतोष के साथ उसे ले जाकर सीढ़ी के नीचे कोयलेवाले कमरे में बंद करके ताला लगा आया। उस कमरे में कभी कोयला रखा जाता था, इसलिए उस कमरे का नाम ही कोयलेवाला कमरा पड़ गया था।

उस कमरे में अब क्या है?

क्या नहीं है? कोयला के अलावा सब कुछ है अर्थात् घर के जितने भी फालतू सामान हैं, सब। हालांकि वे सब सामान कभी काम नहीं आएंगे, फिर भी पता नहीं किस जमाने से जान से लगाकर रखे गए हैं। इस कमरे में जो सबसे अधिक मात्रा में हैं वो हैं—तिलचट्टे।

सत्यव्रत एक बार दबे स्वर में बोले—"उस लड़के को उस कमरे में रातों-रात तिलचट्टे साफ कर जाएंगे।"

देवव्रत बोला—"तो ऐसा है कि आप ही ले जाकर उसे अपने कमरे में सुला लीजिए।"

सत्यव्रत फिर भी बेहया होकर (यद्यपि दबी आवाज में ही) नीहारकणा से आग्रह करते हुए बोले—"बोल रहा था कि तीन दिन से कुछ खाया नहीं है—घर में कुछ है नहीं?"

नीहारकणा भस्म कर देनेवाली नजरों से देखते हुए बोलीं—"क्या? उसे इस समय पिंडी पार के खिलाना पड़ेगा? बलिहारी जाऊं। तीन दिन से खाया नहीं। उसकी बात पर विश्वास कर लिया तुमने? उसे खाने की कमी है?"

यह थी पिछली रात की कहानी।

और सुबह की कहानी यों है—सत्यव्रत ने अपने बेटे के सामने इच्छा प्रकट की कि कन्हाई को थाना-पुलिस के हाथों में मत दो। इसे पहले की ही तरह काम पर

लगाकर देखना ठीक रहेगा।

देवव्रत एकदम से गुस्से में बोल पड़ा—"क्या देखेंगे? किसी दिन अपनी गैंग को बुलाकर पूरा घर साफ करवा देगा कि नहीं?"

और संतोष ने झट से जवाब दिया—"उसको अगर रखेंगे तो मैं यह घर छोड़कर चला जाऊंगा, दादा बाबू। बाद में कुकर्म वो करेगा और लगेगा मुझको।"

फिर भी बिना किसी संकोच के सत्यव्रत बोले—"आदमी के ऊपर विश्वास करना सीखो, देबू। दुनिया में हर चीज अविश्वसनीय नहीं होती। शायद परिस्थितियों के दबाववश..."

और फिर बोले—"मैं कहता हूं कि वो अभी बच्चा है, अपराधी नहीं है। उसे एक चांस दिया जाना चाहिए। शायद उसका जीवन सुधर जाय।"

नीहारकणा ने तो इस बात को एक पागल आदमी का प्रलाप कहकर उड़ा दिया था, किंतु देबू ने घोषणा कर दी थी कि जब तक घर के मालिक का हुक्म नहीं मिलता, वह कुछ भी नहीं कर सकता।

किंतु किसी ने यह सोचा तक नहीं था कि इस कठिन समय में भी सत्यव्रत इस तरह की दु:साहसिक बात बोल जाएंगे। किंतु वे बोल गए। हल्का-सा हंसते हुए बोले—"घर के मालिक का बदनाम उत्तरदायित्व निर्वाह करना ही पड़ेगा, एक बार ही सही, कुछ तो वसूल हो।"

"अर्थात्?"

"क्या मतलब?"

"इसका मतलब ये कि कन्हाई इसी घर में रहेगा।"

"ओ! लेकिन इसके बाद अगर..."

"अगर इस तरह की झंझट में दुबारा तुम लोग फंसते हो तो मुझे भी चोर, गुंडा करार देकर थाने में चालान करवा देना।"

नीहारकणा ने अनुभव किया कि वे एक इस्पात के दरवाजे के सामने खड़ी हैं। अतएव अब वे कुछ नहीं कर सकतीं। उस दर्पहारी के सामने एकमात्र प्रार्थना करने के अलावा।

कन्हाई रह गया।

उसके परिवार के लिए कुछ देना भी तय हो गया, एवं सबके साथ उसे भी भर पेट चाय और पावरोटी खाने को दिया गया। उसके हड्डियों-भरे चेहरे पर परितृप्ति का भाव देखा गया।

पराजिता नीहारकणा ने दर्पहारी के सामने कितनी प्रार्थनाएं करने के बाद संतोष को निर्देश दिया कि वह उसे अपनी आंखों के सामने ही रखे।

संतोष उदासीन स्वर में बोला—"मैं क्या उसे अपनी आंखों के सामने रखूंगा। मैं तो देख रहा हूं कि वो तो बाबू की आंख की पुतली हो गया है। दिन भर 'कन्हाई

कन्हाई' की आवाज सुनाई देती रहती है।''

''और मेरे कहने पर विश्वास नहीं होगा''—कन्हाई ने अभियोग के स्वर में कहा—मेरी खाने की थाली नहीं है? तुमने फेंक दिया है? क्या वो तुम्हें काट रही थी, दीदी मां? लाओ, अब मुझे दूसरी थाली ढूंढ़कर दो। उस अपने कोयलेवाले कमरे में रखे टूटे-फूटे बर्तनों में से छांटकर दो। ठीक-ठीक काम-लायक लाना।''

यही है कन्हाई की वाक्य-भंगिमा।

सत्यव्रत नाम का वह आत्मस्थ प्रौढ़ व्यक्ति क्या उसकी इसी वाक्य-भंगिमा पर आकृष्ट हुआ है? या यह उसकी परीक्षण-निरीक्षण की कोई शैली है?

क्या इतने समय में जल्दी से पहचान जाने का दु:साहस उनमें नहीं है? और इधर नीहारकणा तो अपने दर्पहारी की क्षमता देखकर उल्लसित हो रही हैं। पीछे-पीछे बेटे-बहू मजाक उड़ाते हैं। और वह बदमाश संतोष का बच्चा तो सामने ही दांत बाहर निकालकर बोलता है—''कच्चे खीरे खाने के लिए अभी आपको बहुत इंतजार करना पड़ेगा, मौसा। आपको अभी खीरा बोना पड़ेगा, फिर पानी देना पड़ेगा, और पौधे को बढ़ाने के लिए मचान बांधना पड़ेगा। तब इसके बाद कच्चे खीरे खाने को मिलेंगे।''

हां। बात कुछ कच्चे खीरे की-सी ही है। तीन-चार दिन बाद ही कन्हाई को बुलाकर सत्यव्रत ने पूछा—''तुमने खीरा देखा है, कन्हाई? कच्चा है कि पका, तुम पहचान सकते हो?''

''ओ मां! लो सुन लो बात। पहचान क्यों नहीं पाऊंगा? अगर कच्चा होगा तो नाखून से दबाने पर उसमें से दूध निकलेगा और पका होगा तो नहीं निकलेगा।''

''अच्छा-अच्छा, ठीक है। मैं समझ गया कि तुम पहचान जाओगे। जादवपुर बाजार तो देख रहे हो न?''

''सुन लो बात। वहीं तो जम्मो-कम्मो को बुलाने गया था।''

''ठीक है। देर तो नहीं लगाओगे?''

''बिल्कुल नहीं। यूं जाऊंगा और यूं आऊंगा। लाओ पैसा लाओ।''

सत्यव्रत ने उसके उत्फुल्ल चेहरे की तरफ देखते हुए बीस का नोट आगे बढ़ा दिया।

कन्हाई थोड़ी देर ठिठककर बोला—''अरे बापरे! ये तो बहुत सारे रुपए हैं। इतने खीरे कौन खाएगा, दादू?''

''धत्, मूर्ख कहीं का। पूरे पैसे का थोड़े न ले आना है? पांच रुपए का लेना। बाकी हिसाब करके वापस लेते आओगे न?''

''क्यों नहीं लाऊंगा। पहले दुकानदार से बाएं हाथ में पंद्रह रुपए ले लूंगा, तब दाहिने हाथ से उसे यह नोट दूंगा।''

''कहीं दुकानदार तुम्हें बच्चा समझकर ठग तो नहीं लेगा?''

''इस्स। ठगाने के लिए मैं ही बचा हूं?''

वह तेजी से बाहर निकल गया और तुरंत ही वापस आकर खड़ा हो गया—"दादू , जरा एक मजबूत थैली हो तो दे दो न, दुकानदार बहुत कमजोर थैली देते हैं। आधे रास्ते में ही फट जाती है।"

सत्यव्रत बोले—"मैं कहां से थैली लाऊंगा?"

इसके बाद उन्होंने एक विदेशी मैगजीन के मोटे ब्राउन पेपर की थैली कन्हाई के हाथों में पकड़ा दी।

दूसरे की पल कन्हाई हवा हो गया।

यह नाटकीय दृश्य नीहारकणा से छिपा न रह सका। वे उसे देख ही रही थीं। लड़के के बाहर निकलते ही वे बहुत शांत स्वर में बोलीं—"अचानक कच्चा खीरा खाने की इतनी इच्छा कैसे जाग गई?"

सत्यव्रत हंसते हुए बोले—"ऐसे ही। मन में आया कि मूढ़ी के साथ खीरा खाया जाय।"

"इसीलिए पांच रुपए का खीरा..."

"ओहो! मैं क्या अकेले खाऊंगा? सभी खाएंगे। पांच रुपए का बहुत तो मिलेगा नहीं?"

नीहारकणा अग्राह्य स्वर में बोलीं--"सबके खाने की अगर बात थी तो संतोष भी तो ले आ सकता था?"

"हां, सकता क्यों नहीं था? मैंने सोचा, लड़के को थोड़ी-सी तालीम देने की भी तो जरूरत है?"

"हां, तो उसके लिए पांच रुपए का नोट नहीं था?"

"मेरे पास नहीं था।"

"ठीक है। देखते रहना, दो ठो खीरा ले आकर रख देगा और बोलेगा कि दुकानदार ने बाकी पैसे वापस ही नहीं किए।"

बस। वह गया तो वापस ही नहीं लौटा। सुबह बीत गई, शाम बीत गई, रात बीत गई, न तो खीरे लौटे न तो कन्हाई।

इस बीच संतोष दो-तीन बार जादवपुर बाजार में देख आया। पूरा बाजार ढूंढ़ मारा। और वह खुशीपूर्वक बूढ़े की तरफ उंगलियां दिखाते हुए बोला—"अरे मौसी मां, मुझे तो कन्हाई बाबू कहीं भी नहीं दिखे।"

इस डेढ़ दिन में सत्यव्रत अपने घर में हंसी का पात्र बनकर रह गए।

किंतु सत्यव्रत ने उन बातों का बुरा नहीं माना। उन्होंने सोचा कि इतनी बड़ी हार होनी थी उनकी? एक विश्वासघात हुआ है उनके साथ। यह तो मानना ही पड़ेगा कि सत्यव्रत ने एक बहुत बड़ी भूल की है।

बड़ी हैरानी की बात है। बीस रुपए के सामान्य-से लालच में एक आश्रय और एक निश्चित भोजन का ठिकाना, सब कुछ गंवा बैठा? इसे क्या मूर्ख कहेंगे या

अपराधी? या इसकी समूची जाति को ही अपराधी कहेंगे।

सत्यव्रत भीतर से बहुत टूट गए थे। जब देबू भी पिता की तरफ देखकर विद्रूप हंसी हंसता तो वे और भी कुंठित हो उठते। नीहारकणा बार-बार बोलतीं—"आखिर देख लिया न मुंहझौंसे को? तुम्हारे बीस रुपए कितने दिन चलेंगे? आयं? मौज करके खाता था। नखरे के साथ रहता था।"

कन्हाई की कहानी यहीं समाप्त हो सकती थी। किंतु यह तो कुछ नया नहीं है। ऐसी घटनाएं तो बहुत होती रहती हैं।

किंतु वह मोटे ब्राउन पेपर का लिफाफा कहानी को दूसरे पृष्ठ पर उतार लाया—शायद इसे ही कहते हैं 'संयोग'।

गाड़ी के नीचे आ गए एक असहाय बच्चे को मानवतावश जिन लोगों ने रास्ते से उठाकर अस्पताल पहुंचाया था, उन लोगों ने यह भी काम किया कि बच्चे की छाती से चिपके लिफाफे और धूल में पड़े चार खीरों को भी उठाकर उसके साथ ही अस्पताल में जमा करा दिया था।

फिर अस्पताल के कर्मचारियों में इतनी एनर्जी थी कि उस लिफाफे के पते से सत्यव्रत सेन का घर ढूंढ़कर उनको यह सूचित कर दिया कि 'अगर आप इस बच्चे को देखना चाहते हैं तो जल्दी आ जाइए। अब यह बहुत देर तक जिंदा नहीं रह पाएगा।'

यह सब संयोग नहीं तो और क्या है?

बहुत कम समय रह गया था।

सत्यव्रत कातर भाव से बोले—"तुम यादवपुर बाजार न जाकर 'ठाकुर' कैसे चले गए , कन्हाई?"

कन्हाई पीड़ा में ही बोला—"वहां कच्चे खीरे नहीं थे, दादू। तो एक लारी पाजी..."

सत्यव्रत अपना माथा पकड़कर बैठ गए। जैसे कोई नाटक का दृश्य कर रहे हों। लेकिन वह तो संभव नहीं है। तभी तो वे चुपचाप उसके मृत्युमालिन्य चेहरे की तरफ देखते हुए बैठ गए। नि:श्वास छोड़ते हुए। अब बहुत देर तक नहीं रह सकेगा।

जब वह वेदना से तड़फड़ाने लगता तब भी सत्यव्रत के चेहरे पर एक प्रशांति की स्पष्ट चमक दिखाई देती थी। शायद यह चमक कृतज्ञता की थी। शायद उस लड़के के ऊपर किए गए एहसान की—जिससे कि वह खुद मरकर भी सत्यव्रत नामक व्यक्ति के नाम को जिंदा कर जाएगा।

दुनिया के प्रति अविश्वास करके सत्यव्रत को और कहां आश्रय मिलता? दिन पर दिन वे क्रोधी, रुक्ष और चिड़चिड़े होते चले जाते।

अहमक

''सांप हमेशा सांप की तरह ही व्यवहार करेगा।'' आंगन में झाड़ू लगाते-लगाते बंशी की बहन विशाखा, भाई की तरफ धिक्कार-भरी दृष्टि से देखती हुई बोली—''तुम चाहे जितना भी उसे दूध-केला खिलाओ, वह तुम्हारे एहसान के बदले में दंश ही मारेगा। तुम्हारे जैसा बेवकूफ और पागल की ढेंकी। डायन की गोद में बच्चा सौंपकर निश्चिंत हो गए थे और सिरहाने हाथ लगाकर सो गए थे। ...अच्छा फल मिला है! अब बैठे-बैठे उंगलियां चिटकाओ।''

विशाखा की बातें तो बस ऐसी ही बिना सिर-पैर की होती हैं। और भाई की उम्र भी कुछ ऐसी हो गई है कि वह इन सब पर बहुत ध्यान नहीं देता। लेकिन आज तो दिमाग आसमान पर है। पिछली रात खूब तेज आंधी चली थी जिससे आंगन में टूटे पत्ते बिखर गए थे। विशाखा उन्हें झाड़कर इकट्ठा कर रही है। इस समय आंगन धूप की गर्मी से तपने लगा है। विशाखा का मिजाज भी आंगन की ही तरह तप उठा है। रात के बासी कूड़े को इस समय बुहारने का कोई तुक नहीं है और न तो यह काम विशाखा के करने का ही है। विशाखा तो सुबह-सुबह नदी जाती है, नहाती है और आकर पूजा-पाठ करने बैठ जाती है। इसके बाद रसोई बनाने में जुट जाती है। यह उसका प्रतिदिन का बंधा-बंधाया नियम है। लेकिन आज सब कुछ उलट-पुलट गया है।

दीदी का प्रचंड स्वर सुनकर बंशी बिस्तर छोड़कर चबूतरे पर आ गया और खंभा पकड़कर खड़ा हो गया। वह उसकी तरफ देखते हुए बोला—''क्यों चिल्ला-चिल्लाकर सारा मुहल्ला सिर पर उठा रखा है। आयं! जैसे तुम्हारे ही सिर पर दंश मार रहा हो। एक ही डंडे से सबको हांकने की आदत जो पड़ी है। तुम्हें यह चिंता नहीं है कि कल रात आंधी में वे दोनों कहां और किस हालत में रहे होंगे—बल्कि ऊपर से...''

''क्या? आंधी में? जैसे कल आंधी न आई हो कोई प्रलय आ गया हो। चैत की हवा से दो सूखे पत्ते टूटकर गिर क्या गए तुम्हें उनके आफत-विपत्ति की चिंता होने लगी। अब तुम सब्जी से मछली ढंकने की कोशिश मत करो, बंशी। जो हुआ है उसे तुम्हारा भी दिल जानता है और मेरा भी दिल जानता है।''

बंशी का सिर चकराने लगा, पैरों में कंपकंपी होने लगी और कानों में हाहाकार बजने लगा। बंशी अब और खड़ा न रह सका। वह खंभे के पास ही सिर पकड़कर बैठ गया और बोला—''नहीं। तुम्हारा दिल जो जानता है, बंशी का भी दिल वही नहीं जानता है। बंशी के दिल में वैसा कोई पाप नहीं है। किन्हीं कारणों से देर हो सकती है। और यह भी तो हो सकता है कि वे आधी रात को आए हों और दरवाज़ा खटखटाया

हो, जब न खुला हो तो लौट गए हों..."

"क्या बोले! दरवाजा न खुल पाने पर लौट गए होंगे? बंशी!"

विशाखा झाड़ू दूर फेंककर खड़ी हो गई और बोली—"तुम्हारे जैसी बेहोश नहीं रहती हूं कि सुना नहीं होगा। ये विशाखा क्या मरणनिद्रा में सो रही थी?"

बंशी मिनमिनाते हुए स्वर में बोला—"तुम्हारा कल व्रत का शरीर था..."

"ओ हो-हो। व्रत। दीदी आज कोई पहली बार व्रत कर रही है क्या? कभी ऐसा देखा है कि दीदी एकादशी के व्रत के दिन बेहोश होकर गिर पड़ी है। अच्छा मान लिया, अगर कहीं ऐसा दुर्योग से हो भी गया हो तो वे लौटकर गए कहां? फिर उसी जात्रा के मंडप में? तो अब तक, दोपहर तक तो उन्हें लौट ही आना चाहिए?"

बंशी ने दोनों हाथों से सिर को दबाकर एक बार यह जानने की कोशिश की कि अभी उसके कानों में बज रहा हाहाकार कम हुआ कि नहीं। समझ न सका। फिर तर्क करते हुए क्षीण स्वर में बोला—"यहीं तो गांव में भुजंग के चाचा का घर भी है।"

"भुजंग के चाचा का घर!"

विशाखा हठात् अपने गालों पर दोनों हाथों से चटाचट मारकर दांत पीसते हुए बोली—"तुम्हारी बुद्धि पर मुझे बहुत तरस आता है, बंशी। आह! भुजंग के चाचा का घर? जो एक बार अपने चाचा के घर को लात मारकर, अपने मामा के घर रहने चला गया हो, फिर वही एक औरत को लेकर आधी रात को चाचा के घर पहुंचे तो क्या वो एक जवान और पराई औरत को घर में जगह दे देंगे? और क्या उसके पांव पखार कर वरण कर लेंगे?"

"ओह!"

बंशी अपनी मुलायमियत छोड़कर अचानक ऊंची आवाज में बोलने लगा—"खाली फालतू बातें करती रहती हो। कौन किसका पांव पखारता है? आदमी को संकट में पड़ा देखकर कोई ऐसा करता नहीं है क्या? उसके चाचा-चाची तुम्हारी बहू को पहचानते नहीं क्या? अगर वे जात्रा मंडप से लौटकर—दरवाजा खुला न पाकर..."

"बंशी। तुम खाई खोद रहे हो और कुछ नहीं। अब मेरा गुस्सा और मत बढ़ाओ। सारे गांव के लोग पूरे रास्ते बातें करते हुए उसी जात्रा के मंडप से तो लौट रहे हैं।"

"अब ज्यादा चालाक मत बनो। खाली कुतर्क करती रहती है। बातें ही तो कर रहे हैं। किसने किसका कर्ज खाया है? आज किसे पता है कि किसके घर में दो लोगों में से एक मलेरिया से पीड़ित है और दूसरे का शरीर उपवास के कारण..."

फिर उपवास-उपवास करना शुरू कर दिया, बंशी? मैंने तुम्हें मना किया था न कि वह बात दुबारा मत बोलना। बोलो, भोर से ही उठकर पुआल काटकर बोरे में भरकर पशुओं का चारा किसने तैयार किया? गोशाला किसने साफ किया? मैं जो कह रही हूं वह कोई अनहोनी बात तो है नहीं, भुजंग बाबू अपने मित्र की पत्नी के

साथ मंडप से लौटकर अपने चाचा के ही घर गए हैं, नहीं तो दोनों में से एक भी व्यक्ति अब तक नहीं आया होता? इतनी देर तक अपने घर नहीं आ जाते? सच ही तो कह रही हूं कि सब्जी से मछली ढंकने की कोशिश मत करो। हुंह। अक्ल के गले में फांसी।''

बंशी हार मानकर बोला—''जाओ, जो मन में आए , बोलो। अपना मुंह खराब करो। ...तुम्हारे मन में तो मैल है। आदमी कोई पशु तो है नहीं, कि उसे किसी किसान के खेत में चरता देखकर एकदम से दंडित कर बैठे। ...मैं कहता हूं कि लड़के-लड़की का मन है, मान-अभिमान तो होता ही है। सोच रहे होंगे कि भाई-बहन ने जान-बूझकर दरवाजा नहीं खोला होगा।''

इस प्रकार विशाखा उसी गंदे आंगन के फर्श पर बैठ गई और हताश स्वर में बोली—''ऐसा भी सोचते हो? तुम्हारे मन में यह भी बात आ गई, बंशी?''

बंशी अपने दोनों हाथों की उंगलियां आपस में फंसाकर और उन्हें ऊपर तानकर अंगड़ाई लेते हुए बोला—''जो संभव है वो मन में नहीं आएगा तो क्या तुम्हारी तरह पाप की बातें मन में आएंगी? दोनों समय तो माला जपती रहती हो, लेकिन पता नहीं तुम्हारा मन शुद्ध क्यों नहीं हो पाया अब तक। आयं? मेरा शरीर और सिर बुरी तरह कांप रहे हैं, मेरे पैर लड़खड़ा रहे हैं, बाहर निकल पाने का साहस नहीं है। नहीं तो...''

''गौ माता का और अपराध ही क्या है?'' ...विशाखा बुहारे हुए कूड़े को टोकरी में भरते हुए बोली—''रात से ही तुम्हें इतना तेज बुखार है कि शरीर पर धान डाल दें तो लावा फूट पड़े। और फिर भोर से ही पित्ती भी उभरनी शुरू हो गई है। मैं पूछती हूं कि तुम्हें इस हालत में बिस्तर से उठकर यहां आने की क्या जरूरत थी?''

बंशी के साथ उसकी दीदी के बात करने का यही तरीका है। भीतर-ही-भीतर दोनों एक दूसरे को बहुत प्यार करते हैं। जान से भी अधिक। लेकिन व्यवहार से ऐसा लगता है कि दोनों परस्पर प्रतिद्वंद्वी हैं। बंशी उसकी नकल उतारते हुए बोला—''उठकर कहां आया। सीधा चला आया। तुम्हारे चिल्लाने के कारण ही ऐसा हुआ। उन दोनों का क्या हुआ, उन्हें. खोजने की गरज नहीं है, ऊपर से उल्टी-सीधी बातें करती हो। मैं कह रहा हूं कि वे सब दरवाजा खटखटाकर न खुलने के बाद निश्चित ही भुजंग के चाचा के घर...''

विशाखा कूड़े की टोकरी कांख में दबाकर चलते हुए गंभीर स्वर में बोली—''अच्छा ठीक है। मैं निकलती हूं उन्हें खोजने के लिए। अब यही होगा कि—अपने ही हाथों अपने मुंह पर चूना-कालिख पोतना होगा। बहू कहीं खो गई है, उसे ही खोजने निकली हूं—तलाश कर रही हूं—जब तक कि कोई पूरी घटना के बारे में जानना चाहे अपनी रट लगाकर उसे दबाए रखना होगा। तुम्हारी बुद्धि ही फिर गई है और कुछ नहीं।''

बंशी ने टूटे हुए मन से हाथ हिलाकर मना कर दिया। बात तो यही है। अगर

कहीं बंशी का सोचना गलत निकला तो, पता नहीं वे दोनों कहां अटके पड़े होंगे, इसलिए उनको खोजने निकलना ठीक नहीं रहेगा।

किंतु विशाखा ने निषेध नहीं माना। वह तुनकती हुई तेजी से बाहर निकल गई।

कल भोर से ही तेज बुखार से पस्त और रात में न खा पाने की कमजोरी के कारण बंशी वहां से उठकर अपने कमरे तक नहीं पहुंच सका, दरवाजे तक ही पहुंचकर गिर गया।

सिर में जैसे कोई हथौड़ा मार रहा हो। दीदी की तीखी-कठोर-संदेहभरी बातों ने जैसे छाती के भीतर दहाड़ें मार-मारकर आतंक फैला रखा है। जो बातें बंशी के सपने में भी नहीं आ सकती थीं, दीदी ने स्वाभाविक रूप से सचाईपूर्वक कह डालीं! आश्चर्य की बात है। कमजोरी में नींद-सी छाई रहती है ...इन्हीं सब के बीच पिछली शाम की घटना की छाया मन में उभरने लगी है।

छंदा ने जान-बूझकर बंशी को लगनेवाली गाली दी थी—"आज मेला में जात्रा देखने जाओगे, बंशी? 'गणेश अपेरा' का यह 'कलंकिनी राधा' काफी दिनों से पूरे मेदिनीपुर जिले में तहलका मचा रखा है। कल ही यहां 'चंद्र कोना' में आया था और आज ही कहीं दूसरी जगह चला जाएगा।"

बंशी को रात-भर जागकर जात्रागान सुनने का ऐसा कोई शौक नहीं है, लेकिन भुजंग को इसका शौक है। उसी के जबरदस्ती खींचकर ले जाने पर कभी-कभी चला जाता है। इस साल फिर छंदा ने तीन बार जिद की है। नई विवाहिता बहू (अभी कोई बच्चा नहीं हुआ है, तो नई ही तो है), उसका मन तो रखना ही पड़ेगा न?

किंतु बंशी का दुर्भाग्य। शाम से ही शरीर में झुरझुरी उठनी शुरू हो गई है और जैसे-जैसे शाम ढलने लगी कंपकंपी बढ़नी शुरू हो गई। बेचारा बंशी! बहू गुस्से में आकर बोली—"तुमने जान-बूझकर यह बुखार पाला है ताकि जाना न पड़े। मैं सब समझ रही हूं। एक चादर, कंबल ओढ़कर सो जाने से कुछ नहीं होगा।"

छंदा तो बावली है ही।

शायद बावली छंदा की आंसू से छलछला आई आंखों को देखकर ही बंशी को दया आ गई। आहा, कितनी साध से फूलछाप साड़ी और लाल टहटह जामा पहनकर साज-सिंगार करके तैयार हुई है, और बंशी उसकी उम्मीद पर पानी फेरने पर तुला हुआ है।

बंशी कातर स्वर में बोला—"चादर, कंबल? मेरी हालत तो देख रही हो न! कैसा भयानक बुखार है? और फिर पित्ती उठने के लक्षण भी दिखाई दे रहे हैं। पांच लोगों के बीच में बैठूंगा तो दुर-दुर करके, वे मारकर भगा देंगे रे!"

छंदा बोली—"ठीक है। तुम कंबल ओढ़कर बिस्तर पर सो जाओ। छंदा भी भूतबगान में जाकर आम के पेड़ पर फांसी लगाकर लटक जाएगी। इसी बहाने तुम्हारे घर और दीदी के तानों से गला भी छूट जाएगा। उन्हें भी जानकर खुशी होगी।"

छंदा की बात बिल्कुल गलत है। इस मुहल्ले में जितनी भी दुल्हनें हैं उनमें छंदा सबसे आराम और सुख से है। छंदा का साज-सिंगार हरदम टिप-टाप रहता है। कभी भी वह अच्छा छोड़कर बुरा कुछ नहीं खाती। विशाखा उसे रसोई में कभी घुसने नहीं देती—शायद इसके आराम के लिए नहीं बल्कि अपनी शुचिता के लिए—फिर भी तो उसे आराम ही है। इसके अलावा जिस दिन मामा की दुकान बंद होती है—वृहस्पति के वृहस्पति भुजंग भी आ जाता है। उस दिन तो उत्सव-जैसा ही होता है। खाते समय जो हो-हंगामा शुरू होता है! ताश भी खेलना हो जाता है, और फिर भुजंग और बंशी दोनों दोस्त मिलकर गाना भी गाते हैं। यद्यपि वैसा बेसुरा गीत और बेताल तबला कहीं नहीं बजता। लेकिन उसके कारण मस्ती में कोई कमी नहीं आने पाती। इनके बीच अगर कोई श्रोता होता तो वो छंदा।

कभी-कभी विशाखा इनकी हरकतों से नाराज होकर दांत पीसती हुई घर छोड़कर मुहल्ले में निकल जाती। ...भाई और भाई का दोस्त बोलते—"भजन-कीर्तन हो रहा है, आकर बैठो न, दीदी।"

दीदी मुंह बिचकाकर कहती—"तुम्हीं लोग सुनो। मुझमें इतनी भक्ति नहीं है।"

छंदा अवश्य उससे चिढ़ती रहती। बाबा रे बाबा! ननद नहीं, बाघिन हैं। खाने-पीने से कोई परहेज नहीं है, उसमें कोई शिकायत नजर नहीं आती। रात-दिन कड़ी निगाहों से पहरा रखती हैं। हुंह!

बंशी का भाग्य कमजोर, किंतु अच्छा है।

कल वृहस्पतिवार था न, भुजंग आया था। जात्रा में ले जाने के लिए ही आया था। उसे देखकर बंशी को हाथों में चांद मिल गया था। भगवान ने तुम्हें बहुत मौके से भेजा है, भुजंग। मैंने छंदा बिचारी से मेले में जात्रा देखने जाने का वादा किया था—बुखार आ गया। तुम दोनों लोग चले जाओ।"

भुजंग ने अवश्य बहुत आपत्ति जताई थी। बंशी को इस बीमारी की हालत में छोड़कर वे जात्रा देखने जाएंगे? यह नहीं होगा। किंतु बंशी की जिद के आगे वह आपत्ति टिक न सकी। बंशी बोला—"अरे बाबा, यह कोई जानलेवा बीमारी थोड़े है? रात-भर शरीर में दर्द रहेगा, सुबह सोकर उठूंगा तो ज्वर-बुखार सब गायब हो गया होगा। बस इतनी-सी बात के लिए इतने दिनों की लालसा मुरझा जाएगी? आहा, बेचारी कितने दिनों से उम्मीद लिए बैठी है।"

"लेकिन तुम्हारे पास कौन रहेगा?"

बंशी बोला—"किसी के रहने की जरूरत ही क्या है? दीदी तो रहेगी ही। अभी हरि-मंदिर गई है, पाठ सुनने। वहां एकादशी की एकादशी पाठ बैठता है न?"

भुजंग संकोच करते हुए बोला—"वह अकेली मेरे साथ..."

बंशी धमकाते हुए बोला—"वह तुम्हारी बहन की तरह है कि नहीं?"

अतः आह्लाद से झूमती हुई छंदा भुजंग के साथ बाहर निकल गई। ...बहन

की तरह? मामा के घर आकर रुकनेवाले भुजंग के ममेरे भाई की तरह।

भुजंग और बंशी दोनों एक ही मुहल्ले में रहते थे। बचपन से ही दोनों एक-दूसरे के जान से भी प्यारे बन गए थे। दोनों सारे काम-काज छोड़कर खेलते रहते और बढ़ती उम्र में साथ मिलकर गाने-बजाने की व्यर्थ चेष्टा में भी साथ रहते। भले ही वह चेष्टा व्यर्थ होती, किंतु उनकी मस्ती में कोई कमी नहीं होती थी। बंशी का बाप मर गया था, मां थी। और विवाह के साल ही विधवा हो गई बहन थी, विशाखा। भुजंग के मां-बाप किसी अकाल में मर गए थे। वह लगभग लावारिस था। इसीलिए यह पूरा गड़ाईबाड़ी उसका आश्रम बन गया था। बंशी की मां भी उसे बहुत प्यार करती थी। बंशी बोलता—"तुम इसी घर में क्यों नहीं आ जाते? तुम्हारा चाचा इतना दुष्ट है।"

भुजंग उसके मुंह पर हाथ रख देता—"चुप। चुप! ...इसके बाद बोलता—"मामा तो मुझे बुलाते ही रहते हैं, किंतु इतने दिनों का डीह छोड़कर कहीं और जाने का मन नहीं होता।"

किंतु अंत में उसे मामा के बार-बार बुलाने पर जाना ही पड़ा। हालांकि ऐसा नहीं था कि मामा उसे निःस्वार्थ स्नेह से बुला रहे थे। उनको अपनी दुकान पर बिठाने के लिए एक विश्वासी और मेहनती नौकर की आवश्यकता थी। मामा का अपना बेटा उस कांसा, पीतल के बर्तनों की दुकान पर बैठने के नाम से ही चिढ़ जाता था। इसीलिए अपने अनाथ भगिने पर उनको प्यार उमड़ आया था। ...मामी ने पति को बहुत डांटते हुए कहा था—"कहीं ऐसा तो नहीं कि मेरी ननद का वह अनाथ बेटा हमारे घर में आकर खाता-पीता-रहता-सोता है तो देखकर तुम्हें जलन होती है। इसके लिए तुम्हें मेरी ननद का बेटा ही मिला है, खाक!"

फिर मामी बाद में उस लड़के के गुण पर मोहित हो गई थीं। बोलतीं—"अगर भुंजंग का रंग थोड़ा साफ होता तो उसके ही साथ छंदा की शादी कर देती।"

किंतु यह भुजंग का दुर्भाग्य था, वह गोरा नहीं हो पाया था।

बाद में क्या होता, कहा नहीं जा सकता। किंतु बिना कुछ कहे-सुने वह अन्नपूर्णा मामी अचानक चल बसीं।

असीम दुःख के कारण मामा को कोई रास्ता नहीं सूझ पा रहा था। अठारह साल की चंचल कुंआरी साली की उस बेटी को किस तरह संभालें? लड़की जितनी ही खूबसूरत थी, उतनी ही स्वस्थ।

मामा को उस विपत्ति से मुक्ति दिलाने के लिए भुजंग ही उठ खड़ा हुआ था।

बंशी की मां के पास आकर भुजंग ने माथा टेक दिया था।

बंशी की मां शुरू में बहू का रूप देखकर जितनी मुग्ध हुई थी, बाद में उतना उसके गुण पर नहीं। बाद में वे अपना मालिकाना भी खो बैठी थीं। और दीदी तो उसे प्रायः 'रंगीनमिजाज!' 'व्यभिचारिणी!' 'इतराकर चलनेवाली!' आदि क्या-क्या

कहकर बुलाती रहती। जितनी देर उसके साथ काम करती रहती—भुनभुनाती और ताने मारती रहती। नहीं तो वह अकेली ही सारा काम करने बैठ जाती। यह देखकर बंशी खुद ही बहू को ठेलते हुए बोलता—"जरा तुम भी जाकर हाथ बंटा दो न। दीदी अकेली मरी जा रही है।"

छंदा आंखों में आंसू भरकर बोलती—"मौसी मुझे अपने हाथ से उठाकर पानी तक नहीं पीने देती थीं। तुम भुजंग दा से चाहो तो पूछ लो। वे गवाह हैं इस बात के।"

"तुम्हारे मौसा का घर तो बड़े आदमियों का घर है, वहां तो दासी, नौकरानियां काम करती हैं, मेरे घर में तो..."

"वही तो। मेरा भाग्य ही ऐसा है। मौसी मेरे साथ बेईमानी करके बिना नोटिस के ही मर गई। और भुजंग दा के सांप मौसा भी..."

इस प्रकार, कई सालों से ऐसे ही नि:संतान दांपत्य जीवन चला आ रहा था।

विशाखा दीवार को सुनाते हुए बोलती—"बांझ औरत के इतने नखरे!"

छंदा आसमान को सुनाती हुई कहती—"कौन बांझ है क्या पता! ...मौसी तो कहती थी कि मर्द भी होते हैं।"

विशाखा हाय-हाय कर उठती—"ओ मां! ओ मां, कहां जाऊंगी मैं। सात जनम में मैंने ऐसी बात नहीं सुनी थी।"

बहू नाटकीय अंदाज में कहती—"मूर्ख-जाहिलों को तो ऐसी कितनी बातें सुनने को नहीं मिलतीं।"

अगर इस बहू के ऊपर विशाखा का प्यार नहीं उमड़ पड़ता तो इसमें उसका कोई दोष नहीं है। ... बंशी ने सोचा—दीदी का छंदा के ऊपर आया आक्रोश जब नहीं संभल पाता है, तभी उसके मुंह से ऐसी बातें निकलती हैं।

तो क्या,भाई के मना करने पर भी विशाखा भुजंग के चाचा के घर अपने भाई की बहू को खोजने निकल गई है?

वह इतनी पागल नहीं है। वह अपने भाई की तरह मूर्ख नहीं है।

विशाखा भुजंग के चाचा के आंगन में उगे 'थानकुनी' का पत्ता तोड़ने गई थी... सभी जानते हैं कि द्वादशी के दिन 'थानकुनी' का पत्ता खाने से पेट ठंडा रहता है।

भुजंग के चाचा ने कहा—"अपेरा देखने नहीं गई थी क्या, दीदी?"

विशाखा ने जवाब दिया—"मर न जाऊं मैं? मैं और अपेरा देखने जाऊं?"

"तुम्हारी बहू तो गई थी? साथ में भुजंग भी था। लेकिन बंशी नहीं दिखाई दिया?"

"बंशी की बात मत पूछो, भइया। कितनी तैयारी के साथ सज-धजकर जाने को तैयार हुआ था, ऐन वक्त पर उसको इतना तेज बुखार चढ़ आया कि क्या बताएं। बहू भी नहीं जा रही थी, लेकिन बंशी ने ही उसे जोर देकर भेजा। बोला—"कितने दिनों

से उम्मीद लगाए बैठी थी।'' ...बस निकलने भर की देर थी। देखते-ही-देखते फुर्र हो गए। मेले से लौटकर किसी ने खबर दी कि उसके मौसा की तबीयत बहुत खराब हो गई है। वहीं वे दोनों दौड़े-दौड़े गए हैं...। पता नहीं बूढ़ा मरा कि जिंदा है।''

भुजंग भी उसके साथ जाएगा, इसमें कोई आश्चर्य की बात नहीं है। छंदा का मौसा भुजंग का भी मामा लगता है। ...

बाद में अगर मौसा अथवा मामा जिंदा टहलते दिख गया तो गले का फांस बन जाएगा। इसमें विशाखा का दोष ही क्या है? किसी ने अगर दुश्मनी साधने के लिए झूठी खबर दी हो तो? विशाखा तो जो देखती है और जो सुनती है वही बोलती है। ...मेले से भागकर आए हुए आदमी ने जब खबर सुनाई थी, तब छंदा आंखें पोंछते हुए और भुजंग उदास चेहरा लिए हुए बस पकड़ कर भाग नहीं गए थे?

बंशी? वो तो बुखार से छटपटा रहा है।

नदी से डुबकी लगाकर लौटी विशाखा ने देखा कि बंशी चबूतरे पर पड़ा-पड़ा सो गया है। मन-ही-मन उस कुलटा बहू और दगाबाज दोस्त को शाप देती हुई विशाखा ने भाई को आवाज लगाकर जगाया और अपने लिए शर्बत बनाने के लिए भिगोए हुए बतासे में कागजी नीबू निचोड़कर जबरदस्ती उसे पिला दिया। फिर वह बोली—''जब तक पेट में भात नहीं जाएगा तब तक यह कमजोरी जानेवाली नहीं है। मैं जाकर जल्दी से तुम्हारे लिए भात बनाकर ले आती हूं। तब तक तुम हाथ-मुंह धोकर कपड़े बदल लो।''

बंशी उसकी तरफ टुकुर-टुकुर ताकते हुए बोला—''गई थी?''

''गई तो थी। यह कागजी नीबू भुजंग के ही पेड़ का है। उसके चाचा ने कई एक दिए हैं।''

''वहां नहीं है?''

''अगर होती तो मैं छोड़ आती?''

''कहीं किसी कारण से मामा के यहां तो नहीं चले गए?''

विशाखा तो उसे धोखा दे आई है। फिर भी बोली—''ऐसा भी सोचते हो? तो वहां तो खोजने जाना मेरे वश का है नहीं!''

''पटला को एक बार बोलकर जरा देखो न? वो तो वीर सिंह की बस पर उधर ही जाता रहता है।''

विशाखा नीमकौड़ी खाए कड़वे स्वर में बोली—''पटला को ? उससे तो अच्छा है कि अखबार में न छपवा दें कि—'मेरे परिवार की छंदा रानी कहीं खो गई हैं और उनके साथ में मेरे प्राणप्रिय दोस्त भुजंग बाबू भी खो गए हैं।'

बंशी चुप मार गया एवं मन-ही-मन तय कर लिया कि वह खुद ही चुपचाप वीर सिंह के पास जाएगा। दो जीते-जागते आदमियों को क्या इस तरह भुलाया जा सकता है? और क्या उन्हें इस तरह निश्चेष्ट होकर चले जाने दिया जाना चाहिए?

किंतु बंशी से जाया न गया। मामा खुद ही आदमी भेजकर पता करवाएंगे कि भुजंग अपेरा देखने को बोलकर यहां आया था, अभी तक लौटा नहीं, क्या बात है? कहीं तबीयत वगैरह तो नहीं खराब हो गई?

इसके अलावा उपाय ही क्या है?

अखबार में छपवाने से कुछ कम नहीं हुआ है।

तीन गांव के लोगों में यह खबर फैल गई है कि बंशी का बचपन का दोस्त भुजंग जात्रा दिखाने के बहाने उसकी बहू को भगा ले गया है।

घृणा और धिक्कार के स्वर चारों तरफ गूंज रहे हैं। कोई कुछ छिपा-छुपाकर नहीं बोलता। पड़ोसी और पड़ोसिनें तो सभी विशाखा के स्वर-में-स्वर मिलाकर बोल रहे हैं कि—'यह सब बंशी की मूर्खता के कारण हुआ है।'

बहू और दोस्त के बीच पूर्व-संबंधों को देखकर लोगों ने पहले से ही इस परिणाम का अंदाजा लगा लिया था।

बंशी अवाक्, आकाश की तरफ देखते हुए सोच रहा है—"क्या सभी ने यह बात जान ली थी। सिर्फ एक बंशी ही था जिसे पता नहीं था?—फिर भी बंशी को यह पूरी तरह विश्वास नहीं हो पा रहा था कि भुजंग इस तरह बेईमानीवाला काम कर सकता है। ...

बंशी मन-ही-मन संभव, असंभव असंख्य कहानियां गढ़े जा रहा था। चोरी, डकैती, रोग-बलाय, ऐक्सिडेंट, जितनी तरह की भी दुर्घटनाएं मानव-जीवन में हो सकती हैं, सहसा सभी उसके मन में उतर आतीं और गुजर जातीं, और इस बीच बंशी एक जवान लड़की और लड़के को लोगों के बीच में फेंककर बोलता—'देखो, इधर देखो। ...सोचो, क्या कारण था कि चार-पांच रात ये दोनों गायब थे?'

किसके माथे पर बैंडेज बांधेगा बंशी? भुजंग के या छंदा के? ...

उसका हृदय दोनों के लिए व्याकुल हो रहा है।

बैंडेज छोड़ दिया। कालरा? अथवा ...अथवा ...

किंतु मेले में जात्रा देखते-देखते लोगों के सामने ही अचानक ऐसा कुछ कैसे घटित हो सकता है? लौटते समय? लेकिन वह रास्ता भी तो सुनसान नहीं है। वे दोनों भीड़ से पीछे छूट गए थे। उन्हें बहुत देर हो गई थी, भीड़ से अलग हो गए थे, तभी अवसर पाकर पीछे से डकैतों ने...

रास्ता इतना छोटा है कि उसके मन की कहानी साकार होती नजर नहीं आ रही। इधर एक गृहस्थ की बहू चार-पांच रातों से गायब है, इतने में लोगों के बीच एक पक्की कहानी गढ़ी जा चुकी है—पहले से ही षड्यंत्र चल रहा था, वो तो अवसर की तलाश कर रहे थे, आज वह अवसर मिल गया। अब देखना है कि वे दोनों कहां जाकर सुख-चैन से अपना घर बसाते हैं।

अगर षड्यंत्र नहीं रहा होता तो भुजंग बिना छुट्टी के ही आ जाता? वहां उसकी

दुकान की बंदी का दिन वृहस्पतिवार है। उसी के लिए आया ही था। नहीं तो हठात सोमवार को आने का मतलब ही क्या है? ...

बंशी का भाग्य भी उल्टा ही है। नहीं तो उसे बुखार भी इसी समय आना था?

विशाखा को तो आजकल एक मुख्य काम मिल गया है—भाई को धिक्कारते रहना। जब बंशी सूखे मुंह, डबडबाई आंखों, भाँत खाने को देने पर कह उठता कि 'अब नहीं खा पाऊंगा' तो विशाखा की भवें जल उठतीं और वह अपना जलन बंशी के ही ऊपर उतारती—"ऐसे कितने दिन तक चलेगा। असावधानी से रोग पालोगे तो लोग तो रोगी को ही बोलेंगे न! कोई छोटा बच्चा बदमाशी करते-करते चोट खा लेता है तो मां भी उसे उठाने से पहले दो चपत लगा देती है।"

पूरे घर का काम इस समय विशाखा के ही ऊपर आ पड़ा है। भले ही दो ही लोग हैं, लेकिन रसोई तो दोनों जून बनाना ही पड़ता है। बैल-बछिया हैं, खेत-खलिहान है। विशाखा हाथ से काम करती और मुंह से बान छोड़ती है—"छंदा भुजंग आ गए हैं, चाय का पानी चढ़ा देना। छंदा, तेल से चुपड़ी कच्ची मिर्च और डालकर जरा मूड़ी बनाना। छंदा, जरा भुजंग के लिए जल्दी से दो-चार पकौड़ियां बना दो। भुजंग, आज अंडे में टेंगरा भरकर बनाया जाय, खाया जाएगा।..."

इन सब वाक्यों में गला अवश्य विशाखा का होता, लेकिन सुर बंशी का ही होता। विशाखा उसी सुर में बान छोड़ती।

पहले दो दिन तक तो बंशी गुस्से में बोल पड़ता। बोलता—"यह बंशी कोई नई बात नहीं बोलता था। और न तो छंदा ही उसे दुलार करती थी। मां भी करती थी, तुम भी करती थी। मां तो जैसे ही भुजंग आता था..."

"वो सब अलग बातें हैं। तब ऐसा रास-रंग का कारखाना नहीं चल रहा था। ...अब? रास-रंग का फव्वारा छूट पड़ा है। दो मर्दों में से रूपसी का कौन पति है और कौन दोस्त है, समझ में ही नहीं आता था!"

"रूपसी का एक भाई है, रिश्ता मन में नहीं आता था, दीदी।"

"जाने भी दो। मेरे मन में ऐसे रिश्ते घुसते ही कहां हैं। 'धान के रिश्ते में पुवाल मौसी'। वैसी ही ये बहन भी। ...तभी तो दोस्ती की अज्ञानता। ...तुम दोनों तब तक गप्प करो। मैं घूम कर आता हूं। ...पुराने जमाने से ही घी और आग का रिश्ता पता है। बिल्ली और मछली।

"अगर कोई नितांत सरल, विश्वस्त, अबोध हृदय एक बार विश्वास खो बैठता तो वह बहुत भयानक होता है। वह हिंस्र हो उठता है, बंशी! ...एक बार उन्हें ढूंढ़ना ही पड़ेगा। वे जाएंगे कहां? अंततः बंशी ही अपने हाथों से भुजंग का सर मूंड़ेगा। ...अगर भुजंग इतना बड़ा पाप कर सकता है, तो बंशी ही भुजंग की गर्दन काट डालने अथवा सिर फोड़ डालने जैसा पाप क्यों नहीं कर सकता?"

एक दिन विशाखा ने देखा कि बंशी कहीं से ढूंढकर बांस काटनेवाली कटारी

ले आया है और पत्थर पर रगड़-रगड़कर उस पर सान चढ़ा रहा है। उसने आश्चर्य से पूछा—"वो क्या होगा?"

बंशी बोला—"डरने की कोई बात नहीं है। अपनी गर्दन काटने के लिए सान नहीं चढ़ा रहा हूं। सुअर मारने के लिए सान चढ़ा रहा हूं।"

"सुअर। ओ मां!"

दीदी आसमान से गिरी—"सुअर मारकर क्या करोगे? मांस खाओगे? छि: छि: !"

"तुमसे मैंने कहा कि मांस खाऊंगा? खाली बातें गढ़ती रहती है।"

बंशी की तरफ देखकर विशाखा डर गई। उसकी आखें गुस्से से लाल हो आई थीं। चेहरा कठोर, हाथ और पांवों में सफेदी उतर आई है। दाढ़ी न बनाए जाने के कारण चेहरा खूंखार लगने लगा है। ...यह सदा शांत और हंसते रहनेवाले बाबू-जैसे शौकीन बंशी का ही चेहरा है? जिसका मानना था कि आदमी कोई गाय-बैल नहीं है कि मालिक के अलग होते ही खेत चरना शुरू कर देगा।

वही बंशी आज हथियार पर सान चढ़ा रहा है।

कहीं पागल-वागल तो नहीं हो गया है? विशाखा गांव के सभी देवी-देवता के पास जा-जाकर मनौती मान आई।

सारा काम-धाम छोड़कर हाथ में एक बोरा लेकर बंशी पता नहीं कहां-कहां घूमता रहता है। एक दिन बंशी की अनुपस्थिति में विशाखा ने सोचा कि उसका सान चढ़ाया दाब कहीं फेंक आए , लेकिन वह खोजते-खोजते मर गई, वह मिला नहीं।

उसको पाना संभव नहीं था। बंशी तो उसे अपना दोस्त बना चुका था। बंशी बस-स्टैंड पर गुमटी के आस-पास घुमता रहता। किसी-न-किसी दिन तो दिखाई देगा ही। शैतान भी अपने दुष्कर्म की जगह कभी-न-कभी भूलकर आ ही जाता है। वह भी आएगा ही।

आने पर?

आने पर जो करना है, वह बंशी को जबानी याद हो गया है। उसे देखते ही वह उस पर झपट पड़ेगा और बोलेगा-"नमकहराम, बेईमान, शैतान! अगर तुम्हारा कोई भगवान है तो तुम उसे स्मरण कर लो। यह तुम्हारे जीवन की आखिरी घड़ी है।" बोरे से दाब निकालकर वार करेगा, लगभग रोज ही एक बार सान चढ़ाए गए झकाझक दाब से।

बंशी का सोचना गलत नहीं था। शैतान अपने किए गए दुष्कृत्य की जगह आया ही। तमलूक से आई बस से झट से उतर पड़ा।

विश्वास तो नहीं हो रहा था, फिर भी यही सचाई थी।

वह अकेला है? लगता है पापसंगिनी को साथ लाने का साहस नहीं हुआ? वो नहीं, असली पापी तो भुजंग है, जिसने नियमित रूप से दूध-केला खाकर भी माथे

में दंश मारते हुए संकोच नहीं किया।

लेकिन यह क्या हुआ? बंशी का सोचा-विचारा सब कुछ गड़बड़ क्यों होता जा रहा है? रिहर्सल कर-करके रटे हुए उसके सारे संवाद इस समय भूलते क्यों जा रहे हैं? शेर की तरह झपट पड़नेवाला बंशी चोर की तरह आड़ लेकर छुपने की चेष्टा क्यों कर रहा है? आंख मिलते ही बदमाश कहीं प्रहार न कर बैठे, यह उसके पहले की सतर्कता है क्या?

आखिर बात क्या है? सब कुछ गड्ड-मड्ड नहीं हो गया है क्या? वह किस साहस से बंशी के छुपनेवाले स्थान की तरफ तेजी से बढ़ता चला आ रहा है? इसका मतलब कि उसने देख लिया है? तो क्या भुजंग ही उसे तुरंत मार डालेगा? उसे तो बुखार आने जैसी कंपकंपी छूटने लगी है।

हां-हां, बिल्कुल सही। इस तरफ ही आ रहा है। ...तो इस दुलारे का चेहरा कैसा हो गया है, क्या उनके सुख का घर गिर गया है? रंग तो पहले से ही काला था, लेकिन क्या यह चिकनाई भी ऐसी ही थी? और नाक, मुंह, आंख। मां कहा करती थी, खराद पर चढ़ाकर बनाया गया है। लेकिन जो इस तरफ बढ़ा आ रहा है वह तो एक साबुत लकड़ी है। हाथ-पांव धूल-धूसरित। आंख-मुख भी जैसे दिखाई नहीं दे रहे। ...यह वही आदमी तो है न? नहीं, बिना ठीक से देखे झपट्टा मारना ठीक नहीं रहेगा।

और एक बार फिर ठीक से देखता, इसके पहले ही आवाज आई—"बंशी! तुम! तुम यहां हो! ओह, कितनी उम्मीदें लेकर..."

बंशी आत्मस्थ हुआ। व्यंग्य के स्वर में बोला—"मुझे यहां देखकर उम्मीदों पर पानी फिर गया, क्यों?"

भुजंग ठिठककर बोला—"क्या मतलब?"

"मतलब भी समझाना पड़ेगा। पहले यह बताओ कि उसको कहां रख कर आए हो?'

अब बंशी का स्वर बिल्कुल पत्थर हो गया। आंखें पत्थर। बोरे से एक चीज निकालकर वार करने की मुद्रा में बोला--"इस चीज को तो जानते हो न?"

भुजंग भी बिल्कुल पत्थर हो गया। बहुत ही संयमित और स्थिर स्वर में बोला—"तो ठीक है। तब किसी सुनसान जगह में चलना होगा। यहां अगर कोई घटना घटती है तो पांच लोगों की निगाह पड़ेगी। तुम्हारे हाथ में हथकड़ी लग सकती है।"

"ओ! मेरे लिए बहुत दर्द है, न?"

भुजंग और भी शांत स्वर में बोला—"तुम्हारी एक विधवा दीदी है, बंशी। तुम्हारे सिवा उसका दुनिया में और कोई नहीं है।"

"वो सब बड़ी-बड़ी बातें रहने दे। 'वो' कहां है, पहले ये जवाब दो।"

"जवाब देने लायक कुछ है ही नहीं।"

"क्या? जो पांच लोग कह रहे हैं, वो सही है! उसे ढाका में लड़की खरीदने

वालों के हाथ बेच आए हो।''

भुजंग निरुत्तर होकर बोला—''पांच लोग यह भी कह रहे हैं?''

''अवसर पाकर बोलेंगे नहीं? बोलने के लिए ही तो दुनिया मुंह देखती रहती है।''

भुजंग सीधा खड़ा होकर बोला—''ठीक है। सारी बातें तो खत्म ही हो गईं। उससे वार करो। मेरा सिर धड़ से अलग कर दो। अभागे भुजंग की मृत्यु-यंत्रणा भी खतम हो जाय।''

''वाह, वाह! खूब अच्छी ऐक्टिंग कर लेते हो। तुम्हें अब किस बात की यंत्रणा?''

''तुम्हारा दिमाग ठीक होता तो तुम समझ भी पाते, बंशी, कि किस बात की यंत्रणा। लेकिन मैं देख रहा हूं कि तुम्हारा दिमाग ठीक-ठाक नहीं है।''

''क्या? तुमने क्या कहा? मेरा दिमाग ठीक नहीं है? साला, नमकहराम, बेईमान! तुम्हारी इतनी हिम्मत हो गई है...।''

''ऐ! बेईमान नहीं बोलोगे, बंशी! तुम्हारी बीवी को मैंने जबरदस्ती उठा ले जाकर नहीं भगाया था। तुमने ही जबरदस्ती अपनी संगिनी बीवी को मेरे साथ भेजा था। ...और उसने मेरे ऊपर वार किया...छोड़ो वे सब बातें। तुम मेरा सिर अलग कर दो। अपनी अग्नि शांत करो। मारो, मुझे मारो। देखूं खुद ही अपने गले पर...''

बंशी ने जल्दी-जल्दी बोरा दूर जमीन पर फेंक दिया और मजबूती के साथ खड़ा होकर बोला—''तुम साले, मौका लगते ही मेरी गर्दन साफ कर दो, यही न?''

''तुम्हारे मन में यह शंका हो रही है, बंशी?''

अचानक भुजंग बुक्का फाड़कर रो पड़ा।

बंशी चकित होकर देखने लगा। इसके बाद लपककर बोरे से हथियार निकाला और वार करने के बदले दूर एक मटमैले गड्ढे में फेंक दिया। बोला—''भुजंग! तुम मुझे सात जूते मार लो!''

भुजंग के दोनों हाथों को बंशी अपने हाथों में दबाकर बैठ गया।

भुजंग एक मटमैली हंसी हंसते हुए बोला—''तुम्हें मारने का प्रश्न ही नहीं उठता, बंशी। मैं खुद को ही दोनों वक्त दस-बीस जूते रोज मारता हूं, रे! दो हफ्ते से दुनिया-जहान, सारा काम-काज भुलाकर एक मति फिर गई लड़की को मना रहा था, लेकिन वश में न कर सका। उसके हाथ-पांव पड़कर कहा—''मैं अकेले जाकर बंशी को कौन-सा मुंह दिखाऊंगा, छंदा? आखिर एक बार के लिए भी लौट चलो, इसके बाद तुम्हारे मन में जो आए करना। ...तो वह अंगूठा नचाते हुए बोली—'पिंजरा तोड़कर बाहर आया पंछी फिर पिंजरे में जाएगा? तुम्हारे-जैसी बुद्धू नहीं हूं।''

बंशी धीरे से बोला—''तो किसी और के साथ भाग गई?''

''और किसी के साथ? इतनी नीची निगाह नहीं है महारानीजी की। एकदम ऊपर की टहनीवाले फल पर निगाह है। ...तुमसे क्या बताऊं, रे बंशी, अपेरा पार्टी की हीरोइन

को देखकर बोली—'वो मेरे बचपन की सहेली है। मैं पहचान रही हूं। नाटक खतम होने के बाद उससे मिलने जाऊंगी...।''

''उसके बाद?''

''उसके बाद की कहानी यही है—उसके बाद एक अद्‌भुत स्थिति सामने उपस्थित हुई, बंशी। मेले का मैदान खाली हो गया, जो जहां से आया था, चला गया। भुजंग तंबू के बाहर 'हा पितेसि' बना खड़ा रहा, छंदा भीतर अपनी सहेली के पास घुसकर बैठी रही। ...उसके बाद एक आदमी भेजकर खबर भिजवाया कि भुजंग बाबू को वापस लौट जाने को कहो। मैं इन लोगों की पार्टी के साथ ही सवेरे 'घांटाल' जा रही हूं। वहां एक नया नाटक होगा '।''

''तुम मेरी स्थिति समझ सकते हो, बंशी।''

भुजंग दोनों हाथों से अपना सिर पकड़कर बैठ गया। बोला—''मैं अकेला मुंह पर चूना-कालिख पोतकर आता? बोलता—'बंशी, तुम्हारी बहू मेरे हाथों से सरक कर भाग गई।' ...उन सबों के साथ-साथ मैं भी घांटाल चला गया। ...वह मुझसे मिलना ही नहीं चाहती थी। बोलती थी—'नाटक मंडली में मैं भी नाम लिखाऊंगी।' अंततः छोड़कर चले आने के अलावा रास्ता ही क्या था? ...घांटाल से दासपुर, महिषादल, और वहां से तमलूक! मिलने पर मैंने बहुत अनुनय-विनय किया कि लौट चलो छंदा। अंत में उसके अधिकारियों को पुलिस का भय देकर भी हड़काया। लेकिन उसने कहा कि—'आप जाइए—जाइए महाशय, जितनी पुलिस ले आ सकते हैं उतनी लाइए। छंदा देवी नाबालिग नहीं हैं, वे वयस्का हैं। उन्हें अपने जीवन के बारे में निर्णय लेने का अधिकार है।' ...छंदा ने भी आकर खरी-खरी सुना दिया—'क्यों जान देने पर तुले हो, भुजंग दा? मुझे उस घर में जाकर बर्तन-बासन मांजने का कोई शौक नहीं है। पहली बार में ही नाटक के अधिकारियों ने मुझे हीरोइन का रोल देने का प्रामिस किया है।' ...फिर भी मैंने गुस्से में रोते हुए कहा—'तुम्हें धर्म की कसम है, छंदा, जरा सोचकर देखो तो तुम्हारे पति का कैसा मुंह रहेगा और मैं कहां मुंह दिखाने लायक बचूंगा?' तो वह बेहया कुलटा हंसते हुए बोली—'मैंने भुजंगभूषन और बंशीवदन के चेहरे के रंग के नाम कोई बांड तो भरा नहीं है...?''

''उसने ऐसी बात कही?''

बंशी अचानक भुजंग को चौंका देनेवाली हंसी हंसा—''और वही मुंहझौंसा बंशीवदन उस बेहूदी, बेहया, बुद्धिभ्रष्ट औरत के कारण 'शत्रुविनाशक' का रोल करने के लिए, तुम्हें हमेशा-हमेशा के लिए खतम कर देने के लिए हथियार पर सान चढ़ाए घूमता फिर रहा था। मुझे दीदी सही कहा करती है 'निबुद्धि की ढेंकी।' 'मूर्ख शिरोमणि!' ...हा हा हा!!''

मकान का नाम 'शुभदृष्टि'

एक बहुत बड़ा मकान। तीन मंजिला। सुंदर बरामदे से घिरा हुआ। मकान का नाम 'शुभदृष्टि'।

नाम के लिए तो यह शादी का घर है। जैसा नाम है वैसा ही दाम भी। वह कहने लायक नहीं है। इस युग में 'दाम' शब्द का तो कोई मतलब ही नहीं है। मुख्य बात है जुगाड़ की। पा जाने पर खुद को परम भाग्यवान समझने की। दो-चार महीने पहले से अगर इसे बुक न कराया गया तो फिर मिल पाना मुश्किल है। शादीवाले लोग शादी के लिए लड़के-लड़की के संपर्क से पहले मकान के संपर्क से निश्चिंत हो जाना चाहते हैं।

झालरों से सजे इस मकान के ऊपरी सिरे पर बिजली की बत्तियों से लिखा हुआ है—'शुभदृष्टि'। नाम के नीचे विज्ञापित शिष्टाचार लिखे हुए हैं, जो जल रहे हैं, बुझ रहे हैं। आइए , स्वागतम्।

इस शिष्टाचार, सजावट एवं विवाह के प्रयोजन-संबंधी बहुत सारे सामानों की व्यवस्था इस मकान के मालिक ही मुहैया कराते हैं।

विवाह पार्टीवाले उच्छवसित होकर बोलते हैं—''दाम थोड़ा ठीक-ठीक लगाइए!''

आजकल की पार्टियां भी कई बार ऐसी बातें बोलती हैं।

शादियां आज कल बहुत आडंबरपूर्वक होने लगी हैं। लड़कियों की शादियां।

मकान के सामने लान में दूल्हे और बरातियों के लिए एक राजदरबार की तरह की सजावट। यह सब डेकोरेटर मुहैया कराते हैं।

भीतर दुल्हन को घेरकर बैठी उसकी सखियां और अभ्यागत महिलाएं गायन-वादन के बीच से उठ-उठकर आकर बाहर झांके जा रही हैं और अपने कंचन बदन पर प्रलेपित विचित्र विदेशी परफ्यूम की सुगंध और ताजे फूलों के गजरे की मिली-जुली सुगंध बिखेरकर हवा को और भी गाढ़ा कर रही हैं।

निमंत्रित व्यक्तियों को इसके अलावा शहर के मशहूर कैटरर की बिखेरी सुगंध और भी उतावला किए दे रही है।

मकान के सामने गाड़ी खड़ी करने की जगह। निरंतर एक-एक कर आती हुई गाड़ियां उस जगह एक के पीछे एक लगकर लाइन को और भी लंबी करती जा रही हैं। बाद में आए लोग मुंह बिचकाते हुए उस लंबी लाइन को पार करके गेट में घुस रहे हैं। दो सुंदर लड़कियां, उससे भी अधिक सजी हुई, अजंता की तस्वीर को साकार करती हुई भंगिमा में अभ्यागतों के हाथ में एक-एक लाल गुलाब थमाती जा रही हैं।

ये सब दृश्य कोई नए नहीं हैं। विभिन्न मंचों पर खेले गए एक ही नाटक की तरह लग रहे हैं। फिर भी मनोरम, मनोरम। जैसे तंबू के भीतर खेले गए 'शुभदृष्टि' नाटक के बहुदर्शित, बहुपरिचित दृश्य। यह निरंतर चलता ही रहता है, फिर भी देखने के लिए ठेलमठेल, धक्कमधक्का। इसमें कोई कसूर नहीं है। इस हंसी, हो-हुल्लड़ और रसिकता की पुनरावृत्ति का भी कोई कसूर नहीं है।

यह सब कुछ मिलकर अलकापुरी की सुषमा-जैसा परिमंडल निर्मित कर रहा था। देखने से ऐसा लग रहा था कि इस पृथ्वी पर कहीं कोई मलिनता है ही नहीं। है तो सिर्फ हिंसा, कुटिलता और क्रोध के निःश्वास की तेज छुरी।

यद्यपि इस दृश्य से कुछ गज की दूरी पर ही, एक अंधेरी गली के मोड़ पर ये सारी चीजें मौजूद थीं। हिंसा को एक पूर्वकल्पित संकल्प की तरह सांस रोककर ग्रहण कर रखा है भेलो, रंटा, मृणाल, सौकत और सव्यसांची ने।

ये मुहल्ले के पंचरत्न हैं। हमेशा गली के मोड़ पर गोपी की चाय की दुकान की बेंच पर बैठकर अड्डा जमाए रहते हैं। इनमें विश्वविद्यालय के स्नातक से लेकर स्कूल की देहरी भी न पार कर पानेवाले तक हैं, हालांकि सभी एक ही ढंग से हां-हां, ना-ना करते रहते हैं।

किस तरह यह सब संभव हो पाता है?

कहना मुश्किल है। कहा जा सकता है। एक बार किस मुहूर्त में इनका मिलन हो गया? ईश्वर के मन में पता नहीं क्या था?

मुहल्ले में ये सब एक आतंक हैं। लोग इन्हें 'पंचरत्न' कहते हैं। हालांकि मन-ही-मन 'पंचपाप' भी कहते हैं एवं किसी भी उपलक्ष्य पर जब बाहर निकलना होता है, तो पांचों साथ ही निकलते हैं। पांचों के पांच तरह के चेहरे-मोहरे, पांच तरह के पहनावे हैं, फिर भी भंगिमाएं पांचों की एक-जैसी ही हैं। इस भंगिमा की भाषा होती है—'लड़कर लेंगे'।

ये सब विश्वविनाशक भंगिमा एवं खुद को दूसरों के सामने खूंखार बनाए रखने के लिए कठिन ललकार और अपने भविष्य के प्रति थोड़ा-सा केयर भाव को प्रमुख हथियार के रूप में इस्तेमाल करते हैं।

'गुंडा' चरित्र के जितने भी गुण होते हैं, इन सबों ने, सब चुन-चुनकर ग्रहण किए हैं। बातचीत, चाल-चलन आदि में कंधे उचकाने की कुत्सित भंगिमा से यह समझने में देर नहीं लगती है कि **इन सब में कोई-कोई संभ्रांत परिवार का लड़का भी** है।

इसके पहले यह सब किसी भी उत्सव-समारोह वाले घर के आस-पास अस्त्र-शस्त्र लेकर इकट्ठे हो जाते थे। उनके मन में बिना किसी तर्क किए झपट पड़ने का क्रूर संकल्प हुआ करता था, जिसे लूट-राज्य का धंधा कहा जाता था।

नहीं। आज ऐसा नहीं है। आज 'केस' अलग तरह का है। आज, काफी दिनों

तक योजना तैयार करने के बाद कहीं आक्रमण करने जा रहे हैं। पैसा, रुपया, गहना लूटना इनका उद्देश्य नहीं है। (हालांकि भेला, रंटा, मृणाल आपस में यह बातें कर रहे हैं कि यह सब भी इकट्ठा कर लिया जाय तो बुराई ही क्या है?) आज की लूट का उद्देश्य है उत्सव की नायिका को लूटना।

किंतु क्यों?

कारण है।

उस लड़की ने इस 'पंचरत्न' के श्रेष्ठ रत्न के साथ बहुत धोखाधड़ी की है।

हां, निर्धारित रूप से अगर कोई व्यक्ति किसी दल का नेता हो जाता है तो उस दल के बाकी लोग उसकी भक्त-प्रजा में परिणत हो जाते हैं। इनके दल के नेता पद पर सम्मानित शौकत और इस उत्सव की नायिका, कभी दोनों एक ही मुहल्ले में रहा करते थे तथा एक मशहूर को-एजुकेशनवाले स्कूल में, एक ही क्लास में पढ़ा करते थे।

लेकिन पढ़ते क्या थे? प्रेम में ही ज्यादा पड़े रहते थे। क्लास एट, नाइन में जिस तरह का प्रेम संभव था, उसी में।

इसके बाद मुहल्ला बदला, पाल्हा बदला। कोई किसी से मिल न सका फिर। कौन किधर गया, पता नहीं।

अचानक इतने दिनों बाद एक दिन एक नए सुंदर फ्लैट से बाहर निकलकर जाते हुए उस लड़की को देखा गया। हाथ में किताबें लिए गोपी की दुकान के सामने से बस-स्टैंड की तरफ जाते हुए। यूनीवर्सिटी की छात्रा लग रही थी।

शौकत तुरंत लपककर उसकी तरफ बढ़ा और विगलित स्वर में बोला—"नोटन, तू यहां!"

लड़की थोड़ा-सा रुकी। एक बार आंख उठाकर नीचे से ऊपर तक उसे देखी, फिर गोपी की दुकान में बैठे भेला और रंटा की तरफ देखी और मना करते हुए बोली—"आपको शायद गलतफहमी हुई है। मैं नोटन नहीं हूं।"

शौकत की सिट्टी-पिट्टी गुम हो गई।

"ओह! आप नोटन नहीं हैं? सॉरी। ठीक है।" लौटकर वह साथियों में बैठ गया और एक सियार की आवाज निकाली।

गोपी बोला-"यह क्या हुआ मास्टर?"

"यह? यह सत्य का जयगान हो रहा है।"

"तुम कब क्या बोलते हो, समझ में नहीं आता।"

वह तो पहला दिन था। लेकिन उसके बाद से निरंतर ही उस लड़की को इस रास्ते से बस-स्टैंड जाते समय, लौटते समय, इन हरकतों का सामना करना पड़ता।

इसके बाद से निरंतर एक स्नायु-युद्ध चल रहा है।

लड़की इस तरह मस्त चाल से चलती, जैसे कोई महारानी हो और चलते हुए

रास्ते में इस तरह देखती जैसे उसकी आंखों के सामने कोई कीड़े-मकोड़े, मेढ़क आदि हों या उसके जूते से कोई तिलचट्टा चिपट गया हो। बहुत असह्य है यह दृष्टि।

लेकिन उस दृष्टि के सामने जाकर भव्यता नष्ट करने से तो काम बननेवाला नहीं है। उससे तो प्रेस्टिज ही खत्म हो जाएगी। उससे तो और भी असभ्य बन जाएंगे। सियार की बोली, कुत्ते की बोली, गधे की बोली, तीखी-से-तीखी आवाज में, सीटी मारने के तो अनेक तरीके हैं। लेकिन लड़की बहुत स्ट्रिक्ट है। जैसे इस्पात।

चेहरा देखने से तो ऐसा लगता है कि यह सब उसे सुनाई ही नहीं दे रहा है। उसकी आखों में वही घृणा और अवज्ञा की कड़वी छाया होती है।

हालांकि इस रास्ते के अलावा आने-जाने का दूसरा कोई रास्ता भी नहीं है। यहां से बस-स्टैंड जाने का सिर्फ यही एक रास्ता है।

बीच रास्ते में जैसे कोई गंदी नाली पड़ जाने से लोग मजबूर होकर, फांदकर, पार करते हैं, वह भी उसी तरह मजबूर होकर गोपी की चाय की दुकान पार करती।

एक भिन्नता यह है कि गंदी नाली की तरफ लोग देखते नहीं हैं, किन्तु यह ऊंची नाकवाली लड़की पल भर के लिए ही सही, एक बार अपनी पलक उठाकर जरूर देख लेती है।

पता नहीं क्यों? शायद अपनी घृणा व्यक्त करने के लिए ही।

लेकिन मुंह से कुछ बोलती नहीं। उसको आते देखकर हाय-हाय, हाय-हाय होनी शुरू हो जाती। देखो, वो महारानी चली आ रही हैं। आहा हा, देखो पैदल ही चली आ रही हैं। जैसे पूरी दुनिया इनके बाप की ही जमींदारी है। ...आ हा हा। राजहंसिनी नीची हो गई, देखा? उस पर कैसी मदमस्ती है।

गाने की धुन भी सुनाई देती—"हाय ऐसे न मार फिर नयना कटार। जिआ धक-धक धड़का जाय।" फिर रंटा गा उठता—"राधे जइयो न जमुना के तीर, मैं तो जानूं जाती इसकूल।"

वह टस से मस नहीं होती। अवज्ञा। कभी भी वह लौटकर कुछ बोली नहीं, और न तो कभी किसी बाडीगार्ड के साथ ही आते देखी गई।

बस वही एक बर्फीली निगाह।

दिन पर दिन यह बर्फीली तीरंदाजी हिंसक हो उठी।

पांच-पांच बीहड़ लड़के एकमात्र रूपसी तरुणी की अवज्ञा और घृणा-भरी दृष्टि से इस तरह घायल हो सकते हैं, सोचा भी नहीं जा सकता था।

हां, वह रूपसी थी, इसमें कोई संदेह नहीं। रूपसियों में अहंकार भी होता है। लेकिन वह रूप का अहंकार नहीं था, बल्कि स्फटिक की तरह दृश्यमान एक आभिजात्य अहंकार था, जिससे सबको जलन होती थी।

"ना, जब तक उसकी ऊंची नाक रगड़ नहीं दूंगा, मुझे चैन नहीं। गुरु, एक बार हुक्म तो करो। साली को किसी दिन उठा ले आता हूं।"

'उठा ले आता हूं।' इतनी आसानी से बोला, जैसे उसे उठाकर ले आना कोई मुश्किल काम नहीं हो, जैसे यह सब उनके नित्यप्रति के कामों में शामिल कोई काम हो।

बोलना जितना आसान है, उतना करना आसान नहीं है।

रास्ता चलते, परिचित लोगों के बीच से, दिन-दहाड़े, एक शरीफ आदमी की लड़की को खर-पतवार की तरह आसानी से उठा लेना संभव नहीं है।

अतएव, रोज ही प्रार्थना करते—"प्रभु , एक बार आज्ञा दो ताकि उस राजहंसिनी की गर्दन मरोड़कर तुम्हारे हाथ में सौंप दूं। हा हा हा. तुम्हारी प्राण-प्रेयसी को।"

गुरु बोला—"चुप, चुप। एकदम खामोश।"

भेला और रंटा प्रमुख दुस्साहसी थे। रास्ता चलते किसी लड़की को उठा लेने का उन्हें कोई अभ्यास नहीं है। वी. टी. रोड पर ट्रक रुकवाकर उस पर से माल उतार लेने का अभ्यास तो है। इसीलिए वह खामोश हो गया।

एक दिन उनमें से एक ने हांफते हुए आकर सूचना दी—"'नाकऊंची' की शादी हो रही है। लड़का बहुत सुंदर है। जापान में नौकरी करता है। शादी करके उसे जहाज से लेकर चला जाएगा।"

"आयं। ऐसा?"

"तो फिर ऐक्शन लेने में देर नहीं होनी चाहिए।"

"शादी कब है?"

"इसी बाईस तारीख को। उस 'शुभ दृष्टि' वाले घर में। बुक हो चुका है।"

"तुम्हें इतनी खबर कहां से मिली है, रंटा?"

"हूं, बाबा। सोर्स है। उसकी बर्तन मांजनेवाली मेरी ही बस्ती में रहती है।"

"क्या किया जाय, बोलो तो? कल ही नेपाल की टैक्सी बस-स्टैंड के किनारे लगा दें—माने लौटते समय? चलो नेपाल को बोल आया जाय।"

लेकिन दुर्भाग्य।

उस कल नोटन को—जिसका कि शादीवाले कार्ड पर 'वंदिता' नाम छपा था—कालेज जाते हुए नहीं देखा गया।

"इसका मतलब कि पढ़ाई खत्म!"

"अब क्यों पढ़ेगी? इतने बड़े पेड़ से नाव जो बंध गई है।"

"लेकिन नाव को छीन लाना होगा। समुद्र में डुबो देना होगा। इतने दिनों की बर्फीली निगाह का फल तो खाना ही होगा न? हाथ से निकल जाने पर हम आसमान में भी उड़ सकते हैं। हम पांच-पांच जवान गाल पर तमाचा खाकर चुपचाप गाल सहलाते रहेंगे।"

नहीं। यह नहीं हो पाएगा। असंभव है। दुनिया में अहंकारियों की ही जय जयकार होगी? किसी भी तरह वह होने नहीं दिया जाएगा। किंतु किस तरह नहीं होने

देंगे? उसको चार मंजिले फ्लैट से उठाकर ले आना होगा? बहुत रिस्क है उसमें। बहुत सारे उपाय, बहुत सारे परामर्श। अंत में सिद्धांत। यही सबसे सेफ है।

"शादी की शाम चहल-पहल और लोगों की भीड़ के बीच से" रंटा बोला—"मैं दो ठो रिवाल्वर की व्यवस्था करके रेडी रखूंगा। और चाकू तो हैं ही। नेपाल की टैक्सी में दो फालतू आदमियों को भी रख लूंगा, वे क्लोरोफार्म से भीगी रूमाल और मुंह पर बांधनेवाला कपड़ा लेकर बैठे रहेंगे। उन्हें कुछ माल-पानी दे दिया जाएगा। हां बाबा, गहनों से लदी हुई माल मिलनेवाली है!"

शौकत बोला—"इतने लोगों के बीच हम सिर्फ पांच लोग—यह कैसे संभव हो सकेगा? बहुत रिस्क का काम नहीं है?"

रंटा हंस पड़ा—"हाथ में चाकू और पाइपगन देखकर लोग क्या लोग रह जाएंगे, गुरु? सिर्फ कीड़े-मकोड़े बनकर रह जाएंगे। देखना, कैसे हमलोग पहुंचते ही शुरू हो जाएंगे। साथ-साथ महिलाएं अपने-आप 'जान मत मारो, जान मत मारो' चिल्लाती हुई जेवर उतार-उतार कर फेंकना शुरू कर देंगी।"

"अरे आजकल शादियों में महिलाएं जो गहने पहनकर आती हैं, हा हा, वो सब लेने लायक होते हैं! डेढ़-दो रुपएवाले सोने के हार होते हैं।"

सव्यसांची हड़काते हुए बोला—"हम लोग सोना लूटने जा रहे हैं?"

मृणाल बोला—"पहले से ही हाथ में हथियार लेकर नहीं घुसना है, जस्ट निमंत्रणवाले लोगों की तरह आगे बढ़कर पहले खाना खा लें, फिर ऐक्शन लें तो कैसा रहेगा?"

"मारूंगा थप्पड़! खाना खाएंगे। आजकल पहले-जैसी बात नहीं रही। पार्टी देनेवालों की दृष्टि गिद्ध की होती है। एक फालतू आलपिन भी घुस आए तो पहचान जाते हैं। एकदम से घुसते ही मार-मार करना शुरू कर देंगे।"

"तो कब घुसेंगे? वह शुभ घड़ी कब आएगी?"

"हां, शुभ घड़ी का चुनाव बहुत जरूरी है।"

गली के मोड़ पर सांस रोककर खड़े पांच लोगों में से चार लोग इसी वक्त को ठीक समझ रहे थे। अभी दूल्हा नहीं पहुंचा है। जैसे ही दूल्हा आएगा बरातियों की एक भीड़ जुट जाएगी। विपक्षी की ताकत और बढ़ जाएगी।

लेकिन बाकी एक आदमी अर्थात् नेता का विचार उनसे अलग है। उसका विचार ठीक उल्टा है। दूल्हा आते ही दुल्हन के कमरे की सारी महिलाएं व्यस्त हो जाएंगी। वही समय बेस्ट रहेगा।

"लेकिन हमलोग तो चोरी करने जा नहीं रहे हैं, गुरु, हम तो सुभद्राहरण के लिए जा रहे हैं। चाकू नचाते हुए घुसेंगे। और तुम लोग रिवाल्वर की नली उन सब की छाती पर रखते हुए , हा हा हा। दो चार हताहत भी हो सकते हैं। देखो, अगर बिना रक्तपात किए काम बन जाय तो हताहतों की संख्या बढ़ाने से क्या लाभ?

"इसके बाद? आयं!"

"मैं कहता हूं, घर की तरफ ठीक से देख तो लिया है न? पीछे की तरफ सुई पार होने लायक तीन तला तक एक स्पाइरल सीढ़ी गई हुई है। पीछे से जाकर वह आपातकालीन दरवाजा कोई एक आदमी खोल देगा। जैसे ही दूल्हा आएगा, कार्यकर्त्ता सब व्यस्त हो जाएंगे और अंदर जितनी भी महिलाएं होंगी वे 'दूल्हा आ गया, दूल्हा आ गया' बोलते हुए , शंख बजाती हुई हड़बड़ी में नीचे आ जाएंगी। कन्या बिल्कुल अकेली पड़ जाएगी। बहुतों को देखा है। ठीक उसी समय घेरेदार सीढी से चढ़कर—पूरी बात स्पष्ट रूप से मैं समझा नहीं पा रहा हूं। हाथ एवं मुंह से बारह आने समझाने की चेष्टा करूंगा। चेष्टा असफल नहीं होगी।"

"लास्ट मोमेंट में यह डिसिजन लोगे, गुरु? मैं कहता हूं कि इस तरह हमें घुसते हुए किसी ने देख लिया तो बाड़े में आग लगने-जैसी हालत हो जाएगी।"

"समझ रहा हूं। इसीलिए तो चुपचाप हो जाय..."

"वाह रे गुरु, तुम डर गए?"

"डरने की कोई बात नहीं है। मैं चाहता हूं कि हड़बड़ी का लाभ उठाया जाय। सभी तो जाने-पहचाने ही होंगे।"

"ओ हो। चेहरे पर तो मुखौटा लगाए रहेंगे।"

"क्या? तुम्हारे वे मसाले से बनाए गए मुखौटे! हा हा हा। सचमुच तुम लोग उसे पहनोगे?"

यह मृणाल की ही परिकल्पना थी। वह मुंह फुलाकर बोला—"क्यों नहीं? पैसा देकर खरीदा गया है। फालतू है क्या? अपना परिचय दिखाना जरूरी है क्या?"

"ठीक है। पहन लो। भेला, तुम जाकर वह दरवाजा खोलोगे।"

भेला बोला—"खुला हुआ है। यह क्या? शंख बजने लगे क्या?"

"हां बजने लगे।"

इसी बातचीत के बीच भों-भों करके एक साथ कई शंख बज उठे। लगातार बजते ही जा रहे थे और उनकी ध्वनि बढ़ती ही जा रही थी।

उसी पल तीर के वेग से ये सब भी बढ़ गए और घेरेदार सीढी से चढ़कर दूसरी मंजिल के बरामदे में आ गए। बाथरूम के सामने। इस पतले से बरामदे में बहुत सारी फालतू चीजें बिखरी पड़ी थीं। लेकिन आश्चर्य, यहीं से खिड़की से वह अद्भुत दृश्य दिखाई दे रहा था। सचमुच कमरे में कोई नहीं था। सभी महिलाएं नीचे उतर गई हैं।

दुल्हन के वेश में सजी वह अहंकारी लड़की अकेली बैठी हुई है, उसके सिर पर चारों तरफ दीवारों पर हजारों वाट के बल्ब जल रहे हैं। उसी प्रकाश के समुद्र में एक अपार्थिव प्रतिमा भासित हो रही है। माथे पर मुकुट, सारे अंग पर अलंकारों की छटा।

भेला दो कदम पीछे लौटकर हवा में झरे पत्ते-जैसी आवाज में बोला—"ओरे बास। महारानी तो आज एकदम नूरजहां लग रही है। ये सब गहने निश्चिय ही नकली नहीं हैं। आयं, ये रंटा, उहुक!"

"रुक!"

एक दबे स्वर में की गई निषेधाज्ञा ने उन्हें दबा दिया। खिड़की पर खड़े लोगों में जो सबसे लंबा था, वह सबसे पीछे खड़ा था। किसी को भी नहीं पता था कि वह विस्फारित नेत्रों से उस आलोक भासित प्रतिमा के चेहरे की तरफ एकटक देख रहा था।

किंतु नोटन? सही नाम वंदिता? वह क्यों नहीं देख पा रही है?

नहीं। उसकी पलकें उठ नहीं पा रही हैं। मुंह ओढ़नी से ढका हुआ है। गोद में दुर्गा सप्तशती है।

"चले आओ।" कमांडर ने इशारे से आदेश किया। आश्चर्यचकित चारों प्राणी जैसे पत्थर हो गए हों। "चले आएं?"

"हां। नीचे उतर चलो।"

"चले आओ। उतरते जाओ!"

"जाएंगे। अब एक सेकेंड भी नहीं रुकेंगे।"

खुद हुकुमदाता ने जबरदस्ती उसी सीढ़ी के कोने से एक बार झांककर देखा और अदृश्य हो लिया।

ये सब भी तेजी से उतरते चले गए।

"अचानक तुमने क्या देख लिया, गुरु?"

"लगता है, लड़की के बाप ने पुलिस की व्यवस्था कर रखी थी? वही देख लिया होगा?"

"लेकिन, कब? कहां से?"

"उफ! इतनी मेह्नत से जोड़-तोड़ करके खर-पात जुटाकर आग जलाई थी। तुरंत ही पानी पड़ गया।

चारों लोग गुस्सा, अभिमान, हताशा और विस्मय लिए चुपचाप तेजी से चले आ रहे थे।

बहुत देर बाद अंततः यह प्रश्न उठ ही गया—"यह क्या हुआ, गुरु?"

"कुछ नहीं।"

नेपाल अभी भी टैक्सी लेकर खड़ा था।

"चले आओ।"

"रहस्य मत बनाओ, साफ-साफ बोलो, गुरु।"

इस बार विपक्ष के गुस्से की बारी थी।

"साफ-साफ क्या बोलना है? अपनी आंखों से तुम्हें नहीं दिखाई दिया? उस

स्वर्गसुंदरी को उठाकर ले आता तो कहां रखता मैं उसको? बस्ती के कमरे में? बोल! बोल, यहीं न? क्या खिलाता रे उसे? छोटी जातियां जो भात खाती हैं, वही? देसी मुर्गी विलायती चाल। छोड़ने के अलावा रास्ता भी क्या था!"

भेला हठात बोल पड़ा—"वाह, ऐसी क्या बात है। वो तुम्हारी बहू हो जाती तो हमें भी बना कर खिलाती।"

"घूंसा मारकर तुम्हारे दांत तोड़ दूंगा, रास्कल। वो खाना बनाती?"

"धीरे-धीरे उसकी गर्दन दबाते जाते न? वो रास्ते के नल से पानी लेने आती, खुली सड़क पर बैठकर नहाती, कपड़े धोती, मसाला पीसती, बर्तन मांजती। इमली के चबूतरे पर बैठ चूल्हा जलाकर खाना बनाती, क्यों? क्या पकाती, आयं? हम पांच-पांच सुअर मिलकर उसको क्या ले आकर दे देते? मैं पूछता हूं, बोलो? और उसे? उसे एक रस्सी नहीं मिलती? कि दो बोतल किरोसिन नहीं मिल पाता? इस बात को कभी सोचा? हम आदमी नहीं, जानवर हैं?"

राजपथ को छोड़कर

"सरोज दा, यह है चाभी..."

बहुत सारी चाभियों से भरे एक गुच्छे में से एक बड़ी-सी चाभी निकालकर ध्रुव ने सरोज की तरफ बढ़ा दी।

गली के मुहाने पर सामने ही टैक्सी में सब सामान वगैरह रख दिया गया है। घर के बाकी लोगों ने पहले से ही टैक्सी में अपना स्थान सुरक्षित कर लिया है। ध्रुव चाभी देने के लिए दौड़ते हुए आए।

विदाई के समय अब नया कुछ कहने को शेष नहीं है।

सरोज बड़े ही स्नेह-विगलित स्वर में बोले—"निकल रहे हो? सावधानी से जाना। घूमकर सकुशल लौट आना। अभी तो गाड़ी के समय में काफी देर है। अभी से..."

ध्रुव बोले—"अब और मत कहिए! मां के बारे में तो आपको पता ही है। पांच घंटा पहले से ही जल्दी मचाई हुई हैं। घर से हावड़ा स्टेशन तक पहुंचने में रास्ते में कितनी तरह की रुकावटें आ सकती हैं, सबकी लिस्ट तैयार की हुई हैं।"

चाची तो हमेशा से ही ऐसी हैं।

सरोज हंस पड़े।

बोले—"अच्छा!"

ध्रुव ने झुककर प्रणाम किया।

सरोज बोले—"अरे बाबा, यह तो सबके साथ हो ही चुका है। काकी मां के हाथ की बनी मिठाई खाकर आना। अच्छा, आगे बढ़ो। चिंता करने की कोई जरूरत नहीं है, जहां तक हो सकेगा मैं करूंगा। अच्छा। अच्छा!"

यह दो बार अच्छा, अच्छा सुनने में प्रायः दुर्गा, दुर्गा की ही तरह लगा। किंतु यह स्नेह की व्याकुलता से प्रस्फुटित शब्द थे।

गाड़ी की खिड़की से ध्रुव की छोटी बेटी का चेहरा दिखाई दिया। **बोली**—"सरोज दा, टा टा!"

सरोज मन-ही-मन हंसे, यह लड़की जेठ-बड़े का मतलब ही नहीं समझती। उसके पापा जो बोलेंगे, वह भी वही बोलेगी।

वह कोई भेद नहीं जानती। पापा जिसे जो संबोधन देंगे वह भी उसे वही संबोधन देगी। इसीलिए वह दादी को 'मां', बुआ को 'बड़ी दी', 'छोटी दी', और अपनी मां को नाम से बुलाती है—'शर्मिला, शर्मिला'। मां के बहुत डांट-डपट करने पर तो अब बोलती है—"अच्छी मां!"

सरोज थोड़ी देर तक वहीं खड़े रहे। इसके बाद अपने घर के ठीक सामनेवाले तालाबंद घर को गौर से देखने लगे। नए रंग से पुताई होने के कारण दो मंजिला घर बहुत सुंदर लग रहा है। सामने एक तरफ से खिड़की-दरवाजे लगे हुए हैं। एकदम झक-झक दिखाई दे रहा है। सोचँले लगे, घर की कोई खिड़की खोलकर एक झक-झक चेहरे की हंसी अब बहुत दिनों तक दिखाई नहीं देगी। जिसके मुंह से सुनाई देगा कि—'सरोज दा, ओ सरोज दा! तुम्हारी चाय तैयार है? मैं यहां आलतू-फालतू दूध, अंडा और पावरोटी खा रही हूं। स्कूल जाना है न!''

कल से स्कूल की छुट्टियां हो रही हैं। तो इसी घर में सरोज दा को रात काटनी होगी। सुनसान घर में। रक्षक अथवा पहरेदार की तरह।

सरोज के लौटकर आते ही सुलता बोल पड़ी—''चाभी का गुच्छा सिर पर थोपकर चले गए न? तुम भी सचमुच। सब समझते हो पर ...।''

अभियोग का स्वर सुनकर समझा जा सकता था कि यह बहुत पुराना राग है, कोई नया नहीं है। बार-बार एक विरक्त भाव से एक ही अभियोग का सुर सुलता के कंठ से बजता रहता है। असहिष्णु झंझावात के साथ।

जैसे सरोज कोई चोर हों।

बहुत ही विपन्न स्वर में बोले—''इसमें सिर पर क्या थोपना और क्या फेंकना। हमेशा ही तो...''

''समझती हूं। हमेशा से ही तो देखती आ रही हूं। एक आदमी मूर्ख है और एक आदमी इसका लाभ उठाता रहता है। क्यों? बोल नहीं सकते थे कि अब तुम्हारी उमर हो गई है। हर समय तबीयत खराब ही रहती है। तुम्हारी चाकरी और घर की रखवाली मुझसे नहीं हो पाएगी।''

वाह, चमत्कार!

सरोज उत्तेजित हो उठे। बोले—''मैं एक बूढ़ा, बेकार रोगी हूं, इस घर से उस घर में जाकर मैं कुछ-एक रातों को सोकर उपकार नहीं कर सकता। क्यों?''

''इस घर से उस घर?''

''तो और क्या? रोशनी जलाने पर उनके घर से तुम्हारा चलना-फिरना, लड़ना-झगड़ना, सब कुछ तो साफ-साफ दिखाई देता है। जरूरत पड़ने पर आवाज देकर बुलाया भी जा सकता है। तो इसमें मुझे दिक्कत ही क्या है?''

मां-बाप की बातचीत के बीच में ही मनोज आकर खड़ा हो गया। इजलास में बैठे जज की तरह बोल पड़ा—''मां का सवाल तुम्हारी सुविधा-असुविधा को लेकर नहीं है, बाबू। सवाल है दूसरे पक्ष के अन्याय और लाभ उठाने का। तुम इज्जत और लाज का खयाल करते हुए दूसरे के लाभ उठाने की प्रवृत्ति का शिकार हो रहे हो।''

''शिकार!''

सरोज अवाक् रह गए। यह एक प्रतिबद्ध भाषा है। उन्होंने इसे उड़ाने की चेष्टा

करते हुए कहा—"तुमने इतनी बड़ी-बड़ी बातें भी सीख ली हैं। जैसे तीर से मच्छर मारने का निशाना। पुराने पड़ोसी हैं, बचपन से ही आमने-सामने अपने लोगों की तरह ही रहते आए हैं, तो उनकी थोड़ी-सी सुविधा-असुविधा का खयाल तो रखना ही पड़ता है न?"

"देखो, यह तुम्हारी मर्जी है। किसी के समझाने से क्या मान जाओगे? फिर, मन तो और भी खराब ही होगा। लेकिन कभी वे तो तुम्हारे बारे में नहीं सोचते। अपना घर नौकर की तरह देखभाल करने के लिए सौंपकर चले जाते हैं। और तुम उनके घर पहरा देने चले जाओगे। आश्चर्य! इसी तरह हमेशा से एक मूर्खतापूर्ण व्यवस्था चली आ रही है। और उसे चलने दिया जा रहा है।"

सरोज थोड़ा-सा नाराज होकर बोले—"आ रही है तो क्या? हमारा उसमें कितना नुकसान हो जाता है? यही कि आठ-दस दिन घर छोड़कर दूसरी जगह सोना पड़ता है। नौकर को सुविधा को ध्यान में रखकर नहीं रखा जाता, बल्कि सेफ्टी की दृष्टि से रखा जाता है। अकेले घर में उसको रख दें तो पता नहीं क्या करेगा क्या पता, घर का सब सामान लेकर चंपत हो जाय।"

"हुंह! बुद्धू को सारा हिसाब पानी-जैसा ही सीधा लगता है।"

सुलता ने थोड़ी-सी ऊंची आवाज में कहा—"ध्रुव राय हर साल सपरिवार पूजा देखने रेल पर चढ़के अपने मामा के घर जाएंगे और तुम जाओगे उनका घर अगोरने। कहते हैं, बुद्धिमान हमेशा दूसरों के सिर पर कटहल काटकर खाते हैं और मूर्ख सदा उनके आगे अपना माथा बढ़ा दिया करते हैं। देखते-देखते और क्या बोलूंगी। घृणा होने लगी है।"

उधर के कमरे से बुबू की आवाज सुनाई दी—"ठीक कहती हो, मां। मुझे भी।"

सरोज को और भी आश्चर्य हुआ। हमेशा से ही तो ऐसी व्यवस्था चली आ रही है। हर साल ही तो वे गांव में अपने मामा के पास पूजा देखने जाते हैं और सरोज उनके घर की रखवाली करते हैं। चाचा के मरने के बाद से ही यह व्यवस्था शुरू है। लेकिन इस बार सरोज का पूरा घर मिलकर युद्ध-क्षेत्र में उतर आया है। क्यों? कारण क्या है?

बहुत दिनों से सुलगती हुई आग है, जो कि उन सबों की तरक्की एवं घर के रंग-रोगन से घर के झक-झक हो उठने के कारण भक से जल उठी है। हालांकि सरोज को इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। तभी तो वे लड़ाई की कोशिश करने लगे—"इसमें घृणा की कौन-सी बात है, जरा मैं भी तो जानूं? तुम लोगों के हाव-भाव से तो मुझे कुछ भी पता नहीं चल पा रहा है।"

अब बुबू कमरे से बाहर निकल आई।

बुबू ने गर्दन से लेकर ऐड़ी तक एक ढ़ीला-ढ़ाला झूलता हुआ वस्त्र पहन रखा था। इसे पता नहीं क्या कहते हैं—सरोज को नहीं मालूम। तभी तो वे एक दिन बोल

पड़े थे—"यह क्या बेढ़ब-सा पहन रखा है, रे? ढ़ीला-ढ़ाला?"

तभी मां-बेटी दोनों ने मिलकर उन्हें पछाड़ दिया था—"पुराने जमाने के लोगों की तरह, गंवार की तरह हर चीज पर रिमार्क मत किया करो।" उसकी आंखों में आंसू भर आए थे। बुबू का बच्चों की तरह आंखों से आंसू पोंछकर सिसकना उन्हें अच्छा नहीं लगा था, किंतु उन्हें अपना प्यार प्रकट करने का साहस नहीं हुआ था। किंतु बुबू के चेहरे की वह लावण्यता पता नहीं कब नष्ट हो गई, यह देखकर उन्हें दु:ख हुआ।

उन्हें तब और दु:ख हुआ जबकि बुबू ने कठोर मुख से उनके ऊपर व्यंग्य किया।

बुबू के हाथ में एक कापी थी। उसे डुलाते हुए वह अत्यन्त तुच्छता से बोली—"आखों पर सात कपड़े लपेट दो तब भी अगर कोई देख पाता है, बाबू, तो वो जी. सी. सरकार ही केवल! तुम क्या कर सकते हो? तुम्हारी आखों पर तो सात-लपेट कपड़ा लपेटा हुआ है।"

"मेरी आखों पर सात-लपेट कपड़ा।"

"हां, सेंटीमेंट का लपेटा हुआ पर्दा! बाबू, अगर वे इतने ही आपके आत्मीय हैं, तो उन्होंने कभी एक बार भी हमसे चलने के लिए क्यों नहीं कहा? और ऊपर से बेशर्मी से तुम्हें घर की केयरटेकरगीरी करने को दे गए।"

सुनकर बहुत उत्तेजित हुए सरोज।

"कहा नहीं? कैसे कहेंगे? कितनी ही बार तो कहा है। पूछो अपनी मां से कि कहा है कि नहीं। चिरौरी-मिन्नत करके कहा है। लेकिन कभी तुम्हारी मां ने उनकी चिरौरी का मान रखा है? पूछो। हमेशा यह कहकर टाल देती है कि—'पूजा उनकी तो है नहीं, मामा की है। उनको बुलाने का कौन-सा फर्ज बनता है!' क्यों जी, बोलती क्यों नहीं? बोलो न बेटी के सामने?"

वो जब तक कुछ बोलती, उसके पहले ही बुबू बोल पड़ी—"अच्छा ठीक है। मां तो पागल है। आप-जैसी अक्ल कहां से आएगी उसे।"

फिर भी सरोज ने लड़ने की चेष्टा की—"एक बार तो उन लोगों ने मामा की तरफ से भी निमंत्रण भिजवाया था। उसके बड़े मामा खुद हमारे घर आकर बोल गए थे। तभी तुम्हारी मां-जननी की कहां मर्जी हुई थी? तब तुम्हारी दादी मां भी जिंदा थीं, उन्होंने भी कितना कहा था—'जाओ न, बहू! इतना तो वे कह रहे हैं। गांव की पूजा का मान ही अलग होता है।' गई? बोली—'उस घर में अपनी बेइज्जती करवाने कौन जाएगा? सबसे मेरा परिचय कराते समय कहा जाएगा कि ये हमारी पड़ोसी है। धत्, अकेलापन लगेगा।"

"दैट्स राइट। करेक्ट।" दालान की चौकी पर बैठकर बुबू ने पैर हिलाते हुए कहा। इसके बाद मुस्कराते हुए बोली—"तो तुम क्यों नहीं चले गए? तुम्हें अपनी प्रेस्टीज का इतना खयाल तो था नहीं। ओ! जाते भी कैसे? उनके घर की रखवाली

कौन करता?"

"ये क्या मूर्खों की तरह बोलती रहती हो तुम! यह अभी कितने दिनों की बात ही है, अभी तक तो मौसा भी जीवित हैं। वहां तो वे जाते नहीं।"

"ओ मां, ये क्या! ससुराल की पूजा! इतना होच-पोच! जाते नहीं? आहा! क्यों? ससुराल में पटती नहीं होगी?"

सरोज बहुत आहत हुए।

क्या बेटे-बेटियां भी उनके विरोधी हो गए हैं? बड़े-बूढ़ों के प्रति श्रद्धा-सम्मान की तो कौन कहे, उल्टा चिढ़ानेवाली भाषा बोलने में ही उन्हें मजा आता है। अपने को बहादुर समझते हैं। और उन्हें? पग-पग पर बाप को डाऊन करना ही बेटे-बेटियां अपना कर्त्तव्य समझते हैं। कोने में ढकेले जाते-जाते अब सरोज जैसे चोर बन बैठे हैं। जो कुछ भी करते हैं या तो उनकी गलती होती है या तो वह हास्यास्पद होता है। जैसे अब कुछ भी करने का अधिकार नहीं रह गया है। पता नहीं, कब से ऐसा हो गया है।

आश्चर्य, सुलता भी क्रमशः उनके ही खेमें में शामिल हो गई है। एक साथ तीन-तीन लोगों के चाकू सरोज को काटने पर तुले हुए हैं।

यद्यपि सरोज का इस तरह का स्वभाव ही नहीं है कि वे बोलें कि 'अब बहुत हो गया! जो मैं कर रहा हूं ठीक कर रहा हूं। मेरे मामले में टांग अड़ानेवाले तुम कौन हो?'

नहीं, वे ऐसा बोल नहीं सकते, बल्कि दूसरे पक्ष की बातों का ही समर्थन करते चलते हैं। अभी भी वे आहत होकर भी एक अलग स्वर में बोले—"तुम लोगों की सारी बातें इतनी आग्रहग्रस्त क्यों होती हैं। चाचा दिल के पुराने मरीज हैं। उन्हें हो-हल्ला बर्दाश्त नहीं हो पाता। इसीलिए ये लोग वहां नहीं जाते। वे बोलते हैं कि घर में मैं अकेला ही रहूंगा। वहां रसोइया तक को तो वे रखते नहीं। एकदम अकेले रहते हैं। एक दिन तो उन्होंने मुझे निमंत्रण भी दिया था कि—'सरोज, एक दिन तुम दोनों आकर मेरे यहां खाना खाओ।' कैसे अद्‌भुत आदमी थे!"

"तुम्हें तो उनके घर की हर चीज ही अद्‌भुत लगती है। उनके कुत्ते-बिल्ली भी तुम्हें अद्‌भुत लगते हैं।" सुलता झुंझलाते हुए बोली।

पता नहीं, उनके घर से सुलता को क्यों सदा चिढ़ रहती है। सरोज इस बात को प्रायः अनुभव करते रहते हैं। पहले अगर जवानी के दिनों में इस तरह की बातें उठतीं तो अवश्य इसका दूसरा अर्थ लगाया जा सकता था। सोचा जा सकता था कि उनके घर जाने, बैठकर बात करने अथवा, गप्प मारने में सुलता को दिया जानेवाला समय नष्ट होने के कारण उसे सरोज के ऊपर गुस्सा आता है।

किंतु अब? अब एक रिटायर्ड बूढ़े आदमी के साथ संगकामना कैसी? पहले जो बैठकी होती थी उसे तो सरोज ने छोड़ ही दिया है, सरोज का राजनैतिक मतवाद,

सामाजिक मतवाद, साहित्य, कला, संगीत, टी. वी. प्रोग्राम, रेडियो प्रोग्राम सब कुछ तो छूट ही गया है। अब करने को कुछ भी नहीं रह गया है—सरोज ने मन-ही-मन सोचा। न तो घर में भी बैठना रह गया है।

जाने पर कितनी खुश होंगी चाची। ध्रुव भी तो बहुत श्रद्धा-भाव रखता है उनके प्रति। हर बात में सरोज से परामर्श लिया जाता था। उम्र में छोटा पड़ोसी होने पर भी उसके सुझावों को महत्व दिया जाता था।

यह सब बताने पर सरोज के बेटे ने एक दिन कहा था—"अगर वे ऐसा नहीं करेंगे तो भूत की तरह काम कैसे करवाएंगे तुमसे?"

"वे मुझे भूत की तरह खटाते हैं, आज?"

"नहीं तो और क्या? उनके हर काम में ही तो तुम्हें पुकार पड़ती है। सुना है, जब काका बाबू की बेटी की शादी थी, तब कन्या-पक्ष का सारा काम तुम्हारे ऊपर ही था, और जब ध्रुव चाचा की शादी थी, तब भी हमें याद है, शादी का सारा प्रबंध तुम्हारे ही सिर पर था। और जब भी घर में मिस्त्री लगाए जाते हैं, घर की रंगाई-पुताई करवानी होती है तब भी सरोज दा ही देखने के लिए लगाए जाते हैं। एक रिटायर्ड बेकार बूढ़े का मूल्य ही क्या है?"

सरोज अचानक एकदम से उत्तेजित हो उठे। बोले—"ये क्या छोटी जातियों की तरह तुम लोग बातें कर रहे हो, आयं! ध्रुव के बड़े भइया 'शुभो' मेरे हमउम्र दोस्त थे। असमय ही चल बसे। तभी से ध्रुव मुझे भइया की तरह ही..."

सरोज का गला भर आया। जब क्लास नाइन से साथ पढ़नेवाले दोस्त की बात उठी तो सरोज की आंखें भर आईं।

किंतु उस पर किसने ध्यान दिया?

बुबू पिता की बात के बीच में ही टोंट कसते हुए बोली—"क्या, हमलोग नीची जाति के लोग हैं? ओह! और वह तुम्हारा प्यार भाई ध्रुव! वे लोग क्या बड़े शरीफ लोग हैं, आयं? पता नहीं कबके मरे हुए भाई का नाम भुनाकर खा रहे हैं। और हम लोग छोटे लोग हैं।"

वह तीर की तरह दूसरे कमरे में घुस गई।

आश्चर्य? इसी आंख, मुंह से जब अपनी सहेलियों के साथ हंसती हुई बातें करती है, तब देखकर ऐसा नहीं लगता कि इस किशोरी के मन में माधुर्य के अतिरिक्त भी कुछ है।

बेटी के इस तरह चले जाने से सुलता को आश्चर्य हुआ।

"हो गया न? सांप के बिल में पैर डाल दिया न? अब देखो, कहीं खाना न खाने का प्रण न कर बैठे। मुझे ही खुशामद करनी पड़ेगी। उसने कुछ गलत भी नहीं कहा। तुम्हारा ध्रुव कम घाघ लड़का नहीं है। अपने मरे हुए भाई का नाम भुना-भुनाकर भाई के दोस्त से काम निकलवाता रहता है। क्या घर अगोरने तक ही सीमित है? सौ

तरह की फरमाइशें होती हैं। कभी किसी दिन उनके दूध का कार्ड बनवाना होता है, कभी इलेक्ट्रिक बिल जमा करवाना होता है। यदि धोबी आएगा तो क्या करना होगा, अखबार का बिल चेक करके देना होगा, अगर डाकिया पूजा की बख्शीस मांगने आए तो..."

"तो क्या, वह सब मुझे अपनी जेब से देना होता है?"

अब यहां बेटे-बेटी नहीं थे, सिर्फ पत्नी थी। इसीलिए सरोज ने अपना गुस्सा प्रकट करने का साहस किया। हालांकि उन्हें पता है कि वे हार जाएंगे! फिर भी बोले—"गिन-गुथकर, हिसाब करके रुपया-पैसा नहीं रख जाते?"

गुस्सा करना सरोज का स्वभाव नहीं है। किंतु आज उन्हें बहुत बुरा लग रहा है। ध्रुव चला गया है और उसकी छोटी बेटी 'सरोज दा टाटा' बोलते हुए हाथ हिलाकर चली गई—वही दृश्य सरोज की आंखों में तैर रहा है। और ये सभी मिलकर किच-किच मचाए हुए हैं। इनके मन में इतना जहर क्यों भरा हुआ है?

उनका गुस्सा बस उतनी ही देर के लिए था। उनको बहुत देर तक बहस करने का साहस नहीं है। स्वभाव भी नहीं है।

मनोज इस समय अलग बैठकर एक बिगड़ी हुई कलम में स्याही डालने की कोशिश कर रहा था। बाबू की बात सुन सिर उठाकर एक राजकीय व्यंग्य के स्वर में बोला—"आ हो हो हो, वो तो है ही! रुपया-पैसा सब गिन-गुथकर तुम्हारी जेब में डाल जाते हैं। तभी तो उनको सात खून माफ है। लेकिन जिम्मेदारियां क्यों सौप जाते हैं? उनके भगिना-सगिना यहां रहते हैं..."

"भगिना!"

सरोज आकाश से गिरे।

"भगिना। माने साधना दी के बेटे? वे दमदम से यहां आकर सब कर जाएंगे?"

"लोग करते ही हैं। सभी को तो आप जैसा एक महान और उदार भाई मिला नहीं है।"

"आश्चर्य है! इसमें उदारता और महानता की बात ही कहां से आती है। एक पड़ोसी दूसरे पड़ोसी की सामान्य रूप से सहायता नहीं करता?"

मनोज थोड़ा-सा उत्तेजित स्वर में बोला—"इसे आप ही अपनी सामान्य बुद्धि से समझ सकते हैं। मैं नहीं समझ सकता।"

इसका मतलब कि उसकी बुद्धि से पिता की बुद्धि भिन्न है।

सरोज के और कुछ आगे कहने से पहले ही बुद्धिगर्वित पुत्र पुनः बोल पड़ा—"सिर्फ घर की ही चाभी क्यों? घर की जितनी भी आलमारी, बक्स और लॉकर की चाभियां हैं, वे क्यों नहीं? इसका मतलब क्या है?"

सरोज थोड़ा-सा गंभीर होकर बोले—"मतलब है कि वे सचमुच मुझ पर बड़े भाई-जैसा विश्वास करते हैं।"

कहीं से सुलता बोल पड़ी—"उसी आनंद में मूर्ख बनते रहो। दूसरे के माथे जिम्मेदारी थोपने की सुविधा मिलने पर...चाभी खुद ही ले जाने की क्या जरूरत है।"

सरोज को पुनः थोड़ी-सी ताकत मिली। इस बार भी विपक्ष में पत्नी ही थी। फिर भी बोले—"खुद ही लेते जाएंगे? बहुत सेफ है न? सात घाट का पानी पीते-पीते जाना पड़ता है। तुम्हें पता है कि नलहाटी से कितना इंटीरीयर है।"

"ईश्वर को बहुत-बहुत धन्यवाद कि यह सब जानने का मुझे सौभाग्य प्राप्त न हो। तुम ही जानो।"

सरोज के मन में एक सुदूर अतीत का चित्र उभर आया।

बैलगाड़ी में बैठकर हिचकोले खाते हुए दो बच्चे हंसते हुए चल रहे हैं। उनके अभिभावक उनके ज्यादा हंसने पर बार-बार रोक लगा रहे हैं। किंतु उससे उन बच्चों के ऊपर कोई असर नहीं होता। कभी 'फिस-फिस' करके हंसते हैं तो कभी हिचकोले खाते ही सारे बंधन तोड़कर जोर से हंस पड़ते हैं।

प्रसन्नता, प्रसन्नता। भीतर से अकारण उछलकर बाहर आ पड़ा प्रसन्नता का एक ज्वार। कहां से आता है वह प्रसन्नता का ज्वार!

अच्छा, अब क्या छोटे बच्चे अकारण पुलककर उमड़ पड़ते हैं? दिखाई तो नहीं देता।

हमेशा वे दोनों बच्चे एक साथ ही रहते। स्कूल में रहते ही। इसके अलावा हर बात में, और उस पूजाघर में जाने के समय तो अवश्य ही।

इसके बाद उन दोनों में से एक अकस्मात् ईश्वर को प्यारा हो गया। बस, इसके बाद से वह दूसरा बच्चा भी पूजाघर में नहीं गया। आज भी उसकी याद आते ही आंखों में पानी भर आता है। उसके बाद काकी मां ने भी कई सालों तक जाना बंद कर दिया था। बाद में, उसके मामा के बहुत अनुरोध करने पर, समझाने पर उन्होंने जाना शुरू किया था। किंतु वे सरोज को लेकर कभी नहीं जा सकीं।

लेकिन वे सब क्या आज की बाते हैं?

कितने-कितने दिन बीत गए। तब से उन दोनों परिवारों के जीवन-रथ साथ-साथ चलने लगे। दोनों परिवारों के सुख-दुःख तो एक ही थे। एक ही बंधन से बंधे थे।

कुछ ही दिनों से सरोज अचानक एक टूटे हुए पहिए की आवाज महसूस करने लगे हैं। बहुत हीं कर्कश। जैसे सरोज की पसलियों की दरारों से ही वह आवाज आ रही हो।

आश्चर्य! इसी क्रम में उन्होंने देखा कि सरोज की पत्नी, पुत्री और बेटा उनसे अलग होते जा रहे हैं और निरंतर सरोज के मर्म पर आघात कर रहे हैं।

वह घर जैसे इनके दुश्मन का घर हो।

उनके प्रति जो सरोज की स्नेह-दुर्बलता है, वही इनकी आंखों का कांटा बनी

हुई है। और उसी के चलते यह सब व्यंग्य का दूह उठ रहा है।

वे क्रमशः घिरते चले जा रहे हैं, जैसे सरोज परकीया नायक हों। इसीलिए वे खुद को भी क्रमशः संकुचित करते चले जा रहे हैं। उनका चलना-फिरना सब अपराधी की तरह हो गया है। उनके घर जाकर थोड़ी देर बैठने और बातचीत करने पर जैसे पीछे से पता नहीं कौन छींटाकशी करना शुरू कर देता है। हालांकि अब उनके हाथ में बहुत मजबूत बहाना है। रिटायर हो गए हैं।

आश्चर्य है! कहां गए वे निरुद्वेग बैठकी के दिन? छुट्टी के दिन तो बैठकी होती ही थी। कभी-कभी आफिस से लौटकर भी।

बैठकी के लायक था ही कौन?

देखा जाय तो कोई नहीं। काका बाबू, काकी मां, ध्रुव और ध्रुव की बहनें ही तो वहां थे। ध्रुव की बहू और बच्चे भी। यही तो उनके आकर्षण का केंद्र था। सरोज के वहां पहुंचते ही सभी उनको घेरकर बैठ जाते। ध्रुव की मां बिना कुछ खाए जाने नहीं देती थी।

लेकिन सरोज बंधु नामक व्यक्ति के जीवन में यह अनाविल सुख बहुत दिनों तक नहीं रह सका। वे डरते-डरते जल्दी-जल्दी उस घर से भागकर आ जाते। किंतु इससे क्या, घर में उनकी उपस्थिति को कोई महत्व देता? नहीं। बिल्कुल नहीं। समय पर उन्हें एक कप चाय देकर वे समझते कि बहुत कर दिया।

हवा किस तरह अपनी गति को तीव्र करती है।

बड़ी बेटी, जो कि पहले ध्रुव काका के घर के नाम पर जान देने को तैयार रहती थी, आज इन्हीं के स्वर में स्वर मिलाने लगी है। जैसे ये सब सोचते हैं कि सरोज अपने बेटे-बेटियों तथा पत्नी को मिलनेवाले धन का अधिकांश हिस्सा दूसरों को सौंपकर इनका बहुत बड़ा नुकसान कर रहे हैं।

सरोज का तर्क सुनकर सुलता ने कड़वा सा मुंह बना लिया।

"उनकी 'सेफ ...असेफ' की चिंता में तुम्हें सिरदर्द क्यों होता है? आयं? ये उनका काम है, वे जानें।"

वे जानें।

मूर्ख की तरह घायल निगाहों से सरोज देखते रहे।

मनोज एक बार मां और पिताजी दोनों के चेहरों की तरफ देखकर बोला—"बिल्कुल! तुम क्यों दूसरे की चरखी में तेल डालने जाओगे? अगर आपकी जगह मैं होता तो अपने सगे भाई की भी इस तरह की जिम्मेदारी नहीं लेता। ...यह गलती मैं नहीं करता। फिर आप तो उन्हें भाई से भी 'अधिक' चाहते हैं।"

पिता के ऊपर व्यंग्य की तीखी छुरी चलाकर मनोज चला गया।

सरोज चाभी का गुच्छा हाथ में लिए किसी मरे हुए आदमी की तरह बैठे रहे। अब तो सुलता ही उठाकर उन्हें किसी निरापद जगह पर शरणापन्न करेगी। सरोज को

अब कहने के लिए बचा ही क्या है? मुनीमों की तरह का हाथ में कोई बक्सा भी तो नहीं है।

अस्तु , राहत के लिए अब एक सुलता के मिजाज और मर्जी की ही अपेक्षा है।

वह निर्बोध व्यक्ति चाभी के गुच्छे को इस हाथ से उस हाथ में बदलते-बदलते सोच रहा था।

पता नहीं क्यों उनके प्रति इन लोगों में इतना विद्वेष है। काकी मां तो अपने अकाल मृत पुत्र के रिक्त स्थान पर उसके मित्र को ही प्रतिष्ठापित कर शांति पाने की चेष्टा करती हैं, अपने बेटे की तरह ही उसे प्यार करती हैं। और ऐसा भी नहीं है कि यह प्यार एकतरफा है। यह पारस्परिक बंधन है।

जीवन का चेहरा किस तरह अद्‌भुत ढंग से बदल गया।

आज भी काका बाबू की वह प्यार-भरी हांक कानों में गूंजती है—''क्यों रे सरोज, लगता है, तुम्हारी मां दालबड़ा बना रही है? ...पता नहीं? अरे बाबा, तुम्हें नहीं पता है, लेकिन मैं तो सूंघ-संघू कर जान गया और भागते हुए आया हूं। ओ मौसी! उधर देने से पहले जरा मेरे हिस्से का मुझे गरम-गरम सप्लाई करो तो इधर! मुंह से पानी गिरने लगा है। ...जरा एक प्लेट ले आना तो, सरोज। तुम्हारी काकी आ जाएगी तो क्या जी भरकर खाने भी देगी रे? अपने बेटे-बेटियों के लिए कुछ ज्यादा ही बना लेना। हा हा हा हा!''

सरोज लपककर जाता और मां के सामने एक प्लेट रख देता। मां प्लेट भरकर लाकर हंसते-हंसते बोलती—''आप बहुत बदमाश देवर हैं। मैं इंदु को बता दूंगी।''

''बोल दीजिएगा। आपकी इंदू से मैं डरता हूं क्या? हा हा हा।''

''आ हा! आपकी सांस फूलने के डर से ही तो इंदु सजग रहती है।''

''वो सब छोड़िए न। वो सब तो झूठ-मूठ का बहाना है। समझीं, बहाना। हा हा हा।''

कितना सहज था वह जीवन! वे दिन! उस सहजता को खोकर क्या आदमी सुखी रह सकेगा? बहुत सुखी?

पहले इन सारी बातों को बेटे-बेटियों के सामने सुनाने पर सरोज मूर्ख समझे जाते थे। अब नहीं सुनाते।

बेटे ने कहा था—''ये सब फालतू बातें मेरे सामने मत किया करो, बाबू। सुनकर मुझे आग लग जाती है।''

और बेटी ने कहा था—''पेटू सब तो अवसर तलाशते ही रहते हैं और असभ्य होकर।''

और उन्होंने देखा कि सुलता भी उनके ही साथ है।

''अब अपने दिल की सुख-भरे दिनों की बातें रहने दो। अपने मन में ही दबाए रखो।''

सरोज को जिन-जिन बातों में मजा आता था, ये सब उन्हीं बातों को हिकारत की नजर से देखते हैं।

कोई भी आदमी किसी आदमी को आकारण तो नहीं प्यार करता? क्यों? किस विपत्ति में? खाने-पीने के अलावा और कोई काम नहीं होता? इतना कुछ सारा क्या सब मूर्खतापूर्ण और बेकार ही है।

सरोज को याद आया कि जब मां जिंदा थी तो घर की क्या ठाठ-बाट थी। जो उसके मन में होता था वही बाहर भी व्यवहृत होता था। तभी तो पर्व शुरू होते ही यह चाभी का गुच्छा पकड़ा दिया जाता था। किंतु उन दिनों सरोज के अंदर एक निश्चिंतता होती थी।

"मां मुझे जल्दी से खाने को दे दो। उस घर में जाना है। थोड़ा जल्दी जाना ही ठीक होता है बाबा। अगर देर रात से जाओ और कहीं देखो कि ताला तोड़कर घर साफ है तो! हा हा हा!"

मां 'दुर्गा-दुर्गा' बोलने लगती।

मां भी उन्हें अपने लोगों की तरह समझती थी।

बस उसके बाद से ही तो पाला पलट गया है।

वे कारण नहीं तलाश पा रहे हैं। अकारण काकी मां लोगों से क्या गलती हो गई।

वे मूर्ख आदमी हैं, तभी तो कारण नहीं तलाश पा रहे हैं।

गलती दूसरे पक्ष में नहीं है, गलती इसी पक्ष में, खुद के भीतर ही है। इस पक्ष के लोगों ने ही ज्यादा बुद्धिमानी और ज्यादा पढ़-लिखकर विद्वत्ता प्राप्त कर ली है। तभी तो उनमें कृतज्ञता चुकाने की क्षमता नहीं रह गई है। प्यार करने की क्षमता नहीं रह गई है। दिन-ब-दिन दीवारों पर वह क्षमता अपनी छाप छोड़ती चली जा रही है। तभी तो उनके भीतर नीचता, तिक्तता, क्षुद्रता और विद्वेष जन्म लेता चला जा रहा है।

यह विद्वेष अकारण है।

प्यार की संचयहीन चारदीवारी के भीतर इनका यही संस्कार विद्वेष और विष की पूंजी संचित करता चला जा रहा है।

वे खुद को तो प्यार कर ही नहीं पाते, और न तो उन्हें प्यार का ढंग ही पता है।

इसीलिए, शायद यह न कर पाने की अक्षमता के कारण उन सभी लोगों से इन्हें जलन होती है जो कि प्यार करते हैं। प्यार करने की क्षमता रखते हैं। यही इर्ष्या इनके संस्कार में शामिल हो गई है। और इसी इर्ष्या का विषय लेकर उनके ऊपर डंक मारते रहते हैं। डंक मारना ही इनकी नियति बन गई है। जिसके कारण स्वाभाविक रूप से ये ऐसा करते हैं।

जैसे जीवन के प्रकाशमान राजपथ को छोड़कर एक अंधेरी संकीर्ण गली के

भीतर घुसकर इन्होंने खुद को भी संकीर्ण कर लिया है। खुली हवा का अनुभव अपने फेफड़ों में न कर पाने के कारण वे अब लगभग 'खुलापन' शब्द को ही भूल गए हैं।

किंतु सरोज बंधु के भीतर का सरल-सहज हृदय क्या इस युग की कुटिलता, जटिलता और सर्पिल तंतुओं को समझ पा रहा है? नहीं समझ पा रहा है, तभी तो वे हताश होकर सोच रहे हैं कि—क्यों ऐसा कर रहे हैं ये लोग? एक प्यार करना सीख जाने से ही कितनी समस्याओं का सहज समाधान हो जाता है। प्यार करने में न तो कोई मेहनत लगती है और न ही कोई पैसा ही खर्च करना पड़ता है। इसी समय के अभाव में आदमी आह्लाद शब्द का अर्थ भूलकर नीमकौड़ी को पाचन समझ, उसे खाकर मुंह तिक्त किए घूमता फिरता है और हमेशा इस टोह में रहता है कि कब किसको डाउन कर दिया जाए।

इसी डाउन होने की आशंका से आशंकित सरोज बंधु मद्धिम स्वर में बोले—"मुझे खाना लगा दो। नहीं तो फिर बाद में लोड शेडिंग हो जाएगी।"

इसके बाद वे और समर्पण भाव से बोले—"और इसे रख दो।"

हिम्मत करके 'चाभी' शब्द नहीं बोल सके।

जगन्नाथ की जमीन

चाय पीकर हाथ में अखबार लेने-भर की देर थी। नियमानुसार धूमकेतु की तरह वह आदमी उग आया। घुटने-भर धूल का स्तर, खड़िया की तरह सफेद पड़ा शरीर, उभरी नसोंवाले हाथ, किसी घर के उजड़े हुए छप्पर-जैसा माथा तथा घास-पात के जंगल से ढका चेहरा लिए। एक दृश्य।

देखकर प्रसन्न होने की बात नहीं है। तीर्थंकर भी नहीं हुए। फिर भी बोले—"यही है।"

फिर भी धूमकेतु के उदय-अस्त का निश्चित नियम है। इसका भी है। उदय का समय प्रत्येक रविवार की सुबह एवं अस्त का समय छुट्टी के दिन सुबह बारह बजे तक, घड़ी के कांटे को बारह तक ठेलकर।

नियम में कोई व्यतिक्रम नहीं आने पाया है। अर्थात् जिस दिन से यह आदमी तीर्थंकर के सिर पड़ा है, तीर्थंकर का छोटा भाई शुभंकर कहता है—"सिर पर पड़ा ही है। भूत की तरह सिर पर पड़ा है। तुम न भइया, रोजा को राजी नहीं होते। मेरे हाथ में एक बार छोड़ दो तो देखो कि भूत भगा देता हूं कि नहीं। बेटा को इधर भोलापुर का रास्ता ही भुलवा दूंगा।"

किंतु तीर्थंकर अपने भाई के इस 'प्रिसक्रिप्शन' पर राजी ही नहीं होते। उस पागल- से आदमी के भीतर उन्हें एक खासियत दिखाई देती है।

हालांकि उसे देखते ही शरीर में आग लग जाती है। जाओगे नहीं? आंधी की तरह आकर वही उजड़ा हुआ धूल-भरा माथा (क्या पता उसमें जूं भी भरी हों) लेकर आवाज में तेजी लाते हुए तीर्थंकर का पांव पकड़कर घिसटते-घिसटते बोलता—"एक बार फिर आपको कष्ट देने आ गया, वकील बाबू!"

हालांकि तीर्थंकर कभी भी वकील बाबू नहीं थे, निहायत मामूली एक चर्मरोग के आफिस में बाबू थे, किंतु यही बात इस आदमी को समझाना मुश्किल था। अब उसे समझा पाने में असमर्थ हो जाने के कारण तीर्थंकर ने इसी वकील बाबू के नाम से ही पुकारा जाना स्वीकार कर लिया है। पता नहीं किसने उसके दिमाग में यह बात भर दी है, या तो वह जाने या भगवान जाने। फिर, एक जिद्दी पागल की **बद्धमूल** धारणा को मिटाया भी नहीं जा सकता।

जब वे कहते कि मैं वकील नहीं हूं, तो वह दुखी होकर कहता—"मैं आपकी फीस नहीं दे पाऊंगा, इसीलिए आप मुझे फुसला रहे हैं। लेकिन आप मुझे ठग नहीं पाएंगे।"

अतएव तीर्थंकर ही ठगाते चले आ रहे हैं। महीनों से रविवार की सुबह उसके

पैरों पर उत्सर्ग करते चले आ रहे हैं।

यद्यपि सप्ताह में यही तो एक सुख ही सुबह होती है। बाकी सारे दिन तो आठ और पांच बजे की ट्रेन पकड़ने के लिए दौड़ने में बीत जाते हैं।

ऐशोआराम के लिए यही एक रविवार की सुबह हुआ करती थी। किंतु कुछ दिनों से इस जोंक ने तीर्थंङ्कर के जीवन में महानिशा फैला रखी है। हालांकि उसे मार-पीटकर बाहर निकाल देने की भी इच्छा नहीं होती। यही एक कमजोरी बन गई है।

लेकिन बात क्या है? हर छुट्टी की सुबह उस आदमी के आकर धरना देने का कारण क्या है?

कारण बहुत ही हास्यास्पद है।

उस चेहरे में, उस साज-सज्जा में वह आदमी आता है वकील बाबू के पास वसीयतनामा लिखवाने। हां, आवेदन-सावेदन पत्र नहीं—वसीयतनामा।

कहीं किसी जगह उसकी थोड़ी-सी जमीन है, उसे वह किसी शुभ काम में दान करना चाहता है। उसी का वसीयतनामा लिखवाना चाहता है।

पालथी मारकर बैठ जाता है और बोलता है—"न तो बहू है न बेटा है, भाई है न बहन है, किसको सौंपकर जाऊंगा? आयं? इससे तो अच्छा है कि उसे किसी शुभ कार्य में लगा दूं। कैसा रहेगा? आयं?"

अब मुश्किल यह है कि वह शुभ कार्य पूरी तरह से शुभ होगा कि नहीं—यही उसकी चिंता का विषय बना हुआ है। एक खसरा लिखवा लिया है, किंतु अब पूरे हफ्ते उसे यही चिंता लगी रहती है। पिछले हफ्ते हड़बड़ाते हुए आया कि जो खसरा लिखा गया है उसे फाड़कर फेंक दिया जाय और दूसरा नया लिखा जाय।

इस पागल को तीर्थंकर ताल दिए जा रहे हैं। फिर भी यह उनके लिए भी समस्या बनी हुई है कि इस काम को किस तरह निपटाया जाय। पता नहीं, उदारतावश या इज्जत की लाज के चलते, जैसे ही वह आकर हाजिर होता है, वे अपने हाथ का अखबार एक तरफ नीचे रखते हुए पूछते हैं—"अब क्या हुआ?"

आज भी तीर्थंकर ने उसके माथे के नीचे से अपने दोनों पैरों को मुक्त कराते हुए वही बात पूछी थी।

आदमी जमीन पर ठीक से बैठते हुए बोला—"वही तो कह रहा हूं कि आपको फिर कष्ट देने आया हूं। पिछले हफ्ते जो वसीयतनामा लिखा गया था, उसे बदल दीजिए।"

"क्या परेशानी है?" तीर्थंकर बोले—"अरे बाबा, कई बार तो बदल चुके..."

आदमी ने सिर खुजलाते हुए कहा—"हां, मैं स्वीकार करता हूं, वो तो मैंने की ही है। लेकिन असलियत क्या है, आपको बताऊं? जब मैंने सोच ही लिया है कि जमीन को किसी शुभ कार्य में लगाऊंगा तो पहले उसके बारे में ठीक से सोच लेना

चाहिए न? आप क्या कहते हैं, आयं? यह जो पिछले हफ्ते जमीन लाइब्रेरी को देने की बात तय हुई थी..."

तीर्थंकर असहिष्णु भाव से बोले—"बात क्या तय हुई थी? ठीक ही तो हुई थी? नियमानुसार सब कुछ लिखा जा चुका है, उस पर तुम्हारे अंगूठे की छाप भी हो गई है..."

हां, अंगूठे की छाप ही।

हालांकि तैयार की गई वसीयत का बयान वह खटाखट बोलता जाता है तथा बातचीत के दौरान बीच-बीच में अचानक बहुत ही परिष्कृत शब्दों का भी प्रयोग करता है, किंतु अंगूठे की छाप से आगे नहीं बढ़ पाता।

बहुत तेजी से बोलता है—"मैं श्रीयुत बाबू जगन्नाथ चक्रवर्ती पूरी तरह स्वस्थ शरीर एवं अपने पूरे होशोहवास में यह लिखता हूं कि यह जो मेरी निजी भूमि है..."

यह अदालती भाषा पता नहीं कहां से उसने रट ली है और बोलता है। किंतु अपना नाम श्रीयुत करके बोलता है—"दीजिए , अपनी स्याही की दवात दीजिए जरा, अंगूठे की छाप लगा दूं। बस, अब किसी दिन जाकर रजिस्ट्री कर आऊंगा। बस खतम।"

पिछले सप्ताह भी यही बात बोल गया था। और इस हफ्ते फिर आ गया।

"रात-दिन इसी समस्या की चिंता में मुझे नींद नहीं आती है, वकील बाबू। मैं सोचता हूं कि जमीन तो मैंने लाइब्रेरी को दे दी, किंतु बाद में, भविष्य में अगर मुहल्ले के पांच मस्तान लड़के वहां अड्डा जमाना शुरू कर दें, बीड़ी सिगरेट पीने लगें, लाइब्रेरी की किताब-कापी फाड़ने लगें, चुराने लगें तो दान की जमीन तो असत्कर्म में ही लग गई न!"

तीर्थंकर हंसते हुए बाले—"लेकिन यह वसीयतनामा तो तुम्हारे मरने के बाद लागू होगा। तुम देखने तो आओगे नहीं।"

"आयं? क्या कह रहे हैं?"

आदमी नाराज हो गया, उत्तेजित स्वर में बोल पड़ा—"अगर नहीं आऊंगा तो क्या, मेरे भीतर एक जिम्मेदारी की भावना भी नहीं है? मेरे पास सोचने-समझने की शक्ति भी नहीं है? आजकल के लौंडे-लफाड़ियों की बुद्धि देख रहा हूं न? भविष्य में उस पर कौन ध्यान देगा, मैं समझता नहीं हूं? नहीं-नहीं, लाइब्रेरी की चिंता छोड़िए , वकील बाबू। उसे आप फाड़कर फेंक दीजिए।"

श्रीयुत बाबू जगन्नाथ चक्रवर्ती का खसरा तीर्थंकर के ड्राएर में सुरक्षित पड़ा है। जगन्नाथ ने कहा था कि 'पता नहीं कहां होगी, कहां नहीं होगी, कोई बक्सा-तक्सा है नहीं, कहां-कहां लेकर घूमता फिरूंगा। उसे आप ही रखिए। रजिस्ट्री करने आपके ही साथ चल पड़ूंगा।'

अन्य दूसरे दिनों की तरह आज भी तीर्थंकर के ड्राएर से रोल किया हुआ एक फुलस्केप पेपर बाहर निकाला गया और फाड़कर फेंका गया। और फिर एक नया पेपर टेबल पर बिछाया गया।

तीर्थंकर बोले—"देखो जगन्नाथ, इसके पहलेवाला जो तुम्हारा वसीयतनामा था वह बहुत बढ़िया था। उसे सुरक्षित रहने दो। अस्पताल। अस्पताल को दान करने से शुभ कार्य और क्या है?"

जगन्नाथ क्रुद्ध स्वर में बोल उठा—"यह आप कौन-सी नई बात कह रहे हैं फिर? अस्पताल का विवरण तो पता ही है आपको! दुनिया में अस्पताल से अधिक अनाचार, शर्मनाक बातें और पापाचार और कहां हो रहा है? रोगियों को दवाई नहीं मिलती, ठीक से इलाज नहीं होता, ऐसा अनाचार और कहां है? नहीं-नहीं, अस्पताल की चिंता छोड़िए आप।"

जैसे तीर्थंकर सचमुच चिंता से मरे जा रहे हों।

अब तीर्थंकर गुस्से में बोले—"तो बाबू, तुम्हारा तो मन कहीं भी स्थिर हो नहीं रहा है। शुरू में शिव-मंदिर के बारे में बहुत कहा करते थे कि एक शिव-मंदिर को जमीन दे दोगे। अच्छा ही रहता। एक पुण्य का ही काम होता।"

"समझ रहा हूं पुण्य का काम," जगन्नाथ विरक्त भाव से बोला—"किंतु आप तो देख ही रहे हैं कि हमारे देश में, गांव-गांव में हाथ, पांव, मुंहकटे कितने-कितने शिव-मंदिर पड़े हुए हैं, न उनमें पूजा, न पाठ, कुछ नहीं। आप देखेंगे कहां से! रेल से जाते हैं, रेल से चले आते हैं। इस तरह शिव-मंदिरों की हालत देखकर मैंने वह इच्छा त्याग दी है। छोड़िए , अब आप ही कोई व्यवस्था सोचिए।"

वह ऐसे ही बोलता है, किंतु कोई व्यवस्था मानता नहीं है।

तीर्थंकर अब और किसी नए झमेले में नहीं पड़ना चाहते थे। वे जल्दी से बोल पड़े—"शुरू-शुरू में तो बाबू, बहुत अच्छी-अच्छी व्यवस्थाएं हुई थीं। बोलते थे कि 'किसी स्कूल के लिए जमीन दे दूंगा'—बहुत बड़ी-बड़ी बातें किया करते थे—'शिक्षा से बड़ी कोई चीज नहीं है, विद्याविहीन, ज्ञान के आलोक से वंचित मनुष्यों की सेवा मंदिर की सेवा के ही समान है'।"

"बात तो सही ही है। कह तो रहा हूं। यह जो अभागा जगन्नाथ है, ज्ञान, बुद्धि न होने के कारण ही तो उसकी यह दशा है। शिक्षा ही मूलाधार है।"

"तो फिर मन क्यों बदल गया?"

जगन्नाथ थोड़ा तनकर बैठ गया।

"क्यों, अभी भी उस बात पर विवेचना होनी बाकी है?"

श्रीयुत बाबू जगन्नाथ चक्रवर्ती की धंसी हुई दोनों आंखों में एक दियासलाई की काठी फक् से जल उठी। आग्नेय स्वर में बोला—"आजकल शिक्षा-विभाग में कितनी दुर्नीति फैली हुई है, आप जानते नहीं हैं? अखबार में रात-दिन पढ़ते नहीं हैं? इस

संबंध में तो उस दिन बातें हो ही चुकी हैं। फिर इस दुर्नीतिवाले क्षेत्र में अपनी जमीन डुबाऊंगा? बिना सोचे-समझे किसी कुपात्र को कन्यादान करने की तरह जमीन दान कर दूंगा?"

तीर्थंकर हताश स्वर में बोले—"तो ठीक से एक बार किसी एक के बारे में सोच लो। और कितने दिन तक इस तरह चलेगा।"

यह स्वर सुनकर जगन्नाथ चौंक पड़ा। बोला—"आप इस काम से ऊब गए, वकील बाबू?"

इस पर तीर्थंकर तपाक से बोल पड़े—"नहीं-नहीं, ऐसी क्या बात है। तुम एक महान कार्य करने जा रहे हो—यह तो आह्लाद का विषय है। फिर क्यों..."

बात के बीच में ही जगन्नाथ ने चैन की सांस ली। बोला—"तभी तो मैं कहता हूं, आप महान आदमी हैं, बात को समझते हैं। बाकी पंच लोग तो सुनने को ही तैयार नहीं होते। दांत बाहर निकालकर हंसते हैं। तो मैं कुछ ठीक निर्णय पर पहुंचा हूं। पिछली रात, सोचते-सोचते नींद नहीं आ रही थी, तो सहसा एक निर्णय पर पहुंचा। अब यही फाइनल है।"

"फाइनल? गुड।" तीर्थंकर उत्साहपूर्वक बोले—"जरा मैं भी सुनूं तुम्हारा निर्णय?"

जगन्नाथ थोड़ा सीधा होकर बैठते हुए बोला—"बताऊंगा, लेकिन पहले चाय..."

यहां जगन्नाथ को तो चाय निश्चित रूप से नहीं मिलती। इस घर के लोग जगन्नाथ से चिढ़ते हैं, किन्तु परिवार के धर्म को तो निभाना पड़ता ही है न! यदि ऐसा करेंगे तो तीर्थंकर को बुरा लगेगा, यह भी बात थी।

बच्चे के हाथों चाय आ गई। परंपरागत ढंग से चाय के साथ थोड़ी-सी मूढ़ी और पकौड़ी भी। छुट्टी के दिन यह पहले से ही तला रखा रहता है।

मूढ़ी लेने से पहले ही जगन्नाथ खटाखट चाय पीकर बोला—"मैंने बहुत सोचने के बाद यह तय किया कि आदमी के लिए कुछ भी करने की जरूरत नहीं है। वह तो निहायत ही तेल पड़े सिर में तेल ढुलकानेवाला होता है। उसके लिए तो चतुर्दिक कितनी व्यवस्थाएं और कितने आयोजन हैं। मैं अपनी जमीन कुत्तों के नाम कर जाऊंगा।"

सुनकर तीर्थंकर स्तब्ध रह गए—"किसके नाम?"

"कहा तो—रास्तों पर घूमते लावारिस कुत्तों के नाम। आहा, उनके बारे में कोई नहीं सोचता। पानी, आंधी, उनकी दुर्दशा का अंत नहीं है, तपती दोपहर में हांफ-हांफकर मर जाते हैं। जहां जाएंगे दुर-दुर। हालांकि पालतू कुत्ते कितना आदर पाते हैं। उनका दु:ख देखकर मन विचलित हो उठता है। तो मैंने उनके लिए एक स्थान निश्चित करने का निश्चय कर लिया है, उन अभागों को आश्रय देने के लिए..."

तीर्थंकर असतर्क भाव से बोल उठे—"तो अंत में सड़क संप्रदाय के कुत्तों के नाम!"

इस असतर्कता का फल तीर्थंकर तो तुरंत मिला। जगन्नाथ तपाक से बोला—"क्यों नहीं, वकील बाबू? वो सब भगवान की सृष्टि के जीव नहीं हैं? उनकी दुःख-दुर्दशा देखी नहीं जाती। भगवान ने कीट-पतंगे, पशु-पक्षी सभी प्राणियों को घास-पात इकट्ठा करके घोंसला बनाने की बुद्धि दी, सिर्फ इन्हें ही नहीं दी। फिर? उनका खयाल रखना ज्यादा जरूरी है न! आदमी की अक्ल देखिए कि जिसको पालता है उसके लिए तो गद्दी-बिछौना, मांस-भात, और जो सड़क पर घूम रहा है उसे दुर-दुर। इसी चिंता से ही..."

तीर्थंकर बहुत संभलकर, सावधानी से बोले—"उनके बारे में कौन सोचता है। सही बात है। बढ़िया सिद्धांत है।"

"यही तो। ये हुई न ज्ञानी, गुणी लोगों की बात। तो इसे ही आप फाइनल कर दीजिए। झट-पट लिख डालिए—मैं श्रीयुत जगन्नाथ चक्रवर्ती अपने पूरी तरह स्वस्थ शरीर और पूरे होशोहवास में..."

ताल भंग हो गया।

जो आदमी इस कमरे में कभी नहीं आता था, अचानक उसी का प्रवेश हुआ। व्यंग्यात्मक हंसी हंसते हुए बोल उठा—"बहुत बढ़िया। जगन्नाथ बाबू ने इतने दिनों से दान-धर्म करते-करते सत्कर्म के लिए सुपात्र की खोज कर ही ली! फिर गिनती में वे दो-चार तो हैं नहीं। उनके लिए आश्रम बनाने के लिए तो बहुत बड़ी व्यवस्था की आवश्यकता है।"

"जगन्नाथ को पागल समझ रखा है क्या? मूर्ख? ऐसा नहीं है।" बात सुनकर वह उदास स्वर में बोला—"मैंने आश्रम की तो बात की नहीं, छोटे बाबू! एक आश्रय की बात हो रही है..."

"आवश्यक चीज है जमीन। आपकी जमीन कितने बीघे है, कितने कट्ठा?"

इस प्रश्न से जगन्नाथ विचलित हो उठा और वह कुछ ज्यादा ही उत्तेजित होकर बोला—"वह सब हिसाब जगन्नाथ को क्या पता? समय आने पर कचहरी के लोग आकर नाप-जोख कर लेंगे।"

"अहाहा। इश्श। जगन्नाथ बाबू।" शुभंकर व्यंग्यात्मक हंसी हंसते हुए बोले—"अपनी जमीन की नाप आपको पता नहीं है? लेकिन वह जमीन है कहां, यह तो पता होगा? दिखाएंगे तभी तो अभी से..."

तीर्थंकर अपने भाई को वहां से हटाने की चेष्टा करने लगे, किंतु संभव न हो सका। लगता था, आज शुभंकर पूरी तैयार के साथ मैदान में उतरे थे। उनके चेहरे पर हंसी की झलक थी।

"क्या हो, बोले नहीं? कहां है जमीन? इसी भोलापुर में ही न? कि और

कहीं ?''

जगन्नाथ ने गुस्से में कहा—''इसी भोलापुर में? जगन्नाथ क्या भोलापुर का निवासी है? कभी घूमते-घामते इधर आ गया...''

''ओह! वो तो है ही। लेकिन जानकारी हो जाने से अच्छा रहता न! आश्रम का काम शुरू हो जाता। बनने में तो समय लगेगा न!''

जगन्नाथ अचानक गंभीर हो गया।

''शायद आपको एक बात पता नहीं है, छोटे बाबू कि, वसीयत मृत्यु के बाद लागू होती है।''

''मृत्यु के बाद? तो गया काम से! अरे जगन्नाथ, तुम्हारे जिंदा रहते जमीन का पता नहीं चल रहा है तो मरने के बाद पता चलेगा? पता चल जाने से कार्य शुरू करने में सुविधा होती न!''

तीर्थंकर डांटते हुए बोले—''शुभो! तुम्हारा बाजार का काम हो गया?''

उन्होंने इस इशारे पर ध्यान नहीं दिया। बोले—''मैं सोचता हूं कि कलकत्ते का 'गड़ेर मैदान' तुम्हारा तो नहीं है? या हावड़ा मैदान तुम्हारा है?''

जगन्नाथ की आखें जल उठीं।

पागल और बच्चे व्यंग्य से जितना अपमानाहत होते हैं शायद उतना साधारण आदमी नहीं होता। जगन्नाथ गुस्से में बोला—''छोटे बाबू , आप क्या मेरे साथ मसखरी कर रहे हैं? मैं आपकी मसखरी के लायक हूं?''

''क्या मुश्किल है! मसखरी क्यों? मैं जानना ही तो चाहता हूं। तुम्हारी जमीन इस धरती पर ही तो है? या कि आसमान में...''

''छोटे बाबू।'' कोटर में छिपी आखें बाहर निकल आईं और उनमें से थोड़ा सा जल—''ऐसी बात कर रहे हैं आप! जगा की जमीन आसमान में है! इसका मतलब कि नहीं है क्या? भरोसा नहीं है! इतना बड़ा अविश्वास कि जगा कि जमीन नहीं है। ऐसी बात कही आपने मेरे लिए? पागल-टागल समझकर इतनी दलीलें दे रहे हैं कि जैसे जमीन है ही नहीं? एकदम से जमीन को आसमान में उड़ा दिया?'' मैली धोती को खींचकर आंख पोंछते हुए आगे बोला—''जगा बेटा इतना अभागा है कि भगवान ने बनाकर उसे शून्य में बेसहारा घूमने को छोड़ दिया? एक टुकड़ा जमीन का नहीं है उसके पास? यह कोई कटे बालों का हिसाब नहीं है। अपनी निजी जमीन है कहीं। हक का धन है, जाएगा कहां? अभी तत्काल नहीं ढूंढ पा रहा हूं , बस यही दु:ख है। जीवन-भर तो ढूंढ़ते-ढूंढ़ते मर गया। नहीं मिली, तो इसका मतलब तो नहीं कि उसे एकदम से उड़ा ही दें? आप जैसे पढ़े-लिखे आदमी का यह विचार है? जगा अपनी जमीन बेचकर खाना तो नहीं चाहता, एक किसी शुभ कार्य में ही तो लगाना चाहता है? चिरकाल से ही तो ढाक के तीन पात। कभी जगा ने किसी भिखारी को एक पैसा दिया? संपत्ति के नाम पर वही एक जमीन ही तो है, जिस

पर शान से तना रहता है जगा। और आप उसी पर दलीलें दे रहे हैं, हंसी उड़ा रहे हैं, मसखरी कर रहे हैं। धूर्तों की दुनिया है। रुकिए , वकील बाबू , अब मुझे वसीयत की कोई जरूरत नहीं है। शिक्षा मिल गई।''

वह जमीन से उठकर, टेबल पर बिछे कागज को उठाकर, फाड़कर, मुचड़कर टेबल पर ही फेंककर दनदनाता हुआ बाहर निकल गया। उसके पैर की ठोकर से मूढ़ी की प्लेट छिटककर दूर जा गिरी और जमीन पर चारों ओर मूढ़ी के दाने बिखर गए।

तीर्थंकर की आखें गुस्से से जल उठीं। सिर झुकाकर जमीन पर बिखरे उन दानों को देखने लगे और अवाक् होकर सेचने लगे कि आदमी अकारण इतना निष्ठुर क्यों हो जाता है? अहेतुक हिंसा क्यों जाग उठती है उसमें?

तीर्थंकर ने महसूस किया कि अब आज के बाद कभी इस पागल जगा को इस भोलापुर के रास्तों पर नहीं देखा जा सकेगा।

शायद कहीं और दूर जाकर अपने न्याय के लिए दस्तक देगा—यही सफेद पड़े खड़िया-जैसा शरीर, उभरी नसोंवाले हाथ, उजड़े छप्पर-जैसा सिर और धूल से सने हुए पांव लेकर जहां सचमुच वह किसी शुभ कार्य के लिए वसीयतनामा लिखवा सकेगा।

स्वर्ग का टिकट

घर के भीतर बहुत सारे लोग भरे पड़े हैं। एकदम ठसाठस। किसी को सांस लेने तक की जगह नहीं है। फिर भी वहां हर रोज़ नए-नए लोगों का ज्वार उमड़ता चला आता है। कीड़े-मकोड़ों की तरह लोग चारों ओर एक के ऊपर एक चढ़े हुए हैं।

फिर भी शहर किसी को वापस नहीं लौटने देता।

उसी कीड़े मकोड़ोंवाली भीड़ को आश्रय देने के लिए निरंतर एक के ऊपर एक सजाते हुए गगनचुंबी इमारतों का निर्माण करता चला जा रहा है। अपनी छाती की समूची हरियाली ओर आर्द्रता को सोखकर भी उसे कोई समाधान नहीं मिल पा रहा।

हालांकि शहर छोड़कर थोड़ा-सा ही आगे बढ़ने पर विपुल हरियाली और जल दिखाई देगा। कहीं और ऐसे हरी घासवाले मैदान और पानी से भरे तालाब दिखाई दे सकते हैं? यहां एकदम खुला मैदान और नीला आसमान है। किंतु कोई इन हरी घास के मैदानों, हरे पेड़ों को नहीं देखेगा, पानी से भरे तालाबों की जतन से रखवाली नहीं करेगा, और न तो इस खुली हवा में सांस लेना पसंद करेगा। इस नीले आकाश को देखना पसंद नहीं करेगा। बस उस शहर की तरफ ही दौड़ पड़ेगा। यह नहीं सोचेगा कि यहां थोड़ी-सी कोशिश करके रहने की जगह बनाई जा सकती है। ...एक ही तो मिट्टी है, एक ही हवा, एक ही आकाश। रोजी-रोजगार? उसके लिए भी क्या रास्ता नहीं है? लेकिन उसे तलाशने की कोई कोशिश नहीं करता।

फिर भी ऐसा नहीं है कि गांवों में आदमी एकदम रहते ही नहीं। छोटे-बड़े गांव आज भी हैं। लेकिन उनमें रहनेवाले जैसे लगता है किसी मजबूरी में रहते हों। एकदम से शहर की तरफ भाग पड़ते हैं। और अवसर न मिलने पर? पड़े-पड़े बूढ़े होते चले जाते हैं। बूढ़े होते चले जाते हैं—सरकारी वायदों की आशा में दिन गिनते-गिनते, सरकार के दरवाजे पर धरना देते-देते और अपने 'स्वप्नहीन' दिन-रात को किसी तरह बिताते हुए।

फिर भी यह हिसाब लगाना बहुत मुश्किल है कि गांव का गरीब आदमी ज्यादा दु:खी है या शहर का। और इसका हिसाब करने पर दिखाई देता है कि शहर में शरीर घिसनेवाले से तो गांव का आदमी कई गुना ज्यादा बेहतर है। इसका ठीक-ठीक हिसाब करने के लिए भी आधी रात को बैठकर विचार करना पड़ेगा। वहां तो एकदम सुबह-सुबह लोकल ट्रेनों में लदकर लोग बाहर जाते हैं और दिन खत्म होने पर अपने घरों को लौटकर घोंसलों में चैन की नींद सोए होते हैं।

हालांकि यह कह पाना तो निश्चित रूप से मुश्किल है कि सभी 'चैन की नींद' में सोए होते हैं कि नहीं। शायद कई तो बिस्तर पर करवटें बदलते-बदलते रात-भर जागते ही रहते हैं—पता नहीं, कैसी-कैसी बातें सोचते होंगे।

इन अनिद्रितों में महिलाएं ही ज्यादा होती हैं, क्योंकि पहले के जमाने-जैसा अब नहीं रहा कि सिर्फ मर्द ही डेली पैसेंजर होते हैं। इनमें झुंड-की-झुंड किशोरियां, युवतियां, महिलाएं एवं स्त्रियां होती हैं। ...इस शहर में इनके लायक भी बहुत सारे काम होते हैं।

जो निहायत अभागे होते हैं, सिर्फ वे ही गांव में पड़े रहकर अपने दिन बिताते हैं।

इनमें अधिकांश बच्चे, बूढ़े, बूढ़ियां अथवा निहायत गृहिणियां होती हैं जो कि उन लोकल ट्रेनों में लदकर जानेवालों के लिए दोनों वक्त ही खाद्य सामग्री जुटाने में पूरे दिन मरती रहती हैं।

दो वक्त की ही बात क्यों करें? बल्कि तीनों वक्त की। दोपहर का टिफिन भी तो तैयार करके उसी वक्त, सुबह-सुबह, देना पड़ता है। इतने पैसे किसको जेब में होते हैं कि पास की दुकान से खरीदकर अपनी भूख मिटा सके।

इन महिलाओं, बूढ़े-बूढ़ियों और बाल-गोपालों का झुण्ड अलग है। गांव की मिट्टी से लिपटे हुए लोग भी दो भागों में विभक्त हैं। एक भाग का नाम है 'अकाल कुष्मांड' तथा दूसरे भाग का नाम है 'बेकार'। ये माननीय हैं। मतलब, एक कुर्सी पर बैठकर नौकरी करने के अलावा जिनमें और कुछ करने की क्षमता नहीं है। इच्छा भी नहीं है। पूरे दिन मां, दादी आदि को परेशान करने के अलावा ये स्वाभाविक रूप से और कुछ नहीं कर सकते। सरसरी निगाह से अखबार पढ़कर राजनीतिक तर्कों से उत्तेजित होते हैं और अपने बुद्धि-कौशल से घर के लोगों से कुछ धन हथियाकर दो-चार मील दूर सिनेमा हॉल में सिनेमा देखने जाते हैं तथा जैसे-तैसे जहां-तहां दो-चार लोग इकट्ठे हो बैठकर अड्डा जमाते रहते हैं। पैरों में शिथिलता होने के कारण बार-बार ठोकर खाते हैं, फिर भी पैरों से शिथिलता को मिटने नहीं देते।

इन बैठकों में नियमतः भरपूर धुआं उड़ाया जाता है (भगवान जानें ये बेकार लोग इस तरह धुआं उड़ाने के लिए किसकी जेब काटते हैं), राजा, वजीर मारे जाते हैं और ज्योतिषियों के पास जन्मपत्रियों पर विस्तृत आलोचना होती है।

इसी तरह की व्यर्थ बहसों में ये बिना किसी परेशानी के घंटों बिता देते हैं।

घर की महिलाएं रसोई बनाकर बैठी इंतजार करते-करते अधीरतापूर्वक उन्हें कोसती हैं, बीच-बीच में किसी बच्चे को भेजकर स्कूल की तरफ आवाज लगवाती हैं और उन्हें डांटती हैं।

पहले तो वे उस बच्चे को 'मार-मार' करके भगा देते हैं। किंतु अंततः बेजार मुख लिए उठकर आते हैं, घर में हाथ, मुंह धोते हैं और घोषणा कर देते हैं कि 'दो घड़ी चैन से नहीं बैठ सकतीं ये सब'। इस डांट में जीवन की महानिशा होती है।

फिर इसके बाद गुस्सा शांत होने पर बच्चों के साथ समझौता करके नियमपूर्वक दोपहर का भोजन करते हैं।

जैसे-तैसे कैंरके दादी मां, बुआ आदि थोड़े से मनुहार के साथ दाल, सब्जी, नारियल की बड़ी, पोस्त चच्चड़ी के साथ भोजन परोस देती हैं, किंतु घर में बैठे उन भेड़े-जैसे लड़कों से यह पूछने की उनकी हिम्मत नहीं होती कि 'इस दुनिया में उन्हें और कोई काम नहीं है?'

"लाट साहब चारपाई तोड़ते पड़े रहते हैं, कोई ठिकाना तलाशने नहीं निकल सकते?"

किंतु ये बातें उन्हें असर नहीं करतीं। खाने के बाद थोड़ी सी दिवानिद्रा लेते हैं, फिर उठकर देखते हैं कि चाय बनने में देर है तो वे गुस्से में उठकर पाकेट में दियासलाई रखते हैं और पुनः बाहर निकल जाते हैं। फिर कहीं इकट्ठे होकर बैठ जाते हैं और राजा, मंत्री मारते रहते हैं। इनके इस प्रकार की निरूद्वेग जीवनप्रणाली को देखकर आदमी यह सोचने पर मजबूर हो जाता है कि क्या कभी इनके भाई, बाप, चाचा, बहन अथवा चिर कुमारी बुआ कहीं से लाकर नौकरी नामक पका हुआ फल इनके हाथ में रख सकेंगी?

कभी इनके बाप-चाचा या बड़े भाई ने कम उम्र में ही और इस गांव के परिवेश में ही फुटबाल टीम का गठन किया था। शौकवश जैसे-तैसे जोड़-तोड़ करके थिएटर की स्थापना की थी और वे नाटक खेला करते थे। स्कूल में भी दो-एक खेला था। आज भी वे छुट्टी के दिन वहां बैठते हैं। किंतु इन सब में तो इस तरह की भी कोई सोच नहीं है।

लेकिन हां, एक काम ये बहुत अच्छी तरह कर सकते हैं, वह है 'प्रेम'।

गांवों में प्रेम करने की क्रिया शहरों से ज्यादा है। 'बाल्यप्रेम', कहे जानेवाले प्रेम की फसल तो गांवों की ही उपज है। शैवालिनी पार्वती, देवदास, श्रीकांत, राजलक्ष्मी आदि को सामने रखकर देखें तो इसका प्रताप समझ में आएगा।

यह बहुत स्वाभाविक भी है। गांवों की लड़कियां स्वाधीन होती हैं। उनसे मेल जोल करना आसान होता है। शहर की लड़कियों पर तो इज्जत का खयाल रखते हुए ढेरों प्रतिबंध होते हैं, खबरदारी और नजरदारी होती है। आज भी, इस जमाने में भी। यहां तो खेत-खलिहान, रास्ता-घाट आदि अनेक स्थानों पर आमने-सामने हो सकने के अवसर होते हैं। बचपन से ही ऐसा होना शुरू हो जाता है। कभी अचानक सीमा-रेखा खींची जाती है।

इस प्रकार लगभग सभी लड़कों की निगाहों अथवा हाथों में कोई-न-कोई प्रेमिका अवश्य होती है। कुछ तो बाल्यप्रेम में पक्के होकर निर्देशक बन जाते हैं और कुछ थोड़ा बाद में पा पाते हैं। प्रतिदिन देखने-भालने के बाद बोल पड़ते है —'वो मेरी है।'

ये प्रेमिकाएं स्वप्न देखती हैं और दिन गिनती रहती हैं कि कब इनकी नौकरी होगी। उनके मन में जैसे यही भावना होती है कि इनको नौकरी मिलते ही लेकर

कलकत्ते भाग जाएंगी। तभी तो वे बार-बार पूछती रहती हैं कि 'नौकरी के लिए कुछ हुआ?'

पूछती रहती हैं यामिनी विद्युत से, स्वप्ना गौतम से, अनुराधा संजय से, शुभ्रा देवदत्त से तथा ऐसे ही अनेकानेक लोगों से।

चाहे जैसे भी हो, कोई भी लड़की इस गांव के माहौल में रहने को तैयार नहीं है। अगर इसी बेहूदी जगह में पड़े रहकर सास, ननद आदि के अधीन होकर और उनके ही अनुसार घर में रसोई बनाने के कार्य को ही जीवन का अंतिम सत्य मान लिया जाय तो फिर प्रेम-विवाह करने का मतलब ही क्या हुआ!

इसके अलावा परंपरा के अंधे देवतागण जाति, गोत्र, कुलशील आदि का हिसाब करके 'पंचसर' में भी तो फेंकने पर उतारू हो सकते हैं? उनसे भी तो संघर्ष करना पड़ सकता है। ...कलकत्ता ही एक मात्र ऐसी जगह है जहां ब्राह्मण और शूद्र का कोई सवाल ही नहीं उठता। वहां जैसे मन हो आनंदपूर्वक आजादी से जी सकते हैं। वहां यह कोई नहीं पूछेगा कि 'अरे भाई तुम्हारा पति तो 'मित्र' है, तुम्हारे पिताजी 'मुखोपाध्याय' कैसे हुए?'

कलकत्ता तो जैसे पतितोद्धारिणी गंगा की तरह है। ...

और जो एक दूसरे दल की बात उठाई गई थी? जिसका कि नाम था 'अकाल कुष्मांड' ...उसके सदस्यों की भूमिका भी काफी कुछ इनकी ही तरह की है। वे भी ग्रेजुएट, हायर सेकेंडरी पास नाना तरह के बेकार लोगों की तरह ही हैं। वे भी आवारा पशुओं की तरह घूमते-फिरते हैं, घर के लोगों को परेशान करते हैं, इंबी-तिंबी करते हैं और प्रेम करते हैं।

हां, सारे ऊधमियों की एक-न-एक प्रेमिका है। विशू, बूड़ो, बुद्ध, प्रताप, पंचू सबकी। एक कहावत है न कि 'राजा को रानी, काना को कानी', वही कहावत इनके यहां चरितार्थ होती है।

इनकी प्रेमिकाएं कलकत्तावास का स्वप्न नहीं देखतीं; क्योंकि इन अकाल कुष्मांडों के मन में भी किसी आफिस की चेयर पर बैठने का स्वप्न नहीं है। ...किंतु वे स्वप्न देखते हैं कि स्टेशन के पास जो सिनेमा-हॉल बन रहा है उसके बन जाने से उसमें कोई काम मिल सकता है। ...बूड़ो की चिंता है कि लाइन के उस पार जो केमिकल फैक्ट्री खुल रही है उसमें उसके लायक कोई काम पता नहीं होगा कि नहीं। फिर भी बुद्ध के ग्रुप में पंचू वगैरह में एक नूतन आशा की किरण है।

ग्राम पंचायत कल्याण कार्यक्रम के नाना कार्यक्रमों में ये कार्यकर्त्ता शरीक होते हैं अथवा शरीक किए जाते हैं। ऐसे कार्यों में इनकी अवस्था परिवर्तित हो जाती है। इन्हीं चेहरों को बाकी दिनों में एक बीड़ी के लिए आपस में छीनाझपटी करते देखा जाता है जबकि ऐसे कार्यों में लगने के समय फूलछाप शर्ट और गले में रूमाल भी बांधे हुए देखा जाता है। नुचे हुए कबूतर की तरह जो उनके बाल हैं वे भी उस दिन

संवरे होते हैं।

इनमें से कई एक लड़के तो पंचायत कल्याण के कार्यकर्त्ता भी हो जाते हैं। फिर वे इसी में लगे रहते हैं और बड़े-बूढ़ों की सेवा करते-करते ऊपर तक पहुंच जाते हैं। क्योंकि शिक्षित बेरोजगार से तो इसमें रहना बेहतर ही होता है इनके लिए।

शहरों से सटे हुए गांवों की लगभग यही अवस्था है। शहरों से दूर पूर्णत: किसानोंवाले गांवों की तो हालत कुछ दूसरी ही होती है। वहां तो कभी मेरा जाना हो नहीं पाता है। यहां इनकी ही बात हो रही है।

यह स्मरण रहे कि गांव का नाम है 'वास्तुपुर'।

चमेली कहती—"गांव का नाम कितना असुंदर है। कितनी सुंदर जगहें हैं, कितने सुंदर नाम हैं, और एक हमारा वास्तुपुर है। इसका कोई मतलब ही नहीं समझ में आता।"

किंतु चमेली ही ऐसा कहती। चमेली के अलावा और कोई भी इस गांव के नाम को लेकर अपना माथा नही खपाता।

विद्युत बोलता—"इसके बाद जब इसको छोड़कर दूसरी जगह जाओगी तब शायद तुम्हें समझ में आएगा कि आहा, इस गांव का नाम कितना सुंदर है। एक बार जाकर देखने की कोशिश करो।"

चमली चिढ़कर बोलती—"खाक। एक बार अगर इस गंदे गांव से बाहर निकलने का मौका मिलेगा तो दुबारा इधर का मुंह भी करूंगी क्या।" विद्युत को इस बात पर बहुत खुशी नहीं होती। यद्यपि इस गंदे गांव को छोड़कर कलकत्ते में रहने की उसकी भी इच्छा होती है। किंतु पिताजी और चाचा की तरह गांव का अन्न खाकर डेली पैसेंजरी करने की उसकी इच्छा नहीं होती। और न तो अपनी जिंदगी से एकदम से वास्तुपुर को निकाल फेंकने की ही इच्छा होती। विद्युत की मां है, पिता जी हैं, बुआ है तथा अलग रसोई होने के बावजूद उसके चाचा-चाची भी उसी घर में हैं। विद्युत के साथ उनके संबंध बुरे नहीं हैं। अगर किसी समय-असमय मां को चाय बनाने में देर हो जाती तो चाची अपने रसोई घर से लड़के को आवाज लगाते हुए कहती—"मेरे यहां चाय बन गई है, रे विद्युत। पीना है तो आ जा।"

इनके अलावा उससे तीन साल बड़ी उसकी एक बहन भी है। विद्युत को बहन से बहुत ईर्ष्या होती है। लड़की होकर भी दीदी के पास एक अच्छी-सी आरामदेह नौकरी है। दीदी की नौकरी से विद्युत को कई एक सुविधाएं भी हैं, फिर भी उसके बदन में आग लगी रहती है।

दीदी जब आफिस से लौटती है, पिताजी के साथ बैठकर बड़ी शान से नाश्ता करती है, और मां 'वेनू-वेनू' करती हुई उसकी सेवा में लगी रहती है, यह सब देखकर विद्युत का दिमाग खराब हो जाता है।

"वेनू , तुम्हारे लिए दोपहर का पोस्तबड़ा रखा हुआ है, चाय के साथ खाओगी?

वेनू के टिफिन का परांठा कितना सख्त हो जाता है? कितनी बार तो बोल चुकी है कि दातों में दर्द होने लगा है।"

दीदी उस बात पर ध्यान नहीं देती। विद्युत को आवाज लगाती—"आ जाओ, विद्युत। तुम्हारी चाय ढाल दी है।"

मां झट से बोल पड़ती—"वो तो दिन-भर में दसियों बार पी चुका है।"

"तो क्या हुआ? एक मेरे साथ भी पी लेगा"

"तुम पीओ। अभी मेरा मन नहीं है।"

"आः, आओ तो।"

पोस्तबड़ा का आधा टुकड़ा तोड़कर भाई के हाथ में थमा देती।

पिताजी चाय के साथ कुछ खाना पसंद नहीं करते। बोलते—"थोड़ा-सा भी कुछ खा लेने से रात में नहीं खा पाऊंगा।"

फिर भी मां एकाध टुकड़ा कुछ-न-कुछ खिला ही देती। शायद आलू-मिर्च अथवा पूड़ी तलकर।

पिताजी उसमें से एकाध लेकर बाकी विद्युत की तरफ बढ़ा देते।

पिता तो दिन-भर अपने बेटे का चाल-चलन देख नहीं पाते, इसीलिए उनके मन में मां की तरह का उत्ताप नहीं जमा हुआ है, बल्कि पिता इस बात पर लज्जित रहते हैं कि वे ठीक से बेटे को समय नहीं दे पाते।

चाचा भी आंगन के उस तरफ चबूतरे पर बैठकर इसी तरह का कार्य करते हैं। आफ़िस से लौटकर चाय पीते हैं। फिर चाचा की चाय के साथ भी एक विलक्षण भोज होता है।

चाचा जमकर खाते-खाते जोर-जोर से बातें शुरू करते—"समझ रहे हैं न, भाई साहब, अविनाश बाबू को तो बोल-बोलकर हद हो गई है, एक फार्म नहीं ले आ पा रहे हैं। दूसरे के काम में कौन अपना सिर खपाता है!"

ऐसा नहीं कि चाचा भी विद्युत के लिए कुछ कोशिश करते।

विद्युत को अंततः यह शाम का समय, यह घर, यह दालान, यह चबूतरे के सामने का आंगन, लकड़ी से घेरा गया पेड़ सब कुछ कितना मनोरम लगता! इन सारे दृश्यों को अपने जीवन से निकाल फेंकने की बात विद्युत सोच भी नहीं पाता।

किंतु चमेली की बात कुछ अलग ही थी।

चमेली ने अपने मां-बाप को देखा नहीं। अपने ताई-ताया के पास ही बड़ी हुई। और इस बड़ी होने के बदले चमेली को बहुत कुछ देना पड़ा। ...बचपन से ही।

एक समूची लड़की के पालन-पोषण में जो खरचा आएगा उसे क्या ताई वसूल नहीं करेगी? वे बहुत बड़े आदमी तो नहीं हैं? इसीलिए तो ताई-ताया ने सिर्फ गाय की देखभाल करनेवाली एक बूढ़ी नौकरानी के अलावा किसी और को रखा नहीं।... दिन-रात कमरतोड़ मेहनत में लगी रहती है। फिर भी बूनो घास की तरह चमेली बढ़ती

चली जा रही है। और इन्हीं सब के बीच प्रेम का अंकुर! लड़की के साहस की दाद देनी पड़ेगी।

अगर ताई कभी बोलती—"भरी दोपहर में कहां चली रे?"

चमेली तपाक से बोल पड़ती—"रेल लाइन पर गर्दन कटाने।"

अगर कहती—"आसमान में बादल गहरा रहे हैं, पानी बरसनेवाला है, तब भी निकली चली जा रही हो? अड्डेबाजी करने जा रही हो? अड्डेबाजों की रानी!"

चमेली बोल पड़ती—"फिर तो रुक जाती हूं। बाहर की सूखी दीवार से बरसात से पहले ही कुछ गोटियां इकट्ठी कर लाओ।"

चमेली के इसी तरह के उलाहना से तो विद्युत प्रायः रोज ही शाम को भुन-भुनाते हुए बहन से शिकायत करता—"बस तुम्हारी यही सब बातें सुनकर तो मुझे लगता है कि तुम षड्यंत्र कर रही हो। इधर-उधर की बातों में मुझे भुलाकर कुछ करने नहीं देती।"

"भुलावा किस बात का रे बदमाश ..."

वेनू थोड़ा गुस्सा दिखाते हुए बोलती—"पूरे दिन उन शरारती लड़कों के साथ अड्डेबाजी करने में तो बहुत मजा आता है। बदमाश कहीं के।"

प्रायः हर घर के लोग दूसरे घरों के लड़कों को दोष देते हुए अभियोग लगाते हैं कि उन्हीं के कारण हमारा बेटा बर्बाद हो गया है।

विद्युत बोलता—"अरे बाबा, भुलावा नहीं।" फिर थोड़ी सिफारिश-विफारिश करते हुए बोलता—"ऐसा सोचने से ही क्या तुम्हारे भाई को कोई नौकरी दे सकेगा। और दीदी, प्लीज!"

दीदी थोड़ा नरम स्वर में बोलती—"मैं सब समझ रही हूं। उस बदमाश चमेली ने ही तुम्हारे दिमाग में उत्पात भर दिया है?"

"वाह! इसमें चमेली की क्या बात है? मुझे नौकरी की आवश्यकता नहीं है क्या?"

"मैंने 'नहीं' बोला है क्या? लेकिन तुम जिस ढंग से व्यवहार करते हो, तुम क्या समझते हो कि मैं तुम्हारे लिए चिंता नहीं करती? करती हूं। करती हूं। किंतु ..."

वह 'किंतु' सर्वत्र व्याप्त है।

गौतम के बाबू उठते-बैठते हर क्षण बेटे के लिए चिंतित रहते हैं। इनसे-उनसे कहते फिरते हैं। किंतु उनके ऊपरवाले बोलते—"अब दो साल बाद ही तो आपका रिटायरमेंट है। लेकिन हम तो तब भी यहीं रहेंगे..."

गौतम के बाबूजी मन-ही-मन बोलते—"और दो साल तक बेटा छुट्टा सांड़ की तरह इधर-उधर घूमता फिरेगा। असह्य।"

बाबू बेटे के लिए नौकरी का प्रयास करने के बाद दो बात सुनाने से नहीं चूकते।

"क्यों रे? मैं उस कागज की 'कापी' करवाकर रखने के लिए बोल गया था?

और मैं देख रहा हूं कि तुमने तो हाथ भी नहीं लगाया है। क्या करते रहते हो दिन-भर?''

मां जल्दी से बोल पड़ती—''अरे कहो मत। इसके सारे दोस्त तो बर्बाद हो चुके हैं। यह घर में बैठे-बैठे कागज-फागज सहेज तो रहा था लेकिन इसके दोस्त सब आकर बुला ले गए। बैठने तक नहीं दिया।''

बाबू बहुत ही तिक्त स्वर में बोलते—''दोस्तों के उपकार की क्या इतनी जल्दी थी? दोस्तों को लेकर इतनी हड़बड़ी रहती है! देखते रहो, वे ही तुम्हारे लोक-परलोक का बारह बजा देंगे।''

मां करुण स्वर में बोलती—''इतना छोटा-सा तो दिन होता है। करे भी क्या?''

बाबू गुस्से में बोल पड़ते—''मैं हूं कि आंगन की घास-पात से किसी तरह मरिवार चला रहा हूं। जैसे-तैसे दो ठो मछली जुटाने की भी जुगत करता हूं। ...

''आहा, जैसे तुम्हारे दस ठो तो तालाब हैं। एक वही तो छोटा-सा गंदा गड्ढा है। उसमें...''

''उस गड्ढे को साफ करके उसमें भी तो मछली छोड़ी जा सकती है।''

''जब तुम रिटायर होकर बेकार हो जाना तभी वो सब करना। बाप-बेटे एक साथ बैठकर तो खा नहीं सकते, बस उपदेश-भर देंगे।''

इसका मतलब कि बाहरी दुनिया में उन सारे बेकार लड़कों की हालत एक जैसी ही है। किंतु घर में कुछ अलग तरह की।

फिर भी एक साथ ही रहने पर वे एक जैसे होते हैं।

गौतम की स्वप्ना भी बोलती—''अब और कितने दिन इस स्वप्ना को भुलाते रहेंगे, गौतम दा? इधर बाबू और मौसी से रोज ही जवाब तलब होती है।''

''तुम्हें क्या लगता है कि मैं तुम्हें भुला रहा हूं?''

''वो तो नहीं जानती। फिर अगर मेरे पिताजी मेरे लिए मंडप में बिठाने की व्यवस्था कर पाते तो स्वप्ना की नियति ऐसी ही होती?''

''तुम इस तरह की आलतू-फालतू बातें अपने दिमाग में क्यों लाती हो, स्वप्ना?''

''आलतू-फालतू बातें? बाद की सोचो।''

''अरे इतना आसान नहीं है। आजकल लड़कियों की शादी इतनी आसान नहीं रह गई है। अपने बाबू की बातें सुनकर तुम्हें क्या लगा कि यह सब इतनी जल्दी हो जाएगा?''

''मैंने तो उन्हें बोल दिया है कि नौकरी मिलते ही गौतम दा कलकत्ते में मकान ले लेंगे।''

''वो प्लान तो है ही। लेकिन सब कुछ निर्भर करता है पैसे के ऊपर। सिर्फ परिवार बसा लेने से ही...''

"वो सब चिंता तुम मत करो। मैं ठीक-ठाक मैनेज कर लूंगी। कम-से-कम कितने पैसे में परिवार चलाया जा सकता है, दिखा दूंगी।"

स्वप्ना की मां जनम की रोगिणी है। स्वप्ना को बहुत सारे काम करने पड़ते हैं। किंतु गौतम को देखने के बाद ही स्वप्ना को गुस्सा चढ़ता है। बोलती है—"मरने के दिन तक का जो मेरे भाग्य में लिखा है, वो मैं जानती हूं।"

अनुराधा की अवस्था जरूर थोड़ी-सी ठीक है।

विधवा मां की इकलौती बेटी। मां बेटी के उस प्रेमी के ऊपर ही भरोसा करके बैठी हुई है।

दोनों के घर पास-पास ही हैं। बचपन से ही आना-जाना है। अनुराधा की आफत-बिपत सब संजय के घर के लोग ही देखते हैं। यह भी कह सकते हैं कि दोनों परिवारों में एक अलिखित स्वीकृति है। संजय और अनुराधा के प्रति। अथवा अनुराधा और संजय के प्रति। यहां जाति, गोत्र, कुलशील सब अनुकूल हैं।

प्राय: रोज ही संजय इस घर से एक बार हो जाता है। कोई बुरा नहीं मानता। मतलब संजय की मां, दीदी, भाभी। शायद कभी-कभी संजय की भाभी मुंह ढक करके हंसती अथवा किसी दिन मुंह चिढ़ाती। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं।

संजय बोलता—"स्टेशन की तरफ, बाजार की ओर जा रहा हूं। कुछ मंगाना तो नहीं है, काकी मां! डाक्टर के पास जाने की जरुरत है?"

और जब वह किसी दिन नहीं जा पाता तो अनुरांधा की मां बोलती—"कल क्यों नहीं आए , बाबू? तबीयत ठीक तो है न?"

बोलती—"आए नहीं, नमकीन बनाया था। मनू को बहुत अच्छा लगा था।"

संजय की चाय और नाश्ता प्राय: रोज ही यहीं होता।

बाकी सब बोलते—"तुम साले एक अच्छी व्यवस्था पा गए हो। अगर हमारे लिए भी कहीं ऐसी इकलौती लड़की और हिब्बेवाली ससुराल मिले तो बताना रे। जहां जमाई की सेवा होती हो।"

संजय बोलता—"मैं क्या 'फा-फा' कंपनी का एजेंट हूं?"

"तुम्हारा तो हो ही जाएगा। भइया राइटर हैं, अच्छी पोस्ट पर हैं।"

"हैं तो क्या हुआ?"

फिर अनुराधा अपनी स्वाभाविक भंगिमा में ही बोलती—"मां का जो स्वास्थ्य है, इसे अकेली छोड़कर जाना तो संभव नहीं है। मां को अपने साथ ही लेकर चलना पड़ेगा।"

जैसे लगता है कि टिकट कट गया हो।

यह बात समझ में नहीं आती कि अकेली छोड़कर जाने की बात कहां से उठी। संजय के भइया-भाभी तो यहीं रहते हैं।

आश्चर्य, किंतु संजय उस प्रश्न पर ध्यान नहीं देता। नौकरी मिलने के बाद ही

गांव छोड़ा जा सकता है, यह अटल है। और अनुराधा की इच्छा ही अंतिम बात है।

फिर देवदत्त नामक लड़के की बात ही अलग है। वह खुद ही वास्तुपुर छोड़कर चले जाने के लिए एक पांव पर खड़ा है। और उसको अपने भाई और चाचा से ऐसी कोई उम्मीद भी नहीं है। अखबार देख-देखकर इधर-उधर दरखास्त देता फिरता है।

इस वास्तुपुर में उसके रुकने लायक कुछ है भी नहीं। बचपन से ही दीदी और जीजा के पास रहकर पलता-बढ़ता आया है, वही है। फिर एक अलिखित समझौते के तहत बचपन से ही वह जीजा की भांजी शुभ्रा पर अपना अधिकार जमाया हुआ है।

दीदी-जीजाजी उसके प्रति इतना स्नेह नहीं रखते। दोनों के ही मां-बाप मर चुके हैं। दोनों इस घर में आश्रित हैं। ...एक के ऊपर घर के मालकिन की कृपा-दृष्टि ज्यादा है तो एक के ऊपर घर के मालिक की।

जिन-जिन लड़कियों की हालत एक-जैसी है वे एक जगह इकट्ठी होती हैं। भविष्य के सपने देखती हैं और शुभ दिन की प्रतीक्षा करती हैं। किंतु लड़कों में उनकी अपेक्षा ऐसा कोई स्वप्न नहीं होता।

वे नियमत: अड्डेबाजी करते हैं और हंसी-ठट्टा के ठहाके लगाते रहते हैं। घर लौटकर मार-पीट करते हैं। इनसे थोड़ा भिन्न है देबू। अर्थात् देवदत्त।

किंतु वह एकदम ऐसा नहीं करता, ऐसा नहीं है। वह दीदी की ननद से लड़ता रहता है।

"ऐ , तुम अभी तक बिना खाए बैठी हो रे? ऐसे कितने दिन तक चलेगा?"

"मुझे खाने को मिला ही नहीं।"

"नहीं, मिला नहीं। बावली कहीं की। क्यों, दीदी तो खा चुकी है।"

"भाभी को अम्लीयता की तकलीफ है। देर से खाने पर और बढ़ जाएगी।"

"तुम्हें भी अम्लीयता हो जाय तो अच्छा। लाओ, अपना भी खाना मेरे ही साथ लेती आओ।"

"लाती हूं। तुम पहले बैठो तो! अब तक किस बात की अड्डेबाजी हो रही थी?"

"वो सब तुम्हारी समझ में नहीं आएगा।"

"समझ कैसे पाऊंगी। किसी दिन मुझे भी उस अड्डे पर ले चलो न!"

"घर के लोग जाने देंगे? ...हुंह।"

फिर थोड़ा-सा मिजाज ठीक होने पर बोला—"पांचेक हजार रुपए होते तो एक बढ़िया नौकरी मिल जाती।"

"कितने रुपए?"

"पांच हजार। नौकरी से पहले डिपाजिट करवाना होगा।"

शुभ्रा बोली—"पैसे ले लेंगे?"

"धत्। ले कैसे लेंगे? बोला तो कि डिपाजिट कराना होगा। कैश होगा बाद में। आकाशकुसुम। गरीबों का कुछ नहीं होता रे।"

"देबू दा।"

"क्या?"

"खूब बढ़िया नौकरी?"

"साधारण ढंग से परिवार चलाने लायक।"

"कलकत्ते में?"

"तो और क्या?"

"तुम्हें किसने बताया?"

"वो सब लंबी बातें हैं। अखबार में विज्ञापन पढ़कर दरखास्त दे आया था, इसके बाद पता चला कि हमारे कालना कालेज के एक प्रोफेसर का बेटा उस नौकरी का कर्त्ता-धर्ता है। प्रोफेसर मुझे बहुत प्यार करते हैं। चुपचाप मैंने एक चिट्ठी डाल दी। सर ने बड़े उत्साह के साथ उसका जवाब भी दिया। बोले कि इंटरव्यू तो उनके बेटे के ही हाथ में है। और बेटा अपने पिता की बातें मानता है। पिता ने अनुरोध भी किया। धत्, इतना सब करने का क्या लाभ नहीं होगा तो और! ओह! मेरी समझ में ही कुछ नहीं आ रहा। ऐसा सुअवसर बार-बार नहीं आता।"

"ऐ, देबू दा। एक बार मामी से बोलकर देखो न?"

"तुम भी पागल की तरह बातें करती हो, शुभ्रा। थप्पड़ लगेगा तुम्हें। तुम्हारी मामी मुझे पांच हजार रुपए देगी। पाएगी कहां से?"

"आहा, मामी तो? मामी..."

"अब ऐसा नहीं है। इस साले साहब को सारा जीवन पाला-पोसा, पढ़ाया-लिखाया और अभी भी इस बूढ़े बैल को पाल रहे हैं, और उसके ऊपर से—यह बात सुनकर उनका दिल नहीं बैठ जाएगा?"

"तो ये निःसंतान जीजाजी जो साले साहब का लालन-पालन कर रहे हैं और आदमी बनाने के सुंदर प्रयास कर रहे हैं, वह क्या निहायत मानवातावश अथवा पत्नीप्रेम के चलते? अथवा भय के कारण? उनके मन में क्या कोई परिकल्पना नहीं है? इसे ही कहते हैं मछली के तेल में मछली तलना—भांजी की भी तो जिम्मेदारी उन्हीं की है।"

"यही तो समस्या है।"

"देबू दा! ऐ, देबू दा! तुम खुद ही कहीं से इंतजाम कर लो न! धीरे-धीरे चुका देना।"

"अच्छा, तुम ये सब फालतू बातें बंद करो। इसी उम्मीद में मुफ्त में जमाई बाबू—न, अंततः सुसाइड करने के अलावा और कोई रास्ता नहीं बचेगा। इधर नौकरी की उम्र निकली जा रही है। रुको-रुको, अब और भात मत दो, खा नहीं पाऊंगा।"

"देबू दा, तुम्ही कहीं से उधार करके..."

"थप्पड़ खाओगी, शुभ्रा तुम। मुझे पांच रुपए भी कोई देगा? क्या देखकर देगा? मुझ बेचने से तो पांच पैसा भी नहीं मिलेगा।"

तब शुभ्रा हंसते हुए बोली—"तब ऐसा करो कि मुझे ही बेच दो।"

"ओह! बहुत बड़ी-बड़ी बातें सीख गई हो। तुम्हारी कौन-सी ऐसी कीमत है रे? कानी कौड़ी भी नहीं। तुम्हें किसी और के मत्थे थोपना होता तो उल्टा जमाई बाबू को ही घर-बार बेचकर पैसे देने पड़ते ..."

शुभ्रा ही-ही करके हंसती हुई बोली—"और अगर मैं उन लोगों को पंसद नहीं आती तो मामा अपनी भांजी को डुबोकर मार डालते। तो तुम मामा से यही सब समझाते हुए बोलो न, देबू दा। जब तक आप पैसे नहीं..."

"शुभ्रा, ज्यादा फचर-फचर मत करो। सोच-समझकर बातें किया करो। जमाई बाबू से? जबसे जमाई बाबू रिटायर होकर आए हैं और उन्होंने ईंट का भट्ठा खोला है, तबसे क्या वे आदमी रह गए हैं? ...अगर ऐसी बात सुनेंगे तो अपने साले साहब की गर्दन में हाथ लगाकर धक्का दे देंगे। ओह! स्वर्ग का टिकट हाथ में आकर भी नहीं आया! इस संबंध में अगर सर की चिट्ठी नहीं आती!"

"देबू दा, इस दुनिया में इतना पैसा पड़ा हुआ है, आपको कहीं से पांच हजार रुपए नहीं मिल सकते..."

"ओह! जैसे पांच हजार रुपए बहुत सामान्य-सी चीज हो। हठात जैसे बेगम बन गई हो न! धत्। कुछ भी अच्छा नहीं लगता।"

"ओ मां! यह क्या? उठ गए? दाल को तो छुआ तक नहीं। ऐ , देबू दा..."

"न। और अच्छा नहीं लग रहा। मन-मिजाज एकदम उखड़ गया है।"

पैरों में स्लीपर डालकर चला गया।

कहां गया? और कहां? उसी अड्डे पर। वहां आज विद्युत अनुपस्थित था।

"साले विद्युत का चाल-चलन कुछ संदिग्ध लगता है, रे गौतम!" संजय बोला—"लगता है, कोई नौकरी-चाकरी पा गया है। एकदम सवेरे-सवेरे सज-धजकर अपनी दीदी के साथ ट्रेन से गया है। मैंने पूछा कि कहां जा रहे हो, रे? ...बोला—'यही जरा कलकत्ते से बाजार घूमकर आता हूं।' तो बाजार घूमने के लिए इतना सजने-धजने की क्या जरूरत है बाबा?"

सुनकर देबू का मिजाज और खराब हो गया। लगा कि जैसे विद्युत ने उसके साथ कोई विश्वासघात किया हो। उसके हाथ में आया हुआ स्वर्ग का टिकट हाथ में नहीं आ पाया। और विद्युत एक टिकट पाकर सज-धजकर ट्रेन पर चढ़ गया।

किंतु मन-मिजाज खराब हो जाने से क्या देबू की तरह कोई लड़का बैठता?

घर लौटने की इच्छा न होने पर भी उसी बहन और बहनोई के घर लौटना पड़ा।

दीदी चाय लेकर आई।

देबू एक मलिन स्वर में बोला—"तुम चाय ले आई? शुभ्रा कहां है?"

दीदी भी नम्र स्वर में बोली—"वो जरा बाहर गई है।"

"कहां गई है?"

"सिनेमा गई है।"

"सिनेमा गई है। पूर्वाश्री में?"

"शायद वहीं।"

"इतनी आजादी क्यों दे रखी है उसे? किसके साथ गई है?"

दीदी बोली—"वही पंचू और एक और कोई बूढ़ा साथ में आया था, आकर बोले कि बहुत बढ़िया फिल्म है..."

पंचू! और कोई एक! विषैले दांतों की चुभन। नख से शिख तक देबू के बदन में आग लग गई।

"उन दो बदमाशों के साथ इवनिंग शो के लिए... तुम्हें हो क्या गया है, बोलो तो?"

दीदी बोली—"मैं क्या कहूंगी। तुम्हारे जीजाजी भी घर में थे। ...पंचू का बड़ा भाई गोवर्धन साहा तो इस बार पंचायत का प्रधान हुआ है, इसीलिए तुम्हारे जीजाजी आजकल उसके भाई को काफी आदर देते हैं।"

"आदर देते हैं।.आदर देते हैं तो दें, दोनों टाइम वहां जाकर खुद मक्खनबाजी करें न! घर की लड़की को घूस के तौर पर...जाता हूं मैं।"

चाय का प्याला रखकर, वह अग्निमूर्त्ति-सा बाहर निकल पड़ा।

दीदी उसके पीछे-पीछे हां-हां करती हुई दौड़ी—"ओ, देबू, अब कहां जा रहे हो? वो सब तो रिक्शे पर बैठकर गए , हॉल में घुस गए होंगे।"

"मैं भी वहीं जा रहा हूं।"

"जाकर क्या करोगे?"

"क्या करूंगा, जानना चाहोगी?"

"'हां, मैं समझ गई।"

"सिर्फ दीदी ही नहीं, बहुतों ने।"

सिनेमा-हॉल में—देबू ने बाहर से ही शुभ्रा सरकार के नाम संदेश भिजवाया। आपके घर से बुलावा आया है। आ जाइए।

"घर से बुलावा आया है!"

"कौन है घर से?"

"ऐसा कुछ नहीं बताया। बस बोला कि तुरंत घर चले आइए। रिक्शा भी साथ ले आया है।"

शुभ्रा निकल आई।

साथ में पंचू भी।

पंचू ही आगे बढ़कर पहले बोला—"क्या बात है, देबू दा?"

देबू ने उसके सवाल का कोई जवाब नहीं दिया। कठोर स्वर में बोला—"शुभ्रा, इधर आओ।"

इसका मतलब कि घर में कोई आफत-बिपत नहीं है।

पंचू फिर बोला—"वाह! क्या हुआ, बोलिए तो?"

देबू ने आगे बढ़कर शुभ्रा के गाल पर एक जोरदार थप्पड़ लगाते हुए बोला—"मैं बोल रहा हूं , इधर आओ।"

किंतु ऐसे सार्वजनिक जगह पर ऐसी घटना!

अच्छा-खासा शोर-गुल शुरू हो गया। 'क्या हुआ? क्या हुआ?'

"मारा क्यों? ..." अपमान से चेहरा टकटक लाल हो उठा।

"ज्यादा बको मत। मैं कह रहा हूं कि चलो?"

शुभ्रा तनकर बोली—"नहीं जाऊंगी।"

"नहीं जाओगी?"

"क्यों जाऊंगी? मैं तुम्हारी कोई दासी हूं क्या? मामा ने मुझे आने दिया है। और ये आए हैं गार्जियनगिरी करने। आओ पंचू। फिल्म देखते-देखते, इश। जिसके साथ मेरा मन होगा उसके साथ मैं सिनेमा देखने आऊंगी। तुम्हारा क्या? ...पंचू मेरे बचपन का दोस्त है।

भीतर चली गई। पंचू की कमर में हाथ डाले।

अब देबू क्या करेगा?

रेल लाइन पर जाकर गर्दन कटा लेगा? नहीं, घूंसा मारकर अपने जीजा की नाक तोड़कर टक-टक करते हुए जिधर मन में आएगा, उधर चला जाएगा।

किंतु डिशिजन लेने से पहले ही उसे गौतम ने पकड़ लिया।

"तुम अब तक कहां थे? उधर चमेली ने अपने शरीर पर मिट्टी तेल डालकर—आप... ।"

"चमेली जैसी लड़की!"

"वही तो। चल जल्दी। मुझे नहीं पता कि इस समय वहां क्या हो रहा होगा।"

"विद्युत कहां है?"

"अब क्या वो यहां है? उसकी बेईमानी से ही तो...साला चुपचाप नौकरी करके...वो सब बातें बाद में सुनना। जल्दी चल। वहां सब लोग घबरा रहे होंगे।"

"किंतु विद्युत के नौकरी पाने की खबर सुनकर तो चमेली को खुश होना चाहिए। खुश होने की बात है। अचानक मिट्टी तेल डालकर..."

"और क्या कारण हो सकता है? बेईमान। साले विद्युत की बहन के बास ने उसे अपने वश में करके अपनी भतीजी के गले में वरमाला डालने की शर्त पर उसे नौकरी दी है।"

"दीदी ने ही? इकलौते छोटे भाई को..."

"वह बात बोलकर उसने अपने बाप का नाम बचा लिया। कितने दिनों तक वह अपने को ऐसे लटकाए रहेगा? इधर यह भी तो रोज तगादा मारता था। अतः दीदी ने मां-पिताजी की कसम देकर उसे अपने पक्ष में कर लिया। मां डूब मरेगी। पिता जी भी दो साल बाद रिटायर होनेवाले हैं।"

यह खबर सबसे पहले इन बेकारों के अड्डे पर पहुंची। अब क्या उपाय है?

चाहे जितना भी 'बिना काम के' कहकर धिक्कार दें, किंतु ऐसे सब कामों में सबसे ज्यादा भरोसेमंद यही हैं। किसी के मरने पर श्मशान ले जाने, बीमार होने पर अस्पताल ले जाने आदि कामों में जितने पटु ये सब हैं, उतना और कोई है क्या?

यहां तो भगवान की कृपा है कि इसे श्मशान नहीं ले जाना पड़ा। अस्पताल ले जाने से ही काम बन जा रहा है। बच जाएगी। विकलांग होकर वास्तुपुर में ही पड़ी रहेगी। ..."

"थाना-पुलिस?"

"नहीं। वो सब नहीं हुआ है। चमेली ने खुद ही यह बयान दिया है कि जलते हुए जनता स्टोव में मिट्टी तेल डालते समय अचानक जल उठी।"

"जलते हुए स्टोव में मिट्टी तेल डालने ही क्यों गई?"

"मति फिर गई थी। सोचा कि कुछ नहीं होगा।"

"सुनकर उसकी ताई को काफी संतोष मिला है। उसने ही तो ऊंचे स्वर में तीखे व्यंग्य-बाण चलाते हुए कहा था—'इस बार पांव जमीन पर पड़ गए न? बहुत अहंकार बढ़ गया था मन में। लगता था जैसे विद्युत इनके लिए ही वरमाला हाथ में लिये घर में बैठा हुआ है। दर्प चूर हो गया न? वो तो किलकता हुआ दीदी के साथ आफिस चला गया। दीदी के ऊपरवाले ने अपनी भतीजी से शादी करने की शर्त पर नौकरी दी है। इसने भी शर्त पर साइन कर दी है।' ...यह बात तो चुपके से विद्युत की चाची ने बताई है। तो यह चुप-चुप कब तक चलता? लोगों के कान नहीं है?"

उसे उस समय तो कुछ समझ में नहीं आया कि देवरानी के कमरे से कपड़ा जलने की कैसी गंध आ रही है।

ये सब जब अस्पताल से लौटकर आए तब तक विद्युत वापस नहीं आया था। आज ही उन लोगों ने इसकी खुशी का पर्व भी मना लिया। पिताजी, दीदी, विद्युत सभी बाहर से ही खाना खाकर वापस लौटेंगे।

शायद आफिस से लौटकर विद्युत भी चमेली के जीवित रहने पर शुक्र मनाए।

इन उदण्ड लड़कों ने अवश्य यह कहा—"इसका मर जाना ही बेहतर था। इसके जिंदा रहने का अब कोई मतलब नहीं है।"

किंतु मरने-जीने का मतलब जान लेने से थोड़े कुछ होता है? और आदमी किस महामुहुर्त में इस तरह का भयानक डिसिजन लेकर सारा जीवन मरता-जीता रहता है!

शुभ्रा नामक लड़की भी क्या एक बड़ी गलती नहीं कर बैठी है? शायद उसे

अपने जीवन में अब और कोई उम्मीद नहीं नजर आई होगी। किंतु बौना होकर चांद छूने की लालसा। दूसरे के लिए स्वर्ग का टिकट खरीदते-खरीदते उसके ही हाथ से स्वर्ग का टिकट छिन गया।

चमेली के मामले में—

देबू ने पिछली शाम से ही गहन अंधेरी रात पता नहीं कहां-कहां घूमते हुए काट दी। ...रात बीत जाने पर लगभग सोते-सोते वह जीजा के घर आकर सो गया।

पता नहीं किस तरह सुबह बीत गई। पूरा घर धूप से नहा उठा है। पूरा बदन धूप में नहा उठा है।

अचानक महसूस हुआ कि कोई उसे पंखा झेल रहा है।

आंख खोलकर चुंधियाते हुए देखने की कोशिश की। याद करने की कोशिश की।

इसके बाद बोला—"तू यहां क्या कर रही है?"

"कुछ नहीं कर रही। यह बोलने आई हूं कि पता नहीं, कब कहां मिलेंगे। यह लो, इसे रख लो।"

"क्या है ये?"

"कुछ नहीं। बाद में खोलना।"

"मैं अभी इसी वक्त यह घर छोड़कर जा रहा हूं।"

"मैं जानती हूं। इसके बाद अब और यहां रहने का कोई मतलब भी नहीं है। लेकिन जाने से पहले इसे लेते जाओ। जल्दी से अपने बैग में रख लो, देबू दा।"

देबू कठोर स्वर में बोला—"क्या है इसमें?"

"बताई तो, बाद में देखना।"

देबू ने झपट्टा मारकर शुभ्रा के हाथ से वह बंडल छीन लिया ओर बोला—"क्या मतलब है इसका?"

"मतलब बाद में सोचना, देबू दा। मामा घर में हैं। कल के सिनेमा-हॉल...उस संबंध में बहुत सारी बातें करने को हैं। कल एक और झंझट में पड़ जाते...बहुत हो गया, लड़कियों के लिए मर जाना ही बेहतर उपाय है। किंतु तुम्हें कसम है, देबू दा...अगर मामा तुमसे इस संबंध में कुछ कहने आते हैं तो तुम सीधे उनकी नाक पर लात मारते हुए बोल देना—'मैं आपका यह घर छोड़कर जा रहा हूं।' बोल देना।"

"ओह! तुम्हें तो बहुत सुविधा हो गई। तुमसे तो अब बात करने में भी घृणा होती है। जाओ। चली जाओ यहां से।"

"जा रही हूं। जा रही हूं। लेकिन इसके पहले यह—पांच हजार हैं। अभी तुम्हारे जमा करने का समय पार तो नहीं हुआ है न? आज ही चले जाने से..."

देबू और भी कठोर स्वर में बोला—"किसने दिए पैसे?"

"और किसके पैसे मैं दूंगी तुम्हें! रख लो, मेरे ही हैं। अगर मामा को पता चल गया तो..."

''तुम्हारे पैसे? यह विश्वास करने लायक बात है?''

''अविश्वास करने लायक इसमें कुछ नहीं है, देबू दा! तुमने कहा था न कि मेरी कीमत बाजार में कानी कौड़ी के बराबर भी नहीं है। फिर भी बेचने से पांचेक हजार मिल गए। इसीलिए तो मामा शायद...अब मैं समझी कि पंचू के ताऊ के पास बहुत पैसे हैं। तभी तो उस पक्ष के आदमियों की सेवा-खातिर में मामा इतने पैसे खर्च करते हैं।''

''पंचू का ताऊ! उसके साथ तुम्हारी! क्या बोल रही हो? और ये पैसे मुझे रखने के लिए कह रही हो? मेरे सामने से दूर भाग जा। अच्छा, मैं ही जा रहा हूं।'' देबू उठकर खड़ा हो गया।

शुभ्रा बोली—''बेशक जाओ। लेकिन बिना इसको लिये तुम्हें जाने नहीं दूंगी। तुम्हारे लिए वह स्वर्ग का टिकट खरीदने के लिए ही मैंने यह नरक का टिकट खरीदा, यह व्यर्थ जाने दूंगी क्या?''

''किसी ने किसी के लिए नरक का टिकट खरीदने को नहीं कहा था। जाने दो मुझे।''

''जाने दूंगी। लेकिन इसे बिना लिये नहीं।''

''यह बोलते हुए तुम्हें शर्म नहीं आती? आश्चर्य!''

''अगर शर्म ही आती तो क्या तुम्हारे सामने आकर इस तरह खड़ी हो सकती थी? देखती हूं कि बिना लिये तुम कैसे जाते हो। एक तुम्हारी चमेली के स्टोव में ही तेल नहीं था, समझे?''

किंतु शुभ्रा नामक लड़की ने क्या स्टोव को हाथ तक लगाया? ...

न। बिल्कुल नहीं। अंततः देबू ने जमाई बाबू के नाम के सामने से खटाखट बाहर निकल जाने से पहले रुपयों को बैग में रख लिया।

जाने से पहले उसने जिज्ञासा की—''किंतु अचानक तुम्हारे मामा को अपनी भांजी बेच देने की जरूरत ही क्या आन पड़ी थी? यही धंधा शुरू कर दिया है क्या?''

''अचानक क्यों, देबू दा? यह बात तो बहुत दिनों से चल रही थी। जब से पंचू का ताऊ लड़की ढूंढ़ना शुरू किया था। मैंने ही मामा को फांसा और मिट्टी तेल की धमकी दे-देकर इतने दिनों तक संभाल रखा था।''

देबू हताश स्वर में बोला—''तब फिर अब ऐसा क्यों किया?''

''वही तो। किसी बड़े आदमी की पत्नी बनने की साध थी। तभी...''

''शुभ्रा!''

''बोलो।''

''तुमने अपने जीवन की बाजी लगा दी? कुछ मतलब है इसका?''

''झटपट यहां से भागो, देबू दा। वो सब खिड़की खोलकर बैठे हुए हैं...लगता है, मामा इधर ही आ रहे हैं। ...''

इतना बोल वह मुड़कर तेजी से भीतर चली गई।

खरीदा है, कौन उसका हिसाब रखता है?

शुभ्रा के मामा ने भी तो स्वर्णयुग का टिकट खरीद लिया है। ...ईंट-भट्ठे का कारोबार बुलंदी पर है ...ठेकेदारी की जय-जयकार है। पंचायत-प्रधान के ससुर भी हो गए! सीधी सेवा, सीधा सुख।

वास्तुपुर लगभग वैसे ही चल रहा है।

वास्तुपुर की इस एक टुकड़ी कहानी के अलावा और कुछ नहीं है। इस प्रकार एक अड्डेबाजी के दल के चले जाने के बाद दूसरा आ जाता है।

शुभ्रा नामक मुखिया की पत्नी ने ठीक ही कहा था कि 'कहीं' से भी कुछ आता जाता नहीं।

विद्युत अपनी कुबड़ी बीवी के साथ एक शानदार गृहस्थी बसा चुका है। चमेली अपना अधजला शरीर लेकर खूब खाती है, सोती है और कहानियों की किताबें पढ़ती है। ताई की कुछेक सहायता भी कर देती है।

देबू?

अच्छी नौकरी, अच्छे क्वार्टर्स।

लगभग सुंदरी, एक विदुषी महिला के साथ प्रसन्न है।

वास्तुपुर नाम भी एक जगह थी, वह चेष्टा करके भी यह बात भुला नहीं पाता। याद भी क्यों रखेगा? दीदी और जीजा के घर में 'आश्रित' मूर्त्ति की तरह पड़े रहने की बात क्या प्रयासपूर्वक याद करनी पड़ेगी?

अच्छा, स्वप्ना? जो कि रात-दिन बोलती रहती थी कि मैं देख रही हूं कि मेरे लिए 'आत्महत्या ही एकमात्र रास्ता बच गया है।'

यद्यपि ससुराल जाते समय वह फूट-फूट कर रोई थी। एक अच्छे घर में उसकी शादी हुई और कलकत्ते में एक अच्छी जगह पर उसका घर भी है। आंखों के आंसू सूखने में देर नहीं लगी। क्या करती? जीवन-भर अगर उसके प्रेमी को नौकरी नहीं मिलती तो क्या उसके पिताजी अपनी बेटी के लिए दूसरा वर नहीं ढूंढ़ते?

संजय वास्तुपुर छोड़कर कहीं नहीं गया। उसे नौकरी मिल गई। वह भी महीने-महीने मंथली पास खरीदता है ओर सुबह-सुबह नौकरी पर निकल जाता है। ...क्या करेगा?

और अनुराधा मां को अकेली छोड़कर जाने के लिए राजी नहीं है। ...उसका रुटीन है—दिन के समय पिता के घर और रात के वक्त ससुर के घर में काम देखना।

दरअसल किसी को अपने जीवन की नियति का पता नहीं है कि वह किस तरह से और किसके हाथों नियंत्रित होता है। ...उन सबों में से भी कोई तो स्वर्ग के टिकट के लिए हाय-हाय मचाया हुआ है और कोई उसे प्राप्त कर आत्मतृप्ति के सागर में तैर रहा है।

सांकल लगा देने के बाद

"तुमने खबर सुनी?"

लाल्टू, उनके 'तरुणसंघ' नामक क्लब के कमरे में घुसकर फटी-चिटी बेंच पर बैठते हुए बोला—"सचिन मास्टर की बेटी भाग गई।"

रंजीत, अमिताभ, बादल और सागर एक साथ बोल पड़े—"भाग।"

"ठीक है! भाग जाता हूं।"

लाल्टू उठकर खड़ा हो गया।

उसका असली नाम है लाल मोहन, किंतु छोटी-छोटी बातों पर मान-अभिमान के कारण देखते-देखते उसके दोस्तों ने उसका नाम लाल्टू रख दिया था। इसके अलावा उसके दो-एक और नाम हैं—'न्यूजमास्टर', 'विशिष्ट संवाददाता', 'निजस्व संवाददाता' इत्यादि।

जितने भी गोपन, दुर्लभ अथवा सद्यः टटका समाचार होते हैं वह तुरंत सप्लाई करता है। पता नहीं, किस तरह वे सारी खबरें पहले उसी के पास आकर पहुंचती हैं। बाकी सब लोगों को लाल्टू से ही खबरें सुनने को मिलती हैं।

उन सबों ने लाल्टू को पीछे से शर्ट पकड़कर बिठाते हुए कहा—"रुको, तुम्हें गुस्से के अलावा और कोई काम नहीं है? लेकिन खबर बहुत पीड़ादाई और अविश्वसनीय है रे।"

लाल्टू फिर एक दार्शनिक हंसी हंसा।

"तुमसे किसने बताया?"

"मुझसे? मुझसे किसी को बताने की कोई जरूरत नहीं होती। हवा बोलती है। आसमान बोलता है। मेरा सेंस बोलता है।"

"वो तो देख ही रहे हैं। किंतु यह!"

"सोच भी नहीं पा रहे हैं रे। वही चंदना? अग्निशिखा? रास्ते में मिलने पर दो-एक बात करने पर ऐसी निगाह से देखती कि जैसे अभी भस्म कर डालेगी। वही लड़की भाग गई?"

"गई।"

"किसके साथ भागी, रे?"

"किसी अक्लमंद के साथ गई होगी।"

"किंतु अपने मुहल्ले में कौन ऐसा था? अगर होता तो वह भी तो गायब होता?"

सभी लगभग समवेत स्वर में एक ही प्रश्न पर निगाह गड़ाकर बैठ गए।

लाल्टू बोला—"मुहल्ले का, वो लड़की अपने मुहल्ले के लड़कों को घास

डालेगी?"

"ओ। इसका मतलब कि बाहर का कोई मस्तान था।"

अमिताभ अलंकारपूर्ण ढंग से बोलकर ठीक से बैठ गया। स्वर में थोड़ी गंभीरता लाते हुए बोला—"आहा! बेचारे सचिन मास्टर। ऐसे सच्चे, सत्यनिष्ठ आदर्शवादी मनुष्य। उनकी शिक्षा से उनकी बेटी शिक्षित हुई कि नहीं..."

"अरे लड़की की बात छोड़ो भी। तुम सब साले पंतगे की जात। जहां आग की लौ दिखाई दी, लपक पड़े। सुध-बुध सब खो बैठे।"

"जो भी कहो। कर भी क्या सकते थे? मां के मरने के बाद वही चंदना ही तो खाना-पीना बनाकर खिलाती थी।"

"सचमुच। सचिन मास्टर के बारे में सोचकर बहुत दुःख हो रहा है। लाल्टू, तुमने ठीक से तो सुना है न? मतलब, कोई भूल-भाल तो नहीं कर रहे हो?"

"लाल्टू जब तक खबर को ठीक से जान नहीं लेता तब तक कभी वह उसे फैलाता नहीं।"

"ओह, इस ढंग से चलती थी कि जैसे दुनिया में उसे कोई दिखाई ही नहीं देता था।"

"लेकिन मास्टर साहब की बहुत सेवा करती थी।"

"और क्या करती, नहीं करती तो, उसे हम जानते ही कितना हैं?"

"आश्चर्य! वही चंदना।"

"अच्छा! बाहर के लड़के को पाई कहां से? एक दिन भी तो कभी किसी बाहरी आदमी के साथ देखी नहीं गई।"

"जैसे लगता है हम लोग रात-दिन सचिन मास्टर के घर के सामने ही पहरा देते हैं?"

"अरे बाबा! इस सब मामले में कब किसे कहां से कौन मिल जाता है, भगवान भी नहीं जान पाते।"

"इस्स। हमारे मुहल्ले की सबसे सुंदर लड़की को एक बाहरी लड़का आकर लूट ले गया?"

प्रसंग खतम होनेवाला नहीं था।

आक्षेप, हताशा, विस्मय एवं सचिन मास्टर के प्रति करुणा भाव डालकर ये सब प्रसंग को जिंदा रखना चाहते थे। जैसे जलती हुई आग को बीच-बीच में लकड़ी डालकर जिंदा रखा जाता है।

"कब उड़ी, रे?"

"दो-तीन दिन हो गए।"

बहुत देर बाद मीटिंग में यह प्रस्ताव पास किया गया कि क्लब के सभी लोगों का एक बार सचिन मास्टर के घर जाकर उनकी विपत्ति में सहानुभूति प्रकट करना

उचित रहेगा। शोक में सांत्वना व्यक्त करनी चाहिए।

यह भी एक तरह से शोक ही तो है। इकलौती संतान हाथ छुड़ाकर निकल गई! हाथ छुड़ाकर, आंखों से दूर, घर छोड़कर।

स्कूल में ये सभी सचिन मास्टर के पास पढ़े थे।

इसलिए यह इन सबों का मानविक कर्त्तव्य बनता था। मतलब गुरु की इस गुरुतर वेदना को लाघव करने का कार्य।

"किंतु पहले जाकर कहना क्या होगा?"

"यही तो समस्या है।"

"मास्टर साहब के घर में दूसरा कोई और तो है भी नहीं, जिससे उनकी हालत का पता किया जा सकता है।"

"ऐ बच्चन, तुम तो बहुत साहसी हो, बोलो न बात कैसे बनेगी?"

"और किस तरह? जाकर बैठेंगे और थोड़ी देर बाद पूछेंगे कि मास्टरजी, आपकी बेटी नहीं दिखाई दे रही?"

"रबिश। कभी का आना-जाना रहा नहीं, और जाते ही बेटी को खोजना शुरू कर देंगे। हठात..."

"अच्छा...कमर यदि...ये..."

लाल्टू **विजयी** स्वर में बोला--"इतने पैंतरे बदलने की जरूरत क्या है? चलो, मैं तुम लोगों को गाइड करते हुए ले चलता हूं। जाते ही बोल पड़ेंगे— मास्टरजी, अचानक एक बहुत बुरी खबर सुनने को मिली है। इसीलिए..."

"ठीक है। तुम्हारा धंधा है, तुम्हीं अच्छी तरह जानते हो। फिर अगर पूछ बैठें कि कहां से सुने, तो? तो, क्या बोल सकोगे कि हवा से, आकाश से।"

हां, दूसरे दिन मानविकता-बोध से ओत-प्रोत, भरी दोपहर में पांच-छः नौजवान लड़कों ने सचिन मास्टर के घर पहुंचकर दस्तक दी।

घर सुनसान था।

इस समय गर्मी की छुट्टियां चल रही थीं।

"भगवान पर भरोसा करनेवाले सचिन मास्टर मन-ही-मन सोच रहे होंगे कि यह भगवान की ही दया है जो छुट्टियां चल रही हैं।"

शायद सवेरे से ही बिछौना गोल करके चौकी के काठ पर ही पड़े-पड़े इस भरी दोपहरी में सचिन मास्टर भगवान की दया की ही चिंता कर रहे थे।

एक मंजिला घर। बाहर से खिड़कियां वगैरह सभी बंद। फिर भी गांव की तरह के बने हुए पुराने ढंग के दरवाजे की फांक से देखने से कमरा बहुत आलोकित लग रहा था और तप रहा था। शायद इस समय तपती दोपहर थी, इसलिए।

शरीर भी क्रमशः तप रहा था।

सवेरे तो स्नान किए थे। फिर?

जैसे लगता है कि स्नान के बाद और कोई काम ही नहीं बचा है? सोचे कि चाय बनाई जाए। पिछली बार तो बनाई थी। आज पता नहीं क्या हुआ कि उठने की एकदम इच्छा ही नहीं हो रही है। अपने लिए कुछ भी करने की इच्छा नहीं हो रही है।

फिर भी धीरे से उठे।

पता नहीं पेट में, या कि छाती में, या पूरे बदन में, एक ऐंठन-सी महसूस हो रही है।

वे चौकी से उतरकर दालान में बाहर निकल आए। ठीक बगलवाले कमरे के दरवाजे की सांकल लगी हुई थी।

पता नहीं कब किसने लगा दी थी?

सचिन मास्टर को नहीं पता है। उन्होंने खोलकर भी नहीं देखा। भीतर कैसा दृश्य है, उन्होंने सोचने की भी चेष्टा नहीं की।

उसी कमरे से सटा हुआ एक और कमरा है। पुराने समय से भंडार घर। मास्टर की पत्नी के मरने के पश्चात उसमें भंडार और रसोई दोनों का काम होता है। आंगन पार करके कौन जाए और रसोई में नीचे बैठकर चूल्हा जलाए?

चंदना नामक एक उज्जवल दीप्ति इसी कमरे में दो ठो मिट्टी तेल के स्टोव जलाकर तुरंत-फुरंत कुछ भी बना देती है।

सचिन मास्टर ने कल एक बार स्टोव जलाया था। चाय बनाई थी। वे सब बर्तन अभी जमीन पर ही पड़े थे।

ऊपर रखे सामानों की तरफ सचिन मास्टर ने निगाह दौड़ाई, दो-एक डिब्बों को खोलकर देखा भी। दाल, चीनी, सूजी। ओह, एक में थोड़ा-सा चिउड़ा।

इधर-उधर देखकर, थोड़ा-सा कंधा उचकाए , उन्होंने एक थाली उतारी और डिब्बा खोलकर थोड़ा-सा चिउड़ा लेकर बाहर आ गए। दालान का, आंगन की तरफ खुलनेवाला, पिछला दरवाजा, खोलकर वे बाहर आए। यहीं नल लगा हुआ है। थोड़ी-सी जमीन छोड़कर बाड़ लगाकर घेरा हुआ है। बाड़ के तार पर हमेशा एक तौलिया लटकता रहता है। सचिन मास्टर कभी भी गमछा छोड़कर तौलिया प्रयोग नहीं करते।

सचिन मास्टर को कोई शौक नहीं है। फिर भी कुछ-कुछ शौक की सामग्री इस घर में आ जाती है। जैसे यही आ गई है।

हालांकि वही शौकीन प्राणी खाना बनाता है, बर्तन मांजता है, कपड़े धोता है, पानी ले आता है, घर में पोंछा लगाता है, आंगन में झाड़ू लगाता है, जरूरत पड़ने पर आंगन में बैठकर कोयला भी तोड़ता है।

किसी तरह की मजबूरी में नहीं, बल्कि सहजता से करता है।

जिस तरह कि सहजतापूर्वक उसी काम के बोझ को उतार फेंककर...

सहजता से क्या?

चिउड़ा की थाली एक हाथ में लिये हुए दूसरे हाथ से उन्होंने नल का हैंडिल दबाया। थोड़ा-सा पानी बाहर निकला। चिउड़ा में थोड़ा-सा पानी डाला। ठीक तभी आंगन की तरफ लगी बाड़ का बांस ठेलकर पांच-छः युवक भीतर घुसे।

"यह क्या, सर! चिउड़ा धो रहे हैं?"

"हां, यह पेट तो नहीं मानता न! लेकिन...तुम लोग अचानक इस समय?"

लाल्टू सबको ठेलते हुए आगे बढ़कर बोला—"सर, एक बुरी खबर सुनी, तो चले आए! सुना कि आपकी बेटी खो गई है!"

सिर के ऊपर प्रचंड सूर्य। चारों तरफ झन्न-झन्न, खां-खां। आंखों के सामने अंधेरा छा जाने-जैसी स्थिति, किंतु सचिन मास्टर ऐसी परिस्थिति से बहुत परिचित हैं। हठात हा-हा करके हंसते हुए बोले—"खो गई है! मेरी बेटी! मतलब चंदना! हा-हा, खोजने के लिए निकला कौन था? तुम लोग तो नहीं?"

बच्चन ने लाल्टू को पीछे से एक जोर की चिकोटी काटी।

बाकी सब दो-चार कदम पीछे खिसक गए।

लाल्टू इधर-उधर झांकते हुए बोला—"नहीं, माने, एक आदमी ने बताया था कि..."

"एक आदमी ने बताया! अच्छा-अच्छा, तुम लोग भी नहीं...देखो बाबू , तुम लोगों को मुझसे बहुत ही लगाव है। इसी लगाव के कारण तुम लोग यहां आए हो और इसीलिए मैंने तुम्हें कुछ कहा नहीं। अगर कोई और होता तो इस तरह की बात बोलने पर मैं उसे पुलिस को दे देता। समझे? अरे बाबा, वह अपने मामा के बेटे की शादी में निमंत्रण पर कलकत्ते गई है। उसकी किशनगढ़ की मौसी आकर साथ ले गई है। और तुम लोगों ने हुलिया निकाल दिया—छिः छिः!"

"माफ कर दीजिएगा, सर। अचानक इस तरह की खबर सुनकर..."

जल्दी-जल्दी सभी एक साथ सर के पांव की धूल लेकर उसी बाड़ के रास्ते से बाहर निकल गए।

रास्ते में ही सभी मिलकर लाल्टू को मारने के लिए पिल पड़े। "मवाली, मस्तान, फक्कड़! बिना अच्छी तरह जाने तुम कुछ भी बोल देते हो, न? हमें एक पूरी झूठी खबर सुनाकर हूल दे आए? सचिन मास्टर ठीक ही कह रहे थे, कोई और रहा होता तो पुलिस के हाथों वो धुलाई होती कि! आदमी शरीफ था इसलिए सही सलामत वापस लौट आए।"

लाल्टू मिनमिनाते हुए बोला—"मांगरी ने कहा था, विश्वास करो, वह इन लोगों के पास बहुत..."

"इसका मतलब कि उस पर विश्वास कर लें, तो क्या सर झूठ बोल रहे थे? क्या सूरज पूरब की बजाय पश्चिम में उगने लगा है। सुनकर...लाल्टू सचाई क्या है, एक बार देख तो लेना चाहिए न! यह लड़का नदी के इस पार बीज बोता है तो उस

पार पेड़ उगाता है।"

उन सबों के चले जाने के बाद भी सचिन मास्टर तपती धूप में कुछ देर वैसे ही खड़े रहे। इसके बाद सोचा कि मैं ही यहां क्यों हूं? ...याद आया। हौज के किनारे रखी थाली की तरफ देखा। देख नहीं सके। उस जगह कौओं का एक झुंड आकर थाली को घेरकर महोत्सव मना रहा था।

दे ही तो दिया है।

मास्टर मन-ही-मन चीत्कार कर उठे—'छोड़ेंगे नहीं? किसी के सामने भोजन रखा हो तो क्या वह छोड़ देगा?'

बहुत बढ़िया, ठीक कर रहे हैं।

कौओं की हिम्मत कितनी है! कोई डर-भय नहीं। यह बिल्कुल खयाल नहीं है कि भोजन का मालिक सामने खड़ा है। कैसे खयाल करेंगे? मालिक तो, पत्थर उठाकर मारने की तो बात दूर, हिल-डुल भी नहीं पा रहा है। तो लगे रहो। इच्छा-भर खाओ।

वे लौट आए।

दालान का जो दरवाजा खुला छूट गया था उस पर उन्होंने ध्यान नहीं दिया। या शायद ध्यान नहीं देना चाहा। बंद रखने पर भी तो गाय-बैल, कुत्ते-बिल्ली घुस ही आते हैं।

स्टूल पर रखी सुराही से एक गिलास में पानी ढालने लगे। एक गिलास से ज्यादा नहीं। पानी खत्म हो जाएगा तो भरेगा कौन? इसीलिए गला तर करके फिर चौकी पर आकर बैठ गए।

और चिरपरिचित इस कमरे के चारों तरफ निस्तब्ध आंखों से देखने लगे। ...इस पुराने जमाने के घर को चंदना ने इस ढंग से सजाया था कि यह कपूर की तरह ऊपर तैरने लगा था।

जहां-जहां दीवारों का पलस्तर झड़ चुका है वहां-वहां चंदना कुछ-न-कुछ लटकाए रखती। किसी पुराने कैलेंडर से निपुणतापूर्वक चित्र काटकर लगा देती अथवा स्वयं ही किसी कार्पेट पर कोई चित्र बनाकर टांग देती।

निगाह एक जगह जाकर ठहर गई। वह रोज पिता के साथ लड़ती रहती, घर की मरम्मत को लेकर—"देखो न बाबू! यह दीवार जैसे हमारी तरफ देखकर, व्यंग्य से दांत निकालकर हंस रही है।"

अभी भी वह एक मुखौटे से ढकी हुई थी। मिट्टी से बनी एक सुंदर लड़की का मुखौटा।

मोटे धान के पुआल से बने एक सिर को बड़े शौक से दीवार पर लटकाते हुए एक दिन बोली थी—"देखो न, कितना सुंदर है न, बाबू! कितनी छोटी-सी चीज है, लेकिन कितनी सुंदर लग रही है!"

सुंदरता से उसे बेहद लगाव था।

सचिन मास्टर अवाक् होकर सोचने लगे—'हालांकि वह अपने बाबू का चेहरा अचानक कितना असुंदर करके चली गई। अब सारी दुनिया उनकी तरफ दांव निकाल कर व्यंग्यात्मक हंसी हंसेगी।'

और अब इस अभागे को बेशर्मी से दांत बाहर निकालती हुई जगह को ढकने के लिए धान के पुआल का सिर झुलाना पड़ेगा, कैलेंडर से कटा कोई चित्र झुलाना पड़ेगा और मिट्टी का मुखौटा चिपकाना पड़ेगा।

उठे। फिर एक बार पानी पीया। नहीं। गिलास के पेंदे में बचे हुए पानी को ही खत्म किया। इसके बाद फिर बैठ गए। इस बार फिर सोचा कि ऐसे ही जीवन भर बैठे-बैठे चुपचाप सोच-सोचकर कोई आदमी कब तक झूठ बोलता रहेगा। बोलने से क्या उसे कोई यंत्रणा नहीं मिलेगी। क्यों करेगा ऐसा?

तो अब!

यही काम किया है मैंने! गढ़ी-गढ़ाई झूठी बात को एक परिष्कृत भाषा में बोल गया हूं। बिद्ध नहीं हुआ, चोट नहीं खाई। बल्कि हां-हां। बल्कि ज्यादा ही आत्मग्लानि हुई, ज्यादा आहत हुआ हूं। इसका मतलब कि क्या उन तक सच बात पहुंचेगी ही नहीं! और दुनिया में कुछ भी अविश्वसनीय नहीं है। दो दिन पहले भी क्या सचिन मास्टर इतना बड़ा झूठ बोल सकते थे। बोलकर शांति अनुभव कर सकते थे। खुद को बहादुर समझ सकते थे।

आहा! भगवान की भी कैसी करुणा है! कैसे सही-सही मुंह से निकल पड़ा कि—'मैं ही रहकर क्या करूंगा!'

बस, भविष्य निश्चित हो गया।

अब घर के शेष सारे दरवाजों की सांकल लगा दूंगा, ताकि सचिन मास्टर नामक आदमी को दुबारा खोजने की झंझट न रहे!

आह, कैसी युक्ति है! कैसी युक्ति!

सांकल लगा देने के बाद फिर आकर खोलना नहीं पड़ेगा, क्या ऐसा सोच-भर लेने से ही मुक्ति का स्वाद मिलेगा? इसका मतलब कि मुझसे पहले ही बेटी ने यह बात समझ ली थी।

उसके ऊपर उन्हें बहुत ममता आई।

बेआबरू

"मर गए? ननी ठाकुर दा? आयं।"

विभूति जैसे चौंक उठा। हालांकि निश्चित रूप से इसमें चौंकानेवाली कोई बात थी नहीं।

द्विजपद दांत बाहर निकालते हुए बोला—"लगता है, तुम्हें बहुत ताज्जुब हो रहा है, विभूति? जैसे लगता है कि कोई आदमी बहुत अकाल मृत्यु को प्राप्त हुआ है! आहा चचच।"

विभूति ने स्वयं को संभाल लिया। बोला—"अरे सुनो तो! मैं अचानक सुनकर चौंक पड़ा था। ननी ठाकुर अगर जिंदा रहते तो क्या मेरे सिर पर रहते? जैसे सूरज, चांद, हवा हैं, रहेंगे, वैसे ही ठाकुर दा थे, रहेंगे।"

"आ हा हा। क्या बात कही है! हा हा हा! कितनी उमरहो गई थी तुम्हारे ठाकुर दा की?"

"मेरे ही क्यों?" विभूति विरक्त हो उठा—"पूरे मुहल्ले को ठाकुर दा थे, जैसे मेरे, वैसे तुम्हारे।"

"तुम्हें कुछ ज्यादा ही प्यार करते थे, इसलिए।"

"गांव में वे बहुत रहते ही कहां थे।"

"वे तो प्राय: ही नहीं रहते थे। सभी तो उन्हें 'दुर्वासा' कहते थे। कितने साल के हो गए थे, तुम्हें तो पता होगा? वे सब तो कहते हैं कि सौ साल के।"

"अरे नहीं-नहीं! भूती बुआ को पक्का पता है, बानवे के ही।"

"आ हा! मात्र बानवे ही? तब तो कहा ही जा सकता है कि अकाल मृत्यु हुई है!"

द्विजपद अपने दांत बाहर निकालते हुए बोला—"लेकिन तुम्हारा चेहरा देखने से तो ऐसा लग रहा है कि, विभूति को बहुत दु:ख हुआ है। लो चलो। गमछा लेना भूल गए थे न? तभी तो मैं कह रहा हूं कि तुम्हें बहुत दु:ख हुआ है। हा हा हा।"

"रुको! ऐसे सबके सामने बक-बक मत करो।"

बोलते हुए विभूति गमछा लेकर घर से बाहर निकल आया।

"कब गुजरे?"

"भगवान जानें, आधी रात को या सुबह। शाम को तो देबू ने स्टेशन से लौटकर देखा था कि बूढ़ा चबूतरे पर बैठा है। ...कविराज ने नाड़ी देखकर बताया कि बहुत पहले ही 'फिनिश' हो चुके हैं। इसका मतलब कि शनिवार की रात को ही मरे हैं क्या?"

"आह! जैसे तुम लोग सब कुछ भूल चुके हो। शनिवार को मरने में बुराई क्या है?"

"कुछ नहीं। भूत बनेंगे और क्या?"

द्विजपद अभी दांत निकाले ही हुए था—"आखिर बूढ़ा मर ही गया। अगर आज रविवार नहीं होता तो शायद तुम लोगों के कंधे पर चढ़ भी नहीं पाता। देबू , सत्य, शिशिर, अवनी, तुम—इस हफ्ते सभी आ गए हो। ...चलो यहीं से शोभायात्रा निकालते हुए चलें।"

इतना बोलते ही असभ्य द्विजपद विकट स्वर में चिल्ला पड़ा—"बोल हरि, हरि बोल"। ...ननी प्रधान की मौत इन सबों के लिए हंसी की सामग्री बनी हुई है।

हालांकि वह ननी प्रधान गांव के मुकुट थे।

सभी उनका आदर-सम्मान करते थे।

बड़े ठाकुर थे। दिल्ली, कानपुर, लखनऊ में रह चुके थे। रिटायर होने के बाद कलकत्ते में किराए का घर लेकर नहीं रहे, बल्कि बच्चों को हास्टल में डालकर, स्वयं गांव में आकर रहने लगे थे। इससे लोगों का भला ही हुआ।

गांव की उन्नति के लिए ननी प्रधान ने बहुत काम किया, खुद भी खटे, लोगों को भी खटाया, एक लाइब्रेरी बनवाई, बहुत सारी जमीन लिखा-पढ़ी करवाकर प्राइमरी स्कूल को हाई स्कूल बनवाया, मुहल्ले के बदमाश लड़कों को तमीज सिखाई।

"लेकिन कब किया यह सब?"

"लाइब्रेरी की रजत-जयंती हो गई तो सोच लो कितना पहले?"

"स्कूल की, उसके प्राइमरी के दिन से, स्वर्ण-जयंती भी हो गई। इसीलिए तो कहता हूं कि आजकल के लौंडे ननी प्रधान का योगदान याद रखेंगे? यह सब उस समय की बात है जबकि विभूति के बाप जवान थे। ...ननी प्रधान के साथ वे दाबा खेलते थे।"

"तब से अब तक कितना कुछ बदल गया!"

"उस समय कितना बोलबाला था उनका! पत्नी थी। विधवा बहन थी, कलकत्ते में बच्चों के रहते हुए भी हर हफ्ते गांव आते थे। गोभी, मटर, फल, तरकारी से घर भरा रहता था। उदार मन से पत्नी और बहन से छिपाकर मुहल्ले के लोगों को कितनी सारी चीजें दे जाते थे।"

"ननी प्रधान के रसोईघर में बाजार की मछली से लेकर गांव की मछली तक बनती थी।"

यह सब विभूति की सुनी हुई बातें हैं। जब विभूति ने होश संभाला तब ननी ठाकुर दा का सूरज पश्चिम की तरफ था। तब...

पत्नी मरीं, बहन भी मरीं, बच्चे सब उन्हें कलकत्ते ले जाने के लिए कितनी बार आए , किंतु हार मानकर खुद ही आना-जाना बंद कर दिया। ननी ठाकुर दा बोले

थे—"इस उम्र में अब क्या उन सबों के घोंसले में जाकर घुसूंगा? इतना बड़ा घोंसला भी तो नहीं है, तीनों अलग-अलग रहते हैं। राम बोलो।"

तब ननी प्रधान की तरह किसी की महिमा नहीं थी। कई मर-जीकर हज करने चले गए। कई शहर में अपने बाल-बच्चों के पास चले गए। जो हैं भी वे अपने ही धंधे में फंसे हुए हैं। गांव की जिंदगी में भी तो बहुत अस्थिरता आ गई है। जिन्हें पता है इनकी महिमा वे दो पैसे फेंककर चले जाते हैं। जिन्हें नहीं पता है वो इतिहास जानने के लिए खड़े हो जाते हैं। ...कौन किसका ध्यान रखता है! ननी प्रधान को खुद ही अपनी रसोई संभालनी पड़ी। बड़ी-सी रसोई में जनता स्टोव पर नियम से पतीली चढ़ाकर खाना बनाते, लगभग वे एक-पाक हो गए थे, यह सब देखकर भी कोई जिम्मेदारी लेने को तैयार नहीं था। देखकर भी शर्म नहीं आई।

जो आदमी अपनी ही मूर्खता से अपनी विपत्ति को बुलावा देता है, दूसरा कोई क्यों उसे अपने सिर पर लेगा? बेटों ने आदर से बुलाया, तब भी नहीं जाएंगे, अपने ही हाथ से बनाएंगे, खाएंगे, तो फिर मान-सम्मान की चिंता कैसी!

अस्सी साल के उपरांत भी ननी प्रधान अपने हाथों अपना सारा काम कर लेते थे। साफ-सुथरी धोती और बंडी पहनकर शाम तक एक बार लाइब्रेरी अवश्य जाते थे, शाम को भोला की दुकान पर बैठकर कचौड़ी, जलेबी, सिंगाड़ा, पंतुआ आदि खाकर रात का भोजन समाप्त करते। दुनिया को चुनौती देते हुए शान से जिंदा थे।

तब विभूति सुबहवाले कालेज में जाने लगा था।

सही बात है, विभूति का ननी ठाकुर के प्रति कुछ ज्यादा ही लगाव था। श्रद्धापूर्ण लगाव।

वे कहते—"धत् , साले। बेटों के पास जाकर पका-पकाया भात खा लेने से क्या स्वर्ग चला जाऊंगा? आजादी भी कुछ होती है कि नहीं? बेटे-बहुओं के पास चले जाने से मेरी आजादी छिन जाएगी।" ...तब विभूति उन्हें सबसे प्यारा लगता था। ...फिर देखता कि ननी ठाकुर हैडपाईप पर बैठकर खुद ही अपने कपड़े धो-धोकर आंगन की रस्सी पर सूखने के लिए डालकर बैठे-बैठे हांफ रहे हैं, तो उसे बहुत दया आती। देखते ही हैडपाईप का हैंडिल पकड़कर चला देता।...

ननी प्रधान बोलते—"तुम यह जो सहायता करते हो, तुम्हारे भीतर एक श्रद्धा है। ...बाकी सब तो साले? मेरे सामने ही कहते हैं, कि ठाकुर दा पागल है। ...बदमाश सब लाइब्रेरी जाते समय रास्ते में मुझे छेड़ते हैं, समझे? गिरिबाला विद्यालय—जो कि ननी प्रधान की मां के नाम पर बना है—उसे ये सब अभागे भूल गए हैं। जाओ भी, जगतपुर के खेत-खलिहान, घाट, पानी, हवा रोशनी तो कोई नहीं खरीद लेगा।"

नहीं, वह तो कोई नहीं खरीद सका।

ननी प्रधान जीवनपर्यंत इस खेत, घाट, हवा, वातास का उपभोग करते रहे।

प्रतिदिन प्रायः टहलने निकल जाते। निकलते समय, साफ-सुथरी धुली धोती,

और बंडी पहनते और हाथ में बेंत की छड़ी ले लेते। आखिरी पल में अवश्य उनसे हिला नहीं जा रहा था, लेकिन छड़ी पर भार देते हुए निकलते। फिर भी उनकी भंगिमा सीधी और सतेज थी।

लोग कहते—"बूढ़े का और कुछ खर्च तो है नहीं सिवाय धोबी के खर्च के।"

बात गलत नहीं थी—हमेशा अपनी पेंशन का बहुत कम हिस्सा ही खर्च करते थे। खाने का खर्च तो लगभग शून्य पर ही पहुंच चुका था। उम्र के साथ-साथ खुराक भी कम होती जाती है, यह तो स्वाभाविक है, किंतु मछली के बदले आलू और दूध के बदले पानी लेते थे, यह तो विवेचना का विषय है।

एक दिन घूमते हुए विभूति ने आकर देखा तो चकित रह गया। ..."यह क्या, ठाकुर दा, आपने पानी में चूड़ा भिगोया है?"

ठाकुद दा अपनी पुरानी आदत के अनुसार हा हा कर हंसते हुए बोले—"पानी में ही तो भिगोया जाता है, रे भाई, ढाई रुपए देकर रजनी ग्वाले के ड्रम का पानी खाने से तो अच्छा है कि अपने ही हैंडपाइप के पानी में भिगोकर खाओ।"

भूती बुआ ने प्रस्ताव रखा था—"और कितने दिनों तक ऐसे ही अपने हाथों बनाकर खाओगे, जेठ जी? दोपहर को मैं अपने घर से भात-तरकारी भिजवा दिया करुंगी..."

ननी ने प्रस्ताव खारिज कर दिया था।

"पागल हो गई हो क्या? मरन काले ज्वर छेद? अंतिम समय में दान का भात? और कितने दिन हाथ ही चलाना है? पूरी लाश ही तो ढो रहा हूं, अब समय नजदीक आ गया है।

भूती के घर जाकर लड़कों ने कहा—"पता है। बूढ़ा टूट जाएगा, लेकिन झुकेगा नहीं।"

फिर भी एक दिन झुके।

विभूति उसका साक्षी है।

एक दिन विभूति को बुलाकर उन्होंने कहा था—"मेरा एक काम कर सकते हो, भाई? मुहल्ले के किसी साले से कहने की इच्छा नहीं होती। तुमसे ही कह रहा हूं।"

सुनकर विभूति कृतार्थ ही हुआ था। ...किंतु...

असभ्य द्विजपद फिर बोल पड़ा—"बोल हरि, हरि बोल"।

"ओह द्विज! यह क्या कर रहे हो? अभी खाट कंधे पर उठा नहीं कि तुमने 'हरि बोल' बोलना शुरू कर दिया!"

द्विजपद हा हा करके हंस पड़ा—"तुम्हें बुरा लग रहा है न? शोक से तुम दुखी होकर चुप साध गए हो। वो तो मैं समझ ही रहा हूं। ...चलो जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाओ। शायद अब तक बूढ़े के घर में भीड़ भी जमा हो गई होगी।"

विभूति के घर से ननी प्रधान का घर बहुत दूर है, पैर बढ़ाना ही पड़ेगा। देखें

तो...

विसू आ रहा था, उन्हें रोकते हुए बोला—"आ रहा हूं। इतनी हड़बड़ी दिखाने की कोई जरूरत नहीं है, जब तक उनके बेटे नहीं आते तब तक तो कुछ हो भी नहीं सकता।"

"अरे, ऐसा है क्या? मैं समझता हूं कि सूरज चढ़ने से पहले ही बूढ़े को चिता पर चढ़ा देना ठीक रहेगा। ...खबर देने कौन गया है?"

"जुगल गया है। छ: बजेवाली बस से ही।"

द्विजपद बोला—"तुम लोग तब तक शोक मनाओ। मैं तो...।" द्विजपद चला गया।

विभूति बच गया। इस समय उसे वह दुष्ट आदमी असह्य लग रहा था।

आश्चर्य है, कुछ ही दिनों पहले विभूति ने बहुत झंझट के बाद गद्दा बनने को दिया था।

हां। यह ननी ठाकुर दा का ही अनुरोध था कि उनके कमरे में पड़े बड़े-से एक जोड़ा पलंग के लिए गद्दे बनवाने हैं।

सुनकर तो पहले विभूति को आश्चर्य हुआ।

"गद्दे? आपको उस बड़े पलंग के लिए गद्दे?"

ठाकुर दा ने विभूति के आश्चर्य की तरफ ध्यान नहीं दिया। सामान्य ढंग से बोले—"हां, रे भाई, एकदम से फटकर चिथड़े हो गए हैं। बेहूदे लक्ष्मी के वाहन उसमें से नोच-नोचकर ले जाकर अपना घर बनाते हैं। उन गद्दों की उमर भी तो कम नहीं हुई? उसी पलंग पर तुम्हारी ठाकुर मां के साथ मेरी 'फूल-शैय्या' सजाई गई थी।"

सुनकर विभूति हंस पड़ा—"ठाकुर दा, नए गद्दे पर तो अब फिर से एक बार नए ढंग से फूल-शैय्या सजाने का समय आ गया है, और इस समय आप पलंग सजाने की बात सोच रहे हैं। ...क्यों झूठमूठ डोम के उपभोग के लिए इतना पैसा नष्ट करना चाहते हैं?"

अचानक ठाकुर दा गंभीर हो गए—"डोम बेटे के सामने भी तो मान-सम्मान बचाए रखने की जरूरत है। जब वह बिछौना उठाने आएगा तो नाक सिकोड़कर कहेगा कि..."

बूढ़े का 'ऊपर से ठाट-बाट, नीचे रमरेखा घाट' ही था। भिखारियों की तरह गुदड़ी पर मरा। ..."इतने समय से इज्जत बचाए चला आ रहा हूं, मरने के वक्त क्या बेआबरू होऊंगा? और बेटे भी देखकर सोचेंगे कि बाप ने सारा पैसा खा-पीकर उड़ा दिया, सजावट के लिए कुछ नहीं किया। हुंह। बाजार चले जाओ। गांव से थोड़ा सस्ता मिल जाएगा।"

इतना कहकर वे कैश बाक्स बाहर ले आए और खोलकर एक मुट्ठी गंदे, साफ, छोटे-बड़े, मसले हुए नोट बाहर निकाले। दो रुपए, एक रुपए करके इकट्ठे किए गए थे।

देखने से ही लगता था कि एक-एक पैसा जोड़कर इकट्ठा किया गया है।

देखकर ही विभूति की आंखों के सामने वह दृश्य घूम गया।...

''रजनी ग्वाले के ड्रम के पानी में भिगोकर खाने से तो अच्छा है कि अपने ही नल के पानी में भिगोकर खाया जाए।''

विचलित होकर विभूति जल्दी में बोल पड़ा—''पैसे के लिए क्यों इतने परेशान हैं, ठाकुद दा? बाद में दे दीजिएगा। ...स्टेशन के पास ही एक बेडिंग स्टोर खुला है। जाकर 'आर्डर' दे आऊंगा। अगले हफ्ते आकर...उसे रखिए।''

ननी ठाकुर ने बात न सुनी, जबरदस्ती अपना वह 'एक मुट्ठी कृपणता का इतिहास' विभूति के हाथों में सौंपकर बोले—''नहीं-नहीं, वो सब उधार-सुधार के काम की जरूरत नहीं है। ...उधार शब्द ननी ठाकुर के कोश में नहीं है। और देखो, जब तक पैसा हाथ में नहीं पहुंचता, काम में तेजी नहीं आती। मैंने बहुत दुनिया देखी है।''

दुनिया देख चुके थे ननी ठाकुर, फिर भी अभी कुछ देखने को बच गया था। वह दिखाने का भार लिया था उनके प्रियपात्र, विभूति नामक लड़के ने।

लेकिन सोचने से क्या होता है? विभूति ने क्या सोचा था कि दो हफ्ते तक वह कलकत्ते से नहीं आ पाएगा, और वह जटिल निरुपाय अवस्था में पड़े ठाकुर दा के वे रुपए...

द्विजपद ने फिर पीछे से आकर हांक लगाई—''ऐ विभूति, आ-आ, चलो। वो लोग बोल रहे हैं कि जब तक उनके बेटे आते हैं, बूढ़े को पलंग से उतारकर तुलसी के पास सुला दिया जाए।''

इसका मतलब कि विभूति को इसी समय वे गद्दे ले आने के लिए जाना चाहिए! निरावरण! बे-आबरू! ...किंतु विभूति उन गद्दों के साथ खुद को कैसे लपेटेगा!

पराजित हृदय

चिट्ठी सोमेश्वर को आफिस की टेबल पर मिली थी। अन्य कागज-पत्रों के साथ दिवाकर रख गया था।

आफिस के पते पर इनलैंड लेटर? किसने भेजा है? हल्के नीले रंग की चिट्ठी को हाथ में लेते ही जैसे सोमेश्वर को सर्पदंश-सा लग गया हो।

यह क्या? पता किसके हाथ का लिखा है?

इस अत्यंत परिचित लिखावट ने ही जैसे सर्पदंश बनकर सोमेश्वर सेन को अवश कर दिया हो।

कमरे में और कोई नहीं है, फिर भी क्या पता कोई देख ले, इसी डर के मारे वे चिट्ठी को मुट्ठी में दबाए कुछ देर तक बैठे रहे। हाथ के पसीने से चिट्ठी का मुलायम कागज भीगता जा रहा था। ...धीरे से खोली, पहली पंक्ति पर दृष्टि डाली, फिर दूसरी बार एक और सर्पदंश लगा।

इस पंक्ति का मतलब क्या है? एकदम से पहली ही पंक्ति?

पूज्य बाबू! मां को चिट्ठी लिखी थी। कोई जवाब नहीं आया। विश्वास तो नहीं हो रहा, फिर भी यह उम्मीद कर रही हूं कि चिट्ठी कहीं बीच में ही खो गई होगी। फिर स्वार्थी की तरह तुम्हें यह चिट्ठी लिख रही हूं। अगर यह भी कहीं खो गई तो मैं अपने 'अभिशप्त जीवन' के ऊपर एक लकीर खींच लूंगी। हालांकि यह लकीर मैं बहुत पहले ही खींच लेनेवाली थी। किसी-किसी तरह नरक से भागकर मुक्त हुआ, पुन: उसी के चंगुल में फंस जाने का भय मन में रखकर कोई जिंदा रह सकता है क्या? डर के मारे सूखकर कांटा हो गई। फिर भी मैं बेशर्म की तरह जी रही हूं। इस दुनिया से विदा लेने से पूर्व तुम लोगों से मिलने को बहुत मन हो रहा है। संभव है, तुम लोग मेरी इच्छा सुनकर घृणा से मुंह फेर लो, या हो सकता है सोचो कि कितनी दुस्साहसी है! फिर भी तुम लोगों से बताए बिना नहीं रह पा रही हूं। मरने तो जा ही रही हूं, भय और लाज अब किस बात की! यदि तुम लोगों के पैरों की धूल ले पाना मेरे भाग्य में नहीं है तो तुम लोग इसे मेरा अंतिम प्रणाम समझना। चिट्ठी का जवाब आने में कितने दिन लगेंगे? सात दिन? दस दिन? मैं समझती हूं, इससे अधिक नहीं। इति!

नीचे हस्ताक्षर नहीं है। लेकिन हस्ताक्षर न होने से क्या तनू की चिट्ठी पहचान में नहीं आएगी?

अब सोमेश्वर करें क्या? तुरंत घर जाएं? अमला के सामने घुटने टेककर कहें— 'अमला। तनू की चिट्ठी। अमला, अभी तनू जिंदा है। यहीं पास में दुर्गापुर में ही

है तनू! तुम सोच भी सकती हो, अमला? अमला, तुरंत चलो। अपनी तनू को ले आएं। देर करने से बहुत बड़ा नुकसान हो जाएगा।'

चेयर ठेलकर उठ गए।

कंपकपाते हाथों से ठेलकर टेबल का सामान एक तरफ कर दिया और एक बार फिर मुट्ठी में बंद चिट्ठी को आंखों के सामने फैला लिया।

उस दंश-भरी पंक्ति से भयंकर आग की ज्वाला फूट पड़ी। ...मां को चिट्ठी लिखी थी। कोई जवाब नहीं आया।...

क्या सोमेश्वर भी तनू की तरह यही उम्मीद करें कि अमला के नाम की चिट्ठी कहीं बीच में ही खो गई है? ये बातें जाकर कह सकेंगे! 'चलो अमला...'

लेकिन अगर...अगर चिट्ठी के बदले कुछ और अघटनीय हो गया तो?

यदि अमला यह बोल उठे कि 'नहीं, नहीं।' कहे कि 'कहां जाऊंगी।'

सोमेश्वर ने चिट्ठी को पैंट की जेब में रख लिया। टेलीफोन खींचकर नंबर मिलाया।

"हां! मैं बोल रहा हूं। आफिस के काम से तुरंत दुर्गापुर जाना पड़ रहा है..."

"दुर्गापुर!"

एक अस्फुट प्रश्न!

"न, सवाल ही नहीं है," वैसे स्वगतोक्ति! आर्त्त! अस्फुट! कुछ पल विरक्ति।

इसके बाद सुनाई दिया—"घर न आने से ही..."

इधर एक असहाय स्वर—"समय नहीं है, अमला, एकदम समय नहीं है। यही, बारह-दसवाली ट्रेन नहीं पकड़ पाऊंगा। तो अच्छा, रखता हूं! ओह! क्या कह रही हो। लौटना? कल। कल ही।"

दुर्गापुर जानेवाली ट्रेन के एक फर्स्टक्लास कंपार्टमेंट में खिड़की के पास सोमेश्वर बैठे हुए हैं, हाथ में किताब लिए हुए, लेकिन दृष्टि किताब के पन्ने पर नहीं है, खिड़की के बाहर है।

सामने बैठा एक आदमी इस क्रिया-व्यापार को देखकर मन-ही-मन सोच रहा है, अगर किताब पढ़ नहीं रहे हो तो उसे खोलकर गोद में क्यों रखा है, सहयात्री की किताब, थर्मस के पानी, हाथ के अखबार पर ट्रेन के यात्रियों का तो कानूनी अधिकार होता ही है, फिर मांगने की जरूरत क्या है?

किंतु सहयात्री का वह अनुच्चरित धिक्कार सोमेश्वर को छू तक न सका और वे वैसे ही चुपचाप बैठे रहे। अधीर हुए उस सज्जन के मुंह से कुछ निकल भी न पाया।

हां, पत्थर की मूर्त्ति की तरह स्तब्ध और स्थिर। लेकिन भीतर आंधी चल रही है। प्रचंड अंधड़। इस सुपर-फास्ट ट्रेन से भी ज्यादा तेज चलती हुई आंधी, पेड़ पौधे, सबकी डालियां, पत्तियां तोड़-तोड़कर, नोच-नोचकर फेंक देनेवाली। तोड़-तोड़कर,

नोच-नोचकर, चिंदी-चिंदी कर देने-जैसा दृश्य।

...एक उत्तेजित स्वर।

"क्या कहा! उन खुराफाती लड़के-लड़कियों के साथ तुम जंगल घूमने जाओगी, तनू? तुम अपने आपको समझती क्या हो?"

एक अवज्ञापूर्ण स्वर—"उस ग्रुप में सारे तो शरीफ घरों के ही बेटे-बेटियां हैं। बल्कि हमसे ज्यादा रईस हैं।"

"यही होगा। तनू नहीं जाएगी।"

"ठीक है। उसी से कहो न! बड़ी हैरानी की बात है! इतनी कंजर्वेटिव!"

इसके बाद एक और दृश्य। रोने के कारण सूजी हुई आंखें और मुंहवाला एक चेहरा—"बाबू! अगर इस बार मैं नहीं जाऊंगी तो उन लोगों को कभी अपना मुंह नहीं दिखा पाऊंगी। मैं गले में फांसी लगा लूंगी।"

"तुम जानती हो, इन लापरवाह शौकों में कितना रिस्क होता है?"

इतने लोग तो जा रहे हैं, बाबू। सबके घर से आज्ञा मिल गई है। वे सब कितना मजा लेकर लौटेंगे। और मैं बाबू ...वे सब मुझको कितनी अभागी कहेंगे!"

"ठीक है। इस बार तो तुम्हें आज्ञा देता हूं, जाना ही चाहती हो तो जाओ, लेकिन दुबारा फिर कभी..."

"कभी नहीं, बाबू। कभी नहीं। यही आखिरी है।"

हठात सीने में एक दर्द उठा और सब कुछ गड्ड-मड्ड हो गया। ...'यही आखिरी है।'

ओह! कितनी कठोर प्रतिज्ञा थी वह।

लेकिन कैसा दुर्भाग्य है! उस ग्रुप के सारे लड़के-लड़कियां वापस घर लौट आए, एक सोमेश्वर सेन जैसे अभागे और तुच्छ आदमी की जान से प्यारी गुड़िया को ही रावण हर ले गया।

पराजित साथियों ने सर झुकाए हुए संवाद दिया था—"सबके बीच से आंखों के सामने ही बलपूर्वक जीप में खींचकर..."

आंधी कितनी अनिश्चित गति से चलने लगी है। जैसे कितनी सारी बातें, कितनी हड़बड़ी, सब गड्ड-मड्ड हो गया है। फिर भी सब कुछ दबाए हुए चुपचाप वे बैठे रहे।

रुको-रुको, 'आंखों के सामने' जो कुछ भी देखा उसे भुला दो, स्मृति-पटल से निश्चिह्न करके फेंक दो। ...कहानी गढ़ो। बहुत ही स्वाभाविक, किंतु एक भयानक कहानी।

जंगल में कितनी कुछ चीजें तो होती हैं। सांप, बाघ, बिच्छू, फिसलन-भरी अंधी ढलानें, तेज धारवाली बेनाम नदियां।

गढ़ी हुई कहानी बार-बार सुनाने से 'सच' हो जाती है, और यह तो परीक्षित

सत्य है।

इसलिए उस तेज धारवाली नदी को ही आधार बनाना होगा।

समाज के सामने एक ठोस आधार तो रखना ही पड़ेगा। नहीं तो उनकी उठती हुई कुतूहल की भूख मिटेगी कैसे?

फिर भी अंतस में कितने दिनों से गंभीर, गोपन, अविश्रांत, दबाया हुआ आर्त्तनाद उठ रहा था, तुमने ही तो प्रसन्नतापूर्वक जाने दिया था, यह सर्वनाश उसी का परिणाम है।

लेकिन उसके खिलाफ क्या कहा गया है—"तुमने ही मेरे मना करने के बाद भी उसे आज्ञा देकर विपत्ति के मुंह में ढकेल दिया था..."

कुछ बोला नहीं जा रहा था।

औरतें जितनी आसानी से निष्ठुर बातें बोल जाती हैं, पुरुष नहीं बोल सकते।

झन्नाटे के साथ ट्रेन रुक गई।

क्या हुआ? आ तो नहीं गया?

एक भयानक भय से हृदय ठंडा हो आया।

नहीं, अभी नहीं आया। आनेवाला है। और दो स्टेशन बाद ही दुर्गापुर है।

अभी तक आंधी के थपेड़े ने ठेल-ठेलकर जबरदस्ती सोमेश्वर को अतीत के गह्वर में फेंक दिया था, सोमेश्वर इस झटके से उबर कर भविष्य के आमने-सामने खड़े हो गए। लेकिन वहां तो उन्हें कुछ भी नहीं दिखाई दे रहा। क्या किया जाय? भविष्य तो अंधेरा ही अंधेरा है।

सोमेश्वर के हृदय में प्रवाहित हिम-प्रवाह—धड़ से माथा, माथे से मेरुदंड, मेरुदंड से शरीर की समस्त तंत्रिकाओं में होता हुआ सब कुछ को सुन्न करता चला गया है।

...फिर भी वही सुन्न-अवश चेतना लिए हुए सोमेश्वर अंधेरे के भीतर कुछ बोलने-से लगे। एक स्टेशन के बाद वे दुर्गापुर पहुंच जाएंगे। इसके बाद चिट्ठी खोलकर लोगों से पूछते-पूछते दो-ढाई लाइन के उस ठिकाने पर पहुंचेंगे—जो कि तनू की चिट्ठी के ऊपर लिखा हुआ है।

यद्यपि ठिकाना ढूंढ़ना है, शहर के किस तरफ जाना है, किस जगह से ढूंढ़ना शुरू करना है, सोमेश्वर को इन बातों का पता नहीं है। फिर, मिलेगा भी कि नहीं। ...घरों का कोई निश्चित क्रम तो होगा ही।

लेकिन उसके बाद?

आवाज लगाकर, खटखटाकर दरवाजा खुलवाएंगे? कैसा घर होगा? दरवाजा किस तरफ को होगा? आकर कौन खोलेगा?

काले घने बालोंवाला कोई हाथ?

यदि खोलते ही यह कर्कश सवाल करे कि 'किससे मिलना है', तो?

क्या सोमेश्वर पूछ पाएंगे कि 'सुतनुका सेन' नाम से यहां कोई रहती है? बुलाने

का नाम 'तनू' है। ...नहीं-नहीं, वयस्का महिला नहीं, एक लड़की है। गुड़िया की तरह सुंदर एक लड़की।

बोल सकेंगे?—उन्होंने सोचा। और सब कुछ को तिलमिला देनेवाली कर्कश व्यंग्यपूर्ण हंसी हंसते हुए कहीं से जैसे कोई बोल उठा—'सुन्दर? वो तो नहीं? वही न? ले जाओ।'

सायास तोड़ी हुई एक गुड़िया के कुछ टुकड़ों की तरफ उंगली से इशारा करके दिखा दिया।

सोमेश्वर के भीतर का हिम-प्रवाह जैसे अचानक आग की लपटों में बदल गया हो।

उन टुकड़ों को लेकर वे जोड़-जोड़कर संपूर्ण गुड़िया निर्मित करने की जी-जान से कोशिश करने लगे, लेकिन हो ही नहीं पा रहा था।

हाथ से फिसल-फिसलकर गिरकर और भी टुकड़े हुए जा रहे हैं।

सारी कोशिशें बेकार जा रही हैं।

सोमेश्वर बुरी तरह पसीना-पसीना हो गए हैं।

एक सुडौल चिबुक का आभास, कोमल नमनीय गालों का एक पाश, बड़ी-बड़ी दो आंखों की एक चकित दृष्टि, सर पर से बिखर आए दो सूखे बाल, कापी पर रखी कलम और कमर पर उंगलियों के पोरों के आधार पर जोड़कर क्या गुड़िया को खड़ा किया जा सकता है? उसका अखंड चेहरा निर्मित किया जा सकता है?

नहीं, संभव नहीं है। अशक्त हो गए हैं सोमेश्वर। खड़ा होना चाहते हैं, लेकिन हो नहीं पा रहे हैं—'इतने दिन तक तुम कहां थी, तनू? कैसी थी?'

वे कह नहीं पा रहे हैं कि तुम इतनी-सी बात पर मरना चाहती हो? तुमने ऐसा सोचा कैसे?

क्यों? मैं किसी भी तरह अपनी अखंड तनू को क्यों नहीं ढूंढ़ पा रहा हूं।

भीतर-भीतर चीत्कार उठ रही है। तनू, तुम्हारी हंसी कहां है? आलोक झरने वाली मोती-जैसे दांतों की हंसी! तुम्हारी वही हंसी देखकर तो मैं तुम्हें जोड़ सकता हूं, गढ़ सकता हूं। इसके बाद हम दौड़ते हुए जा सकते हैं—अपने उसी घर में जहां पल-पल तुम्हारी हंसी से आलोक झरता था और हंसी के झुनझुने बज उठते थे। जहां तुम नाराज हो-होकर बोल उठती थी—'देख रहे हो न, बाबू, मां कहती है, हर समय क्या हंसती रहती हो? मां को डांट दो न, बाबू!'

किंतु वह हंसी किसी भी चीज में ढूंढ़ने से नहीं मिल पा रही है। पता नहीं, कहां से धुआं, छाया, कुहासे ने आकर घेर लिया है।

इसलिए इसी भग्न-चूर्ण गुड़िया को ले जाकर अमला के सामने खड़ा कर देना होगा।

लेकिन उसके बाद?

यदि अमला आग्नेय नेत्रों से बोल उठे—'इसका मतलब क्या है?'

यदि अमला बिना कुछ बोले दरवाजा खोलकर उसके किवाड़ से सटकर खड़ी पथराई आंखों से निहारने लगे?

फिर तनू की चिट्ठी की प्रथम पंक्ति स्मरण हो आई। स्मरण हो आई टेलीफोन पर उभर आई वह स्वगतोक्ति, 'दुर्गापुर'!

सोमेश्वर क्या वे सारी बातें भुलाकर बोल नहीं पाएंगे—'डरने की क्या बात है, अमला? हम तो अपनी तनू को लेकर कहीं दूर-दराज किसी भी जगह जा सकते हैं। पहाड़ की गोद में, जंगलों की छांह, नहीं तो अनजाने किसी गांव में—जहां हमें कोई पहचान नहीं पाएगा। दीन-दुखियों की तरह रह लेंगे। हमारा सजाया-संवारा जीवन, सजी-सजाई दुनिया, आत्मीय बंधु, पड़ोसी, मुहल्लेदार क्या ये सब तनू के प्यार से ज्यादा सच्चे हैं? तनू को खो देने के बाद क्या यह सब मिथ्या साबित नहीं हो जाएगा? बोलो अमला, धरती के ये सारे रस-रंग-स्वाद क्या झूठे नहीं पड़ जाएंगे? तब? क्या जरूरत है इस ठाठ-बाट की?'

अच्छा, यदि उस पराजित हृदया के पास घुटने टेककर कह भी सके तो क्या उन पथराई आंखों में करुणा का भाव उमड़ आएगा? किवाड़ क्या दोनों तरफ करके खुल सकेंगे?

इस भयंकर प्रश्न के आमने-सामने खड़े होकर सोमेश्वर पसीना-पसीना हो आए।

क्या वे तनू को मृत्यु के हाथों से बचाकर पुनः प्रत्यक्ष मृत्यु के हाथ में नहीं डालने जा रहे?

तभी उनको सुनाई देता है—

कहीं से कोई पता नहीं किसको कह रहा है—"आपकी तबीयत ठीक तो है?"

किसको कह रहा है?

सोमेश्वर ने आंखें खोलकर देखा।

इसका मतलब यह कि सोमेश्वर इतनी देर से बंद आंखों से ही इतना कुछ देखते चले आ रहे थे!

आंख खोलते ही जैसे अवाक् हो गए। एक औरत के चेहरे की एक जोड़ी पथराई आंखें सोमेश्वर को निहार रही थीं।

एक उद्विग्न पुरुष प्रश्न कर रहा है—"आपकी तबीयत खराब है क्या?"

सोमेश्वर ने सिर हिलाया। नहीं-नहीं।

लेकिन बहुत पसीना आया है

वो कुछ नहीं...

सोमेश्वर सीधा होकर बैठ गए।

पाकेट से रूमाल बाहर निकालकर धड़, गला, कपाल पोंछने लगे। रूमाल भीगकर लथपथ हो गया है।

"आपको इतना पसीना आता है क्या?"

"वही थोड़ा-सा।"

कैसा आश्चर्य! चिट्ठी भी रूमाल के साथ जेब से बाहर निकल आई। ...सोमेश्वर उठकर खड़े हो गए। किताब गोद से नीचे गिर गई। हाथ की मुट्ठी में आए उस थोड़े-से नीलाभ कागज के टुकड़े को चिंदी-चिंदी करके खिड़की के बाहर फेंक दिया।

फेंकते ही चौंक उठे।

क्यों फेंक दिया? फेंकते ही अंतस में तर्क-वितर्क हाहाकार कर उठे। वह हाहाकार पछाड़ खा-खाकर खिड़की के बाहर गिरना चाह रहा था। यह मैंने क्या किया? यह मैंने क्या किया? अत्यंत व्याकुल होकर चलती गाड़ी की खिड़की से मुंह बाहर निकालकर देखने की चेष्टा करने लगे कि उस कागज की चिंदियां कहां गिर रही हैं। ...देख नहीं पाए।

गाड़ी गंतव्य के बहुत करीब आ गई है। बहुत पहले से ही संपूर्ण परिवेश अदूरवर्ती शिल्प-नगरी का परिचय देने लगा है। गाड़ी की गति धीमी से अत्यंत धीमी होती जा रही है।

सोमेश्वर कई बार दरवाजे से झुक-झुककर कोशिश करने के बाद अचानक चलती गाड़ी से ही झुककर उतर पड़े। शरीर में एक अत्यंत दारुण झटका लगा। खींच-खिंचाकर संभलकर खड़े हो गए।

सहयात्री हां-हां कर उठे। कोई बोला—"यह जो, आपकी किताब, बैग..."

खिड़की से बाहर गिराने की चेष्टा भी की किंतु सोमेश्वर तेज गति से नीचे उसी रास्ते ही तरफ बढ़ गए थे, जहां कागज गिरे थे। व्याकुल होकर निहार रहे थे, नीले कागज के टुकड़े कहां पड़े हैं ...पाना चाहते हैं।

क्या दुर्योग है! क्यों? उन टुकड़ों को ढूंढ़कर जोड़-जोड़कर क्या उस पते को खोज पाएंगे जहां जाने के लिए आए थे? पागल तो नहीं हो गए हैं? कहां हैं वे टुकड़े? निशान तक नहीं बचे हैं।

इसका मतलब कि तनू नाम की उस लड़की को जो एक बार दर्शन देने की बात थी उसकी भी संभावना खत्म हो गई। कैसी विचित्रता है! सोमेश्वर ने यह खुद ही किया है! क्यों किया! किसलिए किया!

अब क्या सोमेश्वर अमला के पास जाकर गिर पड़ें और बोलें कि—'अमला। तनू ने जो तुमको चिट्ठी लिखी थी वो कहां है? बहुत जरूरत है। उसमें तनू का पता है...'

लेकिन उसके बाद? यदि तनू और उसके पिता की उम्मीदों के मुताबिक सचमुच अमला की वह चिट्ठी कहीं खो गई हो तो?

इस अकस्मात् उठे प्रश्न को सुनकर अमला क्या बोलेगी? सोमेश्वर के नीचे से जमीन नहीं खिसक जाएगी? तनू की चिट्ठी, मलतब? तनू की चिट्ठी माने क्या?

सोमेश्वर क्या जवाब देंगे? बोल सकेंगे कि 'मतलब' था, अमला। मैं अपने ही हाथों खुद उसे निश्चिह्न करके आ रहा हूं।

सोमेश्वर यह महसूस कर रहे हैं कि यदि वह चिट्ठी कहीं खोई नहीं अथवा टेलीफोन पर वह अस्फुट स्वगतोक्ति बज्र बन उठे, परिस्थिति समान होगी। पराजित मातृ हृदय की निष्पाप यंत्रणा। यही एक बात सोमेश्वर के भीतर बार-बार चोट करती रहेगी, मुक्ति की खोज में।

धिक्कार का स्वर आकाश में गूंज उठेगा—कौन हो तुम? कौन हो तुम? तुम तनू को पाकर भी—उसे मृत्यु के मुंह में ठेल आए? अब तुम दुर्गापुर जाकर दरवाजे-दरवाजे पूछने से भी तनू को खोज पाओगे क्या? कितने दिन का समय दिया था तनू ने तुमको? समझ में नहीं आ रहा, किसलिए किया तुमने? किसलिए तुमने...'

क्या सोमेश्वर बोल पाएंगे—'अमला मैं तुम्हारे डर से...'

छि: छि:! इससे अधिक हास्यास्पद बात क्या हो सकती है?

फिर भी वह हास्यास्पदता नहीं याद आ रही है। अब ध्यान में सिर्फ यही है, इसके बाद कुछ करने को बचा ही नहीं। अब तनू को बचा पाना मेरे वश में नहीं है!

सोमेश्वर जब घर लौटे तो सभी कामकाजी लोग सो रहे थे। अमला ने ही आकर दरवाजा खोला।

किंतु आश्चर्य! सोमेश्वर के कल के बदले आज ही लौट आने पर अमला के मुंह से कोई प्रतिक्रिया व्यक्त नहीं हुई। न उल्लास, न विस्मय, न चिंता।

जेसे किसी यंत्र से एक आवाज आई हो—"आज ही लौट आए।"

उत्तर भी उसी तरह निकला--"काम हो गया।"

दुबारा एक यांत्रिक स्वर—"लग तो नहीं रहा? खाना-पीना नहीं हुआ है?"

हालांकि यह एक अस्वाभाविक प्रश्न था। आफिस के काम से बाहर गए थे, खाना-पीना तो—सरकारी...।

सोमेश्वर बोले—"समय नहीं मिला।"

"समय के अभाव में खाना नहीं खा पाए?"

नाराज हो जाने का यह स्वर्णिम अवसर छोड़ते हुए अमला ने प्रसंग बदलकर कहा—"इतनी रात को नहाओगे?"

न नहाने से बड़ा अजीब लगेगा।

"थोड़ा-सा पानी डालकर जल्दी-जल्दी तैयार होकर आ जाओ। खाना लगाती हूं।"

"तुम कैसी हो? ...विजय?"

"सो गया है। तुम्हारे आने का कोई निश्चित नहीं था न!"

"बुला दूं?"

"नहीं। ऐसा कौन-सा काम है।!"

जैसे एक पत्थर की दीवार के दोनों तरफ से दो लोग बातें कर रहे हों। अमला यह नहीं पूछ पा रही है कि दुर्गापुर में तुम्हारा कौन-सा काम था?

सोमेश्वर भी नहीं बता पा रहे हैं, जानती हो, आज दुर्गापुर में...नहीं।

सोमेश्वर यह जान रहे हैं कि यह पत्थर की दीवार कभी नहीं खत्म होगी। अगर हो भी जाएगी तो कोई एक बहुत बड़ा व्यवधान खड़ा हो जाएगा।

सारा बाहरी ठाठ-बाट जस-का-तस बना रहेगा, साफ-सुथरा जीवन जैसे चल रहा था, चलता रहेगा, सिर्फ इस पत्थर की दीवार के दोनों तरफ बैठे दो प्राणी आपसी घृणा और संदेह की दृष्टि से बिंधते रहेंगे।

एक व्यक्ति लगातार यह सोचेगा कि अमला...

और दूसरा व्यक्ति लगातार यह सोचता रहेगा कि मैंने तो तत्क्षण उस हृदय-विदारक चिट्ठी को जलती आग में झोंक दिया था—फिर उसकी आंखों की पुतलियों में हमेशा ऐसे ही एक घृणा की छाया बनी रहेगी। क्यों? किसलिए?

यद्यपि चिल्लाकर यह कह उठने के अलावा कोई उपाय नहीं है कि क्यों हर समय तुम ऐसे घृणा और हताशा-भरी निगाहों से देखती रहती हो?

लेकिन इसके अलावा अमला करे भी क्या? वह क्या कर सकती है?

अमला, दोस्तों के साथ जंगल घूमने गई जिस बेटी को दुर्घटना में मृत मानकर उसके चित्र पर फूलों की माला पहनाकर दीवार पर टांग चुकी है, उसी बेटी को दुबारा अचानक हाड़-मांस में लिपटी, सदेह ले आने पर, कहां जगह देगी उसको?

अतल-अपार मातृ-हृदय के क्रोड़ में? दुनिया और समाज से चले जाने के बाद!

किंतु क्या वह 'अतल अपार' इतना विशाल हो सकता है जिसमें कि...

अमला क्या किसी दिन यह कह पाएगी कि 'तनू, मुझे एक गिलास पानी देना तो। ...तनू, मेरा ठाकुर-घर जरा साफ कर आना तो। तनू, तुम्हारे हाथों की अल्पना बहुत सुंदर खिलती है, लक्ष्मी घर की अल्पना तुम्हीं कर दो तो जरा।'

समाज को छोड़कर तो पलायन किया जा सकता है, लेकिन अपने आप से?

इसलिए एक ही घर में आबद्ध दो प्राणी, एक-दूसरे से कोसों दूर बैठे हुए, परस्पर घृणा और संदेह के सहारे शेष जीवन काट देंगे।

इसके अलावा मुक्ति का कोई उपाय नहीं है। दो जनों के बीच, अदृश्य शून्य में गले में फांसी लगाए लटकता हुआ एक मृत शरीर इधर से उधर झूलता रहेगा।

स्टील की आलमारी

चमत्कार! सवेरे-सवेरे ही एक झमेला।

लतिका ने एक ठिकरा कंसा—"कहा जाता है कि विपत्ति सामने आकर बोली 'झमेला'।"

इसके बाद वैसे ही झनझनाते हुए परितोष के पास आकर बोली—"सवेरे-सवेरे एक सुसमाचार सुनो! नयनपुर से तुम्हारे बड़े भइया आए हैं।"

परितोष के हाथ में सुबह की चाय का प्याला था। वे खिड़की की तरफ निगाह लगाए पेपर आने की राह देख रहे थे।

एक मंजिला घर है। पेपरवाला सामने की खिड़की से पेपर फेंक जाता है।

नयनपुर से बड़े भइया आए हैं?

परितोष के प्याले की चाय एकदम से छलक पड़ी।

बड़े भइया के अंदर कुछ कमजोरियां हैं जिन्हें लतिका जानती है। इसी वजह से वह इतनी कठोर बातें बोल जाती है।

नयनपुर की बात उठने पर किसके साथ लतिका ऐसी कठोर बातें नहीं बोलती?

वह विवाह के पश्चात बहुत पहले कभी कुछ दिनों के लिए गांव गई थी, उसी समय से उसके मन में नयनपुर के प्रति एक धारणा स्थापित हो चुकी है। और उसकी इन सब बातों से पता चलता है कि उसकी वह धारणा बहुत मधुर नहीं है।

ऐसी भी धारणा क्या?

जो कि जीवन-भर मन में विद्रूपता पाले रहे?

और कुछ नहीं। मूल कारण है परितोष का उस तुच्छ-से गांव के प्रति जान से भी अधिक स्नेह। हां, जब भी लतिका उस गांव के बारे में समीक्षा करना शुरू करती है तो यह बात सामने आती है। परितोष के रोम-रोम से वह स्नेह छलकता दिखाई देता है।

अतएव सौतिया डाह की ज्वाला!

तो क्या परितोष को यह बात नहीं पता है? सब पता है, तभी तो अपने उस गंभीर स्नेह को, अपने अंतर्मन में दबाए-दबाए लगभग भूल-सा गए हैं। अर्थात वह सचमुच दब गया है।

अब परितोष के लिए भवतोष भंट्टाचार्य के संबंध में 'तुम्हारे प्राण प्रिय भइया' जैसी बात बोलना कोई अर्थ नहीं रखता। परितोष ही साल-भर में कितनी बार उन्हें याद करते हैं? चिट्ठी लिखकर समाचार तो जानने की अब जरूरत ही नहीं समझते। सिर्फ विजयादशमी का प्रणाम लिख भेजते हैं—इस वाक्य के साथ कि—'आशा है, आप लोग सकुशल होंगे।'

हम लोगों ने एक बहुत ही सुंदर भाषा चला रखी है। 'कैसे हो' जैसे ही लिखते हैं तो उसके ही पीछे तो छिपा रहता है सारा वृत्तांत—जो उत्तर में लिखा जानेवाला होता है! उसका मतलब ही होता है कि जबरदस्ती रिश्ते को चलाया जा रहा है।

यह तो फिर भी गनीमत है। जब लिखते हैं कि—'आशा है'—तब तो उसका मतलब ही हो जाता है कि अब जवाब कि कोई जरूरत नहीं है।

इस प्रकार, अपने बहुत नजदीकी लोगों के पास भी साल के अंत में कभी मुश्किल से पहुंचना हो पाता है।

बड़े भइया का भी परितोष के साथ कुछ इसी तरह संपर्क हो पाता है।

बड़े भइया का आना एक अप्रत्याशित घटना थी।

तभी तो प्याले से चाय छलक गई।

सूखे गले से एक शब्द बाहर निकला—"बड़े भइया! नयनपुर से!"

प्याला नीचे रखते हुए थोड़ा-सा धीमें स्वर में बोले—"अब, इस समय? किस गाड़ी से?"

लतिका टोंट कसते हुए बोली—"वह सब मुझे क्या पता? तुम्हारे नयनपुर से आनेवाली ट्रेनों का टाइम तो मैंने रट नहीं रखा है।"

जल्दी-जल्दी चाय खत्म करके कप अलग रखते हुए परितोष बोले—"तुमसे मुलाकात नहीं हुई?"

"मैं क्या आगे बढ़कर देखने जाऊंगी?"

लतिका ने एक बार फिर टोंट कसा—"रेखा की मां ने आकर बताया।"

परितोष जिस कमरे में बैठे चाय पी रहे थे, उस कमरे को लगभग भंडार घर ही कहते हैं। उसी घर में खाने की टेबल भी है और चाय पीने की भी व्यवस्था है।

बाहरी तरफ एक अच्छा-सा कमरा है—जिसे लतिका ने सुचारू रूप से सजाकर ड्राइंग रूम बना रखा है। घर के भीतर अंततः एक कमरा तो है जिसमें सभ्य अतिथियों को बिठाया जा सके। सो, इसी कमरे में टेलीविजन, इसी कमरे में बुकरैक। और विविध सजावटी वस्तुओं का समायोजन।

उस कमरे में नयनपुरवाले बड़े भइया को तो बिठाने का कोई प्रश्न ही नहीं उठता था, किंतु मूर्ख रेखा की मां पहले आकर वहीं बैठते हुए बोली—"बिठाओगी नहीं?" जब सुनी कि भइया मौसाजी के आदमी हैं तो उसकी भक्ति और भी उमड़ पड़ी।

परितोष सूखे गले से बोले—"इस समय अचानक, पता नहीं क्यों!"

"और किसलिए!"

लतिका ने 'और' पर विशेष बल देकर अपनी भंगिमा में टोंट कसा—"धान की फसल सूख जाने का रोना रोकर खाने-पीने के लिए कुछ पैसों की व्यवस्था करने। अभी सुनोगे—गांव में रहना मुश्किल हो गया है। खेतों में धान नहीं है, तालाबों में मछली नहीं है और घर में चावल का एक दाना भी नहीं है! यह तो लगा ही रहता है।"

हालांकि ये सारी बातें परितोष को बहुत अच्छी नहीं लगीं, फिर भी ऐसा नहीं हुआ कि तुनककर परितोष प्रतिवाद कर सकें।

परितोष मन-ही-मन याद करने लगे कि कब किस स्थिति में बड़े भइया रोकर पैसा मांगकर ले गए हैं। बड़े भइया नामक दरियादिल, हंसमुख और जान तक निछावर कर देनेवाले विशाल व्यक्तित्व के पुरुष के बारे में इस तरह की बात करना क्या शोभा देता है?

यद्यपि परितोष लतिका के मुंह पर वह बात नहीं बोल सके कि—'कब किस दिन बड़े भइया ने हमारे सामने पैसों के लिए हाथ फैलाया है?'

नहीं, बोल नहीं सके।

पता नहीं किस अमोघ नियम के दबाव में आकर उन्हें सच्ची-स्पष्ट बात लतिका के मुंह पर सुना देने का साहस नहीं हुआ। कोई प्रतिक्रिया ही नहीं हुई।

जब लतिका ने अनायास ही रेखा की मां की कही बात को रेखा से दुहराते हुए कहा था—"ऐ 'मां नहीं आ पाएगी', बोलकर कहां भागी जा रही है? बर्तन सब मांजकर जा।"

तो परितोष नहीं बोल पाए थे—'अजीब बात है! वो लड़की हमारी 'टुकाई' से भी छोटी है, इतने सारे बर्तन मांज पाएगी?'

बहुत साहस जुटाकर बोले—"इसके मांजे हुए बर्तन तुम्हें पसंद आएंगे?"

किंतु लतिका अवश्य बात का मतलब समझते हुए रुकी नहीं—"मतलब, सांप की हिचकी बिच्छू समझे।"

लतिका गुस्से में बोली—"आएंगे कि नहीं, वो मैं समझ लूंगी। नहीं आएंगे तो भगा नहीं दूंगी क्या?"

फिर जैसे दूसरी ओर से परितोष का कोई परिचित आकर खड़ा हो गया हो, वैसी नकल करते हुए बोली—"चाय? अभी तक चाय-वाय नहीं बनी? दो ठो मिठाई और फ्रीज से ठंड़ा पानी जरा भिजवा देना..."

तब भी परितोष को इतना साहस नहीं हुआ कि बोलें—'तुम्हारी चाय तो हमेशा बनती ही रहती है, बाबा! मेरे किसी एक दोस्त के आ जाने पर ही...'

नहीं, वैसी हिम्मत नहीं है परितोष में।

अगर लतिका कुछ कर देती है तो वे कृतज्ञता से विगलित होकर तथा बार-बार उसकी तत्परता का उल्लेख करते हुए प्रशंसा करते रहते हैं।

फिर भी वे नहीं बोल सके—'फिर बड़े भइया कितनी बार हमारे पास...?'

पता नहीं क्यों परितोष के भीतर इस तरह की एक अनधिकारी एवं अपराध-भावना बैठ गई है।

विशेषकर जब नयनपुर की बात उठती है तो परितोष चोर की तरह हो जाते हैं।

फिर भी परितोष मन-ही-मन साहस संचय करते रहते हैं। और आज समस्त

सहानुभूतियां लतिका के प्रति तुच्छ हो उठीं—"जब वे इस समय आकर बैठ गए हैं तो तुम्हें बहुत सारे काम बढ़ गए हैं। न खाने की तो...यह तो कितने दिनों से तुमसे सुनता आ रहा हूं कि गैस खत्म होनेवाली है।"

लतिका एक विद्रूप हंसी हंसते हुए बोली—"चाहे गैस खत्म हो चाहे सांस ही खत्म हो जाए , जब तुम्हारे परमप्रिय बड़े भइया आए हैं तो छप्पनों व्यंजन तो बनाने ही पड़ेंगे न!"

भवतोष आकर बैठे हुए हैं।

परितोष को मन-ही-मन बेचैनी महसूस हो रही है। किंतु इस समय, इस हालत में आग भड़काना बुद्धिमानी का काम नहीं है। थोड़ा निश्चिंत हो जाने के बाद बैठकर बातें करेंगे। और शायद लतिका बाजार से कुछ खाना मंगाकर अतिथि-सत्कार करने के लिए बहाने बना रही है।

हालांकि वे गांव के आदमी हैं, शहर-बाजार के भोजन को बहुत शक की निगाह से देखते हैं।

कदाचित जब कभी, पहले आते थे तो दोपहर की गाड़ी से आते थे और शाम की गाड़ी से चले जाते थे।

तब भी क्या परितोष कभी दबाव डालते हुए यह कह पाते थे—'रात को मत जाओ, बड़े भइया, सुबह एकदम सवेरे, भोरवाली गाड़ी से चले जाना। रात को जमकर बातें करेंगे।'

लेकिन नहीं, परितोष नामक एक सरकारी आफिस में काम करनेवाला मध्यम श्रेणी का आफिसर उस दबाव के लिए कोई बहाना नहीं ढूंढ़ पाता। मन-ही-मन बात खलबलाती रहती।

लतिका को एकांत में भी पाकर नहीं बोल पाए कि थोड़ी-बहुत पूड़ी-सब्जी ही बना दो, अगर संभव हो तो। वे बाजार का खाना खाने से बहुत घबराते हैं।

नहीं, वो सब भी नहीं बोल पाए।

भवतोष जलपान की प्लेट हाथ में लेते हुए बोले थे—"तुम लोगों का तो यही फैशन है, बाबा। ढेर सारे पैसे खर्च करके जब तक झउआ-झउआ-भर खाना नहीं मंगा लेते, तुम्हें लगता है कि ठीक से अतिथि-सत्कार हो ही नहीं पाया। इससे तो अच्छा होता कि तुम्हारी बहू चाय के साथ रोटी-सब्जी बनाकर दे देती तो मेरा खाना ही हो जाता। यह सब समोसे, कचौड़ी सब कब्जियत के उपकरण हैं कि..."

उनकी तरफ न देखते हुए भी परितोष को एक असहाय चेहरे का चित्र दिखाई दिया था।

वातावरण बदलने के लिए तपाक से बोल पड़े थे—"तुम्हें कब्जियत कैसी, बड़े भइया? तुम्हारे अंदर तो लोहा खाकर पचा जाने की शक्ति थी न?"

भवतोष ठठाकर हंस पड़े थे। बोले थे—"थी। अर्थात् अतीत! अब तो नहीं है

न रे भाई। एक समय तो ऐसा था कि लोहे का राड भी दोनों हाथों से दबाकर टेढ़ा कर दिया करता था। गंगा को इस पार, उस पार कर देता था—तैर कर। अब तो गंगा की जो हालत हो गई है, उसमें हेलने का ही मन नहीं करता।''

''वह समय और था जब राम और अयोध्या दोनों थे।''

भवतोष अपने मुहल्ले के हीरा थे। गांव में उन्होंने लाइब्रेरी बनवाई, जिमनास्टिक क्लब खुलवाई, फुटबाल टीम तैयार की और जहां तक होता दूसरों की सहायता के लिए निकल पड़ते।

परितोष की किशोर आंखों में उतरा वह चित्र बहुत दिनों बाद तक दिल में बना रहा। अब तो गांव की हालत ही बदल गई है। वे सहज आनंद के दिन गुजर गए।

परितोष भी बदल गए। उस तरह का मूल्यबोध भी अब नहीं रहा।

तभी तो उस आदमी को देखकर जैसे कैसी बेचैनी का भाव उभर आया था।

जैसे कब इज्जतपूर्वक चले जाए , यही चिंता लगी हुई है!

फिर, लतिका ऐसी असभ्य लड़की तो है नहीं जो बड़ों की इज्जत करना न जाने। ऐसी बात बोलेगी। कभी ऐसा तो हुआ नहीं कि अभी ससुर घर में ही हों और वह बोली हो कि 'आजकल तो ऐसा नहीं है कि बाजार का खाना खाने में बहुत परेशानी हो। सभी फटाफट खा लेते हैं।'

और वही आज यह बोल रही है कि 'चाहे गैस खत्म हो जाय चाहे सांस खतम हो जाय'—और वह भी इस ढंग से बोल रही है कि इस कमरे के बाहर चारों तरफ आवाज पहुंच रही है।

परितोष का स्वभाव निश्चित रूप से बहुत नम्र बोलने का है।

उनकी आवाज तो दीवार के उस पार भी नहीं जाती। उसी आवाज में घबराकर वे बोले—''ओहो, बहुत सारा बनाने की क्या जरूरत है? जो घर में बनता है वही बनाकर दे दो।''

''हूं, अभी तो बोल रहे हो न! तब भुनभुनाओगे। दो ठो बैंगन ही तल दी होती। बड़े भइया बैंगन बहुत 'प्रेफर' करते हैं।''

''अरे नहीं-नहीं। वो सब करने की जरूरत नहीं है। उनको बता देंगे कि गैस खतम हो गई है।''

''ठीक है। जरा कृपा करके जल्दी से जाकर बाजार से ताजा मछली ले आ दीजिए। पिछली बार फ्रीज की मछली दी थी तो नांक-भौं सिकोड़ने लगे थे—'पैसा खर्च करके इतनी बासी मछली खाने के लिए खरीदी है। समझ रहा हूं। शहर में रहने पर शहर की रीति से ही चलना पड़ता है। पांच लोगों के सामने बोलने की हिम्मत तो होती नहीं है।' बोलकर कैसी कुटिल हंसी हंसने लगे थे।''

बड़े भइया के लिए 'कुटिल हंसी' शब्द का इस्तेमाल ठीक नहीं था, फिर भी परितोष सहन कर गए तथा जल्दीबाजी दिखाते हुए बोले—''जाने भी दो।''

इसी समय रेखा की मां आकर खड़ी हो गई।

बोली—"मौसीजी, क्या हुआ आप लोगों को? वे बोल रहे हैं कि 'क्यों रे, बबुआ को अभी खबर नहीं की?' खबर देने को और क्या है? घर के आदमी हैं। चलो जाती हूं..."

रेखा की मां आवाज नीची करते हुए बोली—"पीछे-पीछे वे भी चले आए तो मैंने कहा, हां खबर दे दी है, अभी मौसाजी बाथरूम में हैं और मौसीजी पूजा घर में।"

"पूजाघर में।"

लतिका ही ही करके हंसते हुए बोली—"बहुत बातें बनाना सीख गई हो, ये क्यों नहीं कहा कि मौसीजी ध्यान पर बैठी हैं। जाओ, अबकी बार ठीक से बोल देना।"

रेखा की मां को इस बात से खुशी नहीं हुई। उदास स्वर में बोली—"बात बनाने के अलावा उपाय ही क्या था? एक आदमी गांव-घर से आकर बैठा हुआ है और आप लोग उसको देखने-सुनने आ ही नहीं रहे हैं।"

अपनी बुद्धिमत्ता पर रेखा की मां को जितनी खुशी हो रही थी, उतनी ही लतिका को झुझंलाहट। 'ओह! ये सब चतुर्थ श्रेणी कर्मचारी भी देखते-देखते इतने बढ़ जाते हैं।'

बोली—"अच्छा, जाओ। बोल दो कि आ रहे हैं।"

परितोष जल्दी से बोले—"जाता हूं।"

लतिका और धीमे स्वर में बोली—"नींव से ही मजबूती आती है। इस बार घर में टी.वी. देखकर फिर जल उठेंगे। सोचेंगे कि भाई बहुत बड़ा आदमी हो गया है। कलकत्ते का बाजार-दर भी देखो और एक बार बातचीत के दौरान उन्हें यह भी बता देना कि इंस्टालमेंट पर खरीदा गया है। तुम्हारा तो सुख-चैन भी एक अपराध-बोध है। जैसे कोई चोरी करके जुटाया गया हो। उनकी भावभंगिमा देखती तो रहती हूं।"

परितोष मन-ही-मन बोले—'मेरे तो चारों तरफ ही चोरी का अपराध-बोध बिखरा पड़ा है। वो तो मन ही जानता है।'

लतिका ने तभी अपनी बात समाप्त की—"गांव की जमीन-जायदाद, बाग-पोखरा सब में ही तो तुम्हारा भी हिस्सा बनता है, तुम कुछ पाते हो उसके बदले? सब कुछ तो उनका ही है..."

"वो तो सही है।"

बोलते हुए वे लतिका के वाक्य को और आगे न बढ़ने देकर खुद ही आगे बढ़ गए।

कमरे में आकर देखा कि भवतोष खिड़की के सामने खड़े होकर रास्ते की तरफ देख रहे थे।

मन में थोड़ी-सी आश्वस्ति हुई।

इतनी देर से प्रतीक्षारत आदमी से एकाएक सामना नहीं हुआ।

पीछे से ही वे बोले—"क्या बड़े भइया, इस वक्त? किस गाड़ी से?"

भवतोष पीछे मुड़े।

वे गद्‌गद स्वर में बोले—"तुम्हें आश्चर्य हो रहा है न? अरे नयनपुर से एक नई बस-सुविधा शुरू हो गई है। पांच बजे वहां से खुलती है और साढ़े छ: बजे एस्प्लानेड पहुंचा देती है।"

इस बीच परितोष ने प्रणाम करने का उपक्रम किया था और भवतोष ने 'रुको-रुको' बोलते हुए उन्हें गले से लगा लिया था।

हालांकि अब उनका स्वास्थ्य और शक्ति पहले-जैसी नहीं रह गई है, किंतु फिर भी गठन तो है ही। आलिंगन के समय परितोष का माथा उनकी ठोड़ी से नीचे ही रह गया था और शरीर बहुत कमजोर लग रहा था।

आलिंगनमुक्त करने के बाद भवतोष फिर बोले—"जबसे बस शुरू हुई है, तभी से सोच रहा था कि किसी एक रविवार को समय निकालकर चला आऊं। सुबह-सुबह ठंडा-ठंडा...तुमने तो सात जन्म से कोई चिट्ठी भी नहीं लिखी, जन्म के आलसी। तुम आ कैसे सकते हो? कितने दिनों से मिलना नहीं हो पाया था।"

परितोष बोले—"जैसे-तैसे कट रहा है एक-एक दिन। तुम लोग तो फिर भी ठीक-ठाक हो। कलकत्ते की तो जो हालत है..."

"हम लोग ठीक हैं?"

फिर हा-हा करके भवतोष हंस पड़े। बोले—"कहने-भर को अच्छे हैं! वह एक कविता है न—'नदी का यह किनारा बोलता उच्छवास भरकर'—वही बात है। तुम यह समझते हो और हम सब सोचते हैं कि तुम लोग अच्छे हो।"

भवतोष परितोष के सजे हुए कमरे और टी.वी. की तरफ देखे बिना बोले।

"तुमने जो बचपन में नयनपुर देखा था वह नयनपुर अब नहीं रह गया है, रे भाई! नयनपुर, झमेटपुर, बाटू, सब ध्वस्त हो गए। गांव में पालिटिक्स घुसकर गांवों को नष्ट कर रही है, आदमी को हैवान बना चुकी है। सब अपने-अपने धंधे में लगे हुए हैं। एक तरफ आपरेशन वगई और एक तरफ पंचायत। उनके साथ पार्टियों की गुटबंदी—तनिक भी शांति नहीं है। गुंडों की मदद करती है, पुलिस की आंख बंद है। वहां तो अब ऐसा है कि तुम जिसका कीर्त्तन, गुणगान करोगे, राजा की नंदिनी उसी ढ़ंग से तुम्हें फल देगी।"

परितोष इसका क्या जवाब देंगे? इसीलिए उन्होंने प्रसंग बदल दिया। बोले—"तुम्हारे स्कूल की क्या खबर है?"

"स्कूल! दुर्भाग्य! लगता है तुम्हें पता नहीं है? छ: महीने हो गए , साठ साल का हो जाने पर रिटायर कर दिया। मैं तो कानून-फानून जानता नहीं! अच्छे-बुरे का भी ज्ञान नहीं है। इधर पुरानी स्कूल की बिल्डिंग का दालान बरसात में धंस गया।

प्रबंधन कमेटी को कहते-कहते हद हो गई, कोई केयर ही नहीं करता। कानून जारी हो गया कि बूढ़े मास्टरों को अब नहीं रखा जाएगा। उन्हें भगा दो। साठ साल की उमर हुई नहीं कि बुद्धि चौपट हो जाती है। तुम्हें अपने श्याम बाबू तो याद होंगे? सत्तर साल की उमर में मुश्किल में पड़ गए हैं! क्या मुसीबत है! नयनपुर हाई स्कूल में शुरू से ही थे! तब तो यह सब कानून था नहीं।"

बोलते-बोलते भवतोष उद्दीप्त हो गए। बोले—"अरे बाबा, गांव के वोटदाता सब अगर कानून जारी कर दें कि बूढ़े-बाढ़े मंत्री नहीं बनेंगे, तो? तो तुम कितने लोग टिकोगे? सारे बूढ़े सब ही तो गद्दी पर तनकर बैठे हुए हैं। मरने-मरने के वक्त तक चुनाव में खड़े होते रहते हैं। उनके बूढ़े होने पर तो बुद्धी चौपट नहीं होती। वे तो भगवान के वरदान-पुत्र हैं। हूं, असली बात है, कानून जारी करके अपने पाकेट के लोगों के लिए जगह खाली करवाने की। जाओ मरो। दिन-पर-दिन जो एटमासफीयर होता जा रहा है उसमें इज्जतपूर्वक काम करना मुश्किल होता जा रहा है। तभी तो नयनपुर हाई स्कूल के बारह बज गए हैं। अरे बाबा, मास्टर सब अगर शिक्षा-साधना छोड़कर पार्टी पालिटिक्स की शिक्षा देने लगें तो और क्या होगा?"

भवतोष मास्टर की यही भंगिमा होती है। जब किसी विषय पर उद्दीप्त हो उठते हैं तो लगता है जैसे उनके सामने कोई प्रतिपक्षी खड़ा है।

किंतु क्या सचमुच सामने खड़े आदमी के कान में सारी बात घुस पाई है?

न, नहीं घुस पाई है। उसके कान में पहले जो एक खबर पड़ी उसी की चोट अभी तक दिल पर ऐसी पड़ी है कि कान ने काम करना बंद कर दिया है। और मन में अभी भी उस चोट की झनझनाहट गूंज रही है—'छ: महीने पहले ही रिटायर कर दिया।'

इसका मतलब कि लतिका का अनुमान सही है।

तो क्या करें? किस तरह इस विपत्ति से मुक्ति पाया जाय!

ठीक इसी समय लतिका कमरे में घुसी। एक हाथ में चाय का कप, एक प्लेट में दो-दो रसगुल्ले और दो-दो बिस्कुट।

उसने सेंटरपीस पर सावधानी से रखा। फिर थोड़ा-सा झुककर प्रणाम करके बोली—"आप अच्छे तो हैं न, बड़े भइया?"

सुबह के उगते सूरज जैसा मुंह।

परितोष चकित होकर उस मुंह की तरफ देखने लगे।

लतिका बोली—"रसोई में गैस खतम होनेवाली है। इसीलिए चाय के आने में इतनी देर लगी। तो आप बाजार का खाना तो पसंद करते नहीं हैं, इसीलिए मैं यही सब ले आई। जनता जलाकर जैसे-तैसे चाय बनी। इसके बाद चूल्हा जलाऊंगी तो खाना-पीना बनेगा।"

भवतोष हड़बड़ाकर बोल पड़े—"ठीक है, ठीक है। इतना काफी है।"

चूल्हा जलाना बहुत कठिन काम है, जानते हुए , कुछ कहना चाहते हुए भी वे उस विषय में कुछ बोल नहीं पाए।

लतिका ने एक और जादू दिखाया। परितोष की तरफ देखते हुए बहुत ही भोलेपन से बोली—''छुट्टी तो है न! जरा बाजार जाकर थोड़ी फ्रेश मछली ले आओ। बड़े भइया को फिर फ्रीज की मछली...अभी तक भूले नहीं होंगे। इलिश मिले तो बहुत बढ़िया। हालांकि साठ रुपए किलो से कम तो नहीं होगी। तो क्या हुआ, नयनपुर में इलिश-टिलिश तो मिलती नहीं होगी। बड़े भइया के बहाने एक दिन हम लोग भी इलिश खा लेंगे।''

भवतोष परेशान होकर बोल उठे—''नहीं-नहीं, मेरे लिए इतना सब करने की कोई जरूरत नहीं है। मतलब मैं...''

लतिका बोली—''नहीं-नहीं, कितने दिनों बाद तो आए हैं।''

परितोष कोई स्वप्न तो नहीं देख रहे?

निश्चित रूप से यही बात है। ऐसा नहीं होता तो यह सब कैसे सुन पाते—''आह! इलिश का माथा भूनकर कायदे से मसाला डालकर पुई की चच्चड़ी! बहुत दिनों से खाया नहीं गया। बड़े भइया आपको इलिश के माथे में मसाला डालकर बनी चच्चड़ी पसंद नहीं है क्या?''

''अरे नहीं, फिर बासी नहीं! किंतु मिलेगी कहां? आंगन में तो पुई का वृंदावन लगा हुआ है, किंतु इलिश? उसका तो नाम ही भूल गया हूं। आजकल नयनपुर की क्या हालत हो गई है अगर देखते। ...फिर परितोष, तुम लोगों को मिल ही जाती होगी, बाबा। बहू इतनी प्यार करती है!''

बहू अभिमान-भरे स्वर में बोली—''अपने भाई को मत कहिए। दिन-पर-दिन इतने कंजूस होते जा रहे हैं!''

परितोष नि:स्वास लेकर बोले—''कंजूस तो हूं। बाजार में क्या मिलता है, जैसे मुझे पता ही नहीं है। ...क्या कहूं , बड़े भइया, किस तरह घर चल रहा है, वो तो भगवान ही जानते हैं। यह जो तुम्हारी बहू है, बड़े शौक से टी.वी. ले आई...चारों तरफ से काटकर उसकी किस्त भरनी पड़ती है। इसके ऊपर एक साथ दो-दो बच्चों की परीक्षा की फीस भी जमा करने की तारीख नजदीक आती जा रही है। कहां से दूंगा, वो सब सोच-सोचकर परेशान हूं।''

बोलते-बोलते परितोष ने आत्मगौरव महसूस किया। चलो बाबा, बाद में लतिका यह तो नहीं कहेगी न कि तुम सख्त नहीं हो पाते हो।

बच्चों का नाम आते ही जैसे भवतोष चकित हो गए। बोल पड़े—''अरे वही तो। कहां हैं वे सब? तीनों में से एक भी नहीं दिखाई दे रहा!''

परितोष थोड़ा-सा इधर-उधर देखते हुए बोले—''लगता है, अभी जगे नहीं हैं।''

''आयं! यह क्या? अभी तक जगे नहीं? इस समय तक। ना, ना, वेरी बैड—इस

तरह की आदत तो ठीक नहीं है।''

परितोष ने परिस्थिति को संभालते हुए कहा—''रविवार पाए हैं न? और इसके अलावा रात में देर तक जागते रहे। सुबह सोए हैं...''

भवतोष गद्गद स्वर में बोले—''यह बात है। बहू, जरा उन्हें उठा दो तो। बाबूजी कहा करते थे कि—'सूरज उगने तक सोए रहने से उम्र घटती है।' तो किसकी कौन-सी परीक्षा है?''

''वही तो! शुभो और ध्रुव दोनों एक ही साथ माध्यमिक में हैं। शुभो एक साल क्लास में आगे नहीं बढ़ पाया...''

लतिका तपाक से बोल पड़ी—''क्लास में आगे नहीं बढ़ पाया, ऐसी बात नहीं है। बीमार हो गया था।''

''हां, हां वही तो। और टुकाई की तो रोज ही परीक्षा रहती है?''

''अरे बाप रे! वे सब इतने बड़े हो गए। अरे बहू, जरा बुलाओ-बुलाओ, देखूं तो। फिर मुझे आज जल्दी है।''

''जल्दी है!''

यह कैसी स्वर्गीय भाषा!

लतिका ने तो सोचा ही, शायद भवतोष ने भी यही सोचा, पूरे दिन की खातिरदारी से मुक्ति पा जाने की राहत-भरी सांस लेकर। अंतर्दृष्टि से देख ही सकते हैं—लतिका का उदास चेहरा, बच्चे-बच्चियों का अवज्ञा-मिश्रित विद्रूप हंसी हंसता चेहरा...

लतिका किस तरह भीतर-ही-भीतर भक्ति-गद्गद और उपकृत महसूस कर रही है—एह रहस्य है। मन-ही-मन सोच रही है कि चले जाने से दिन-भर की भाग दौड़ से बच जाएगी।

यह कोई लतिका के फौजी मझले भइया थोड़े न हैं कि अगर कभी घर में आ गए तो पूरे घर में खलबली मच जाएगी। लतिका कृतार्थ हो जाएगी, बच्चे-बच्चियों को मामा की महिमा सुनाते-सुनाते विगलित हो जाएगी और रसोई-घर में दामाद-सत्कार की तरह का समारोह चल पड़ेगा। यह तो परितोष के गांव के भाई हैं।

फिर भी परितोष क्षीण स्वर में बोले—''जल्दी है माने? बिना खाए चले जाओगे क्या?''

भवतोष विपन्न स्वर में बोले—''यही तो मुश्किल है। तुम्हारे भाभी की बहन लगातार चिट्ठी में लिखती हैं कि आप तो सात जनम में भी नहीं आएंगे। इस बार एकदम से चौंका देने के लिए कलकत्ते पहुंचकर उनके ही पास पहुंचूं और खाना-पीना भी करूं। अगर बात नहीं मानूंगा तो तुम्हारी भाभी भी गुस्सा होगी। इसके अलावा उनकी दीदो के घर जाने पर एक छोटा-सा काम भी है। तुम्हारी भाभी ने एक आर्डर किया है—क्यों रे? इतनी देर से सोए हुए जमींदार बाबू लोग नींद से उठ गए? अरे बाबा, रात को देर तक जगने से सुबह जल्दी जागना ज्यादा अच्छा होता है। सुबह-

सुबह दिमाग फ्रेश होता है। मैं अभी तुम्हारी मां से कह रहा था कि हमारे बाबूजी कहा करते थे कि सूरज निकलने तक सोते रहने से उमर घटती है। अरे बिटिया रानी, आ जा, आ जा, कितनी बड़ी हो गई है, आयं?"

परितोष के दोनों बेटे और बेटी 'हाय' बोलते-बोलते और आंख मलते-मलते आकर खड़े हो गए।

परितोष ने उम्मीद की थी कि शायद लतिका उन्हें प्रणाम करने के लिए इशारा करेगी, किंतु वह उम्मीद पूरी नहीं हुई। देखा कि लतिका ने भी 'हाय' किया। शायद चैन की 'हाय'।

बच्ची-बच्चे तीनों थोड़ी देर खड़े रहे फिर उल्टे पांव उसी दरवाजे से लौट गए जिससे आए थे।

पाजामे का पांव एवं झूलती हुई रस्सी को लटपटाते हुए देखते रहे एवं आवाक् हो गए। इस अवस्था में भी वे नीचे गिरकर बेहोश नहीं हुए।

लतिका उठकर खड़ी होती हुई आदर-अभियोग के स्वर में बोली—"तो बड़े भइया तो रुक नहीं रहे हैं। मैं सोच रही थी कि आज आपके साथ हम सभी मिलकर जो भी भला-बुरा होगा खाएंगे। लेकिन भाग्य में ही नहीं है। और एक चाय पीएंगे?"

भवतोष बोले—"नहीं-नहीं, बार-बार चाय पीने की आदत नहीं है।"

छाती पर से पहाड़ उतर जाने-जैसी अनुभूति लेकर लतिका भीतर चली गई। इसके बाद भी क्या, भाई को अकेला पाकर कुछ मांग बैठेंगे।

किंतु लतिका की गलतफहमी थी वह। भवतोष मास्टर मांग ही बैठे। भाई का हाथ पकड़कर दबे स्वर में बोले—"मेरी एक बात रखोगे परि!"

मोटी खद्दर की बनियान की भीतरी जेब से एक बंडल नोट बाहर निकालकर गंभीर निर्वेद स्वर में बोले—"इसे रख लो।"

कुल आठ एक सौ के नोट।

जबरदस्ती परितोष के हाथ में रखे जा रहे थे।

चकित परितोष हतप्रभ होकर बोले—"रख लूं मतलब?"

इतनी देर तक आवेग-रुद्ध भवतोष मास्टर अब अपने फार्म में आ गए थे। उसी सहजता से बोले—'रखो' मतलब 'रखो'। इसका और मतलब क्या है, रे?

फिर परितोष मूर्खों-जैसे स्वर में बोले—"रख लूं। इसके बाद?"

"हा - हा - हा"

"इसके बाद और क्या! हा-हा। खर्च करोगे।"

"तुम्हारा दिया हुआ पैसा मैं खर्च करूंगा?"

"क्या बात है! तुम्हारा और मेरा पैसा क्या है, रे परि? जरूरत के समय खर्च करने के लिए ही तो होता है पैसा!"

अब तक परितोष भी अपने फार्म में आ गए थे—"तुम मुझे देने के लिए पैसे

लेकर आए थे?"

"ओहो। क्या मुश्किल है! मैं वो तो नहीं कह रहा? एक फालतू काम के लिए आया था, वो कुछ ऐसा नहीं है। तुम लो तो। झटपट रख लो। इज्जतदार लोगों की आंखों से उतर जाने पर बेइज्जती होगी। मैं आजकल के लड़कों को जानता हूं।"

भवतोष मास्टर एक फालतू काम के लिए आठ सौ रुपए लेकर कलकत्ता आए थे? यह विश्वास करने लायक बात है?

परितोष ठंडे स्वर में बोले—"क्या मैं जान सकता हूं कि वह फालतू काम क्या है?"

"अरे बाबा, क्या बताऊं। तुम्हारी भाभी की उस दीदी का बेटा, कहीं नौकरी-चाकरी न मिलने के कारण एक स्टील फर्नीचर की दुकान किए हुए है। और वह खबर तुम्हारी भाभी के कान में पड़ी। उन्हें लगा कि उनका भाग्य खुल गया। उनको लॉकरवाली एक स्टील की आलमारी की साध थी। समझे बात! इसे ही कहते हैं न कि 'जल्दी में सुना तो खरीदा मुहल्ला।' पूरी जिंदगी याद नहीं आई, जब बहन के बेटा ने दुकान खोली तो...असल में उन्हें लगा कि बिना मुनाफे के दे देगा। अच्छी चीज दे देगा। वो सब बात क्यों सुनेगा, बल्कि मौसी को ही अधिक मूंड़ेगा। हुंह, सब समझता हूं। मैं सोच रहा हूं कि भाड़ में जाए औरतों की साध। रिटायरमेंट के समय बहुत पैसे मिले।"

परितोष गंभीर स्वर में बोले—"मुझे माफ कर दो बड़े भइया!"

"माफ कर दूं?"

भवतोष आहत स्वर में बोले—"इसका मतलब कि तुम्हें हमारे कारण ऐसा सोचना पड़ रहा है!"

"अरे नहीं रे!"

परितोष के टूटे-टूटे स्वर में सुनाई दिया—"भाभी की इतने दिनों की साध..."

"छोड़ो भी उसे। औरतों की साध पर ध्यान मत दो। साध का कोई हाथ-पैर होता है! सदा से मास्टर रहे एक आदमी का घर है, बूढ़े-बूढ़ी दो लोगों का परिवार—ऐसा कौन-सा राज-ऐश्वर्य है रे, कि एक लॉकरवाली आलमारी न होने से काम नहीं चलेगा? अरे हमारी जो कुछ संपत्ति है, सब इसी आलमारी में ही रखी जाती, रे परि, समझे?"

बोलते हुए भवतोष ने सहास अपनी छाती पर एक चपत लगाई।

"बड़े भइया!"

"ओह, फिर बच्चों की तरह बड़े भइया, बड़े भइया! इस समय चारों ओर से तुम्हारे ऊपर कड़की है, बच्चों की परीक्षा-फीस लगेगी, तुम्हें हरदम दुश्चिंता लगी रहती है। इससे जरूरी क्या तुम्हारे भाभी की स्टील की आलमारी ही है?"

हथियार

चलो, इतने दिन की लड़ाई खत्म हुई।

विजेता हाई कोर्ट से बाहर निकले।.

वकील और अटार्नी की चिकचिक खत्म हुई। यह चिकचिक कुछ कम दिन तो चली नहीं। दस साल। कितने-कितने पैसे उनके पेट में गए।

मुवक्किल को ठोंक-पीटकर और साहस-आश्वासन दे-देकर अगर एक मामूली घर के हिस्से के मामले को डिस्ट्रिक्ट कोर्ट से हाई कोर्ट तक ले आने का काम किसी ने किया है तो इन्होंने ही।

तो यह तो उनके पेशे में पवित्रतम कर्त्तव्य है। मुवक्किल की जिद-रूपी आग को जिलाए रखना। विशेषकर संपत्ति-सरीखे मामलों में। चाहे वह संपत्ति बड़ी हो या छोटी। संपत्ति मुख्य नहीं होती, मुख्य होता है विजय। अर्थात् जिद।

कभी घर के हिस्से की, तो कभी किसी दीवार में अवैध खिड़की खोल देने की, कभी भाई-भाई की, तो कभी भाभी-देवर की, कभी-कभी ससुर और भाई की पत्नी के भी मामले दस-बीस साल तक चलते रहते हैं। यह कोई नई बात नहीं है।

अगर मुवक्किल बोल भी दे कि 'छोड़ दीजिए , इस झंझट से मुक्ति मिले,' तो वे मन-ही-मन कहते हैं—'ऐसे कैसे छोड़ दें, बोलिए? आपकी जेब में जब तक पैसा है तब तक कैसे छोड़ दें?'

बैठकखाना रोड के 'घोष चौधरी' नामक मकान का राजेश्वरी घोष चौधरी बनाम इन्द्रनाथ घोष चौधरी के रिहायशी मकान के हिस्से का मामला इसी प्रकार दस साल तक चला।

जब लड़ाई शुरू हुई थी तो दोनों पक्षों के आत्मीयजन कौतूहल से गर्दन ऊंची करके देखने की चेष्टा करते थे कि कौन हारा, कौन जीता। किंतु लड़ाई लंबी खिंचती चली जाने के कारण वह कौतूहल क्रमशः धुंधला पड़ता चला गया। क्रमशः लोग भूल-से गए कि किसी मैदान में कोई लड़ाई भी चल रही है।

लेकिन लड़नेवालों के दैनंदिन जीवन में कोई त्रुटि नहीं दिखाई दे रही थी। विधवा राजेश्वरी घोष चौधरी सवेरे-सवेरे गाड़ी बाहर निकालतीं, थान की लकलक सफेद साड़ी पहनकर गंगा-स्नान के लिए जातीं। काली घाट जाकर माथा टेकतीं, काली को पूजा चढ़ातीं और इकलौती विवाहिता पुत्री को साल-छः महीने पर ससुराल से अपने यहां बुलाकर बेटी, दमाद को प्यार-दुलार करतीं।

बैचलर इन्द्रनाथ घोष चौधरी रोज सवेरे गाड़ी बाहर निकालते। पिता से विरासत में मिले जमींदारी के जमाने के प्रेस का काम देखने-संभालने चले जाते, वकील-अटार्नी से सलाह-मशविरा करते और शाम को नियमित रूप से दोस्त-मित्रों को लेकर

गाना-बजाना करते। उन्हें यही नशा था।

पिता जोगीन घोष चौधरी अपने मरने से पहले इस तरह की व्यवस्था कर गए थे—

तीन पुत्रों में से उस प्रेस पर मालिकाना हक होगा उनके द्वितीय पुत्र इन्द्रनाथ घोष चौधरी का और उसकी बाबत जो नगद पैसा जमा है वह सब प्रथम पुत्र की वधू राजेश्वरी घोष चौधरी को प्राप्त होगा। राजेश्वरी का खर्च उस पैसे के सूद से चलता और प्रेस की आमदनी से इन्द्रनाथ घोष चौधरी का।

किशोरावस्था में फुटबाल खेलते समय एक पैर में विकृति आ जाने के कारण इंद्रनाथ शादी करने को राजी नहीं होते। बोलते—"मुझे पता है कि हमारे समाज में लंगड़े-लूले की शादी के लिए भी लड़कियों की कमी नहीं है, लेकिन मैं तो खुद चलकर शादी के मंडप में खड़ा भी नहीं हो पाऊंगा। इसलिए यह अकेला जीवन ही ठीक है।"

किंतु सुख की कोई कमी नहीं थी।

सेनापति जोगीन घोष चौधरी के सामने विधवा राजेश्वरी विनम्र और डरी हुई एक बहू की तरह रहती थी, जबकि उसी समय उनकी बेटी का विवाह हो गया था। जोगीन घोष चौधरी की ही इच्छा से एकदम जल्दी-जल्दी में विवाह हुआ था।

और इन्द्रनाथ? दूसरी पत्नी के होने से क्या होता है, वे तो बचपन में ही मातृहीन हो गए थे। वे तो पिता के सामने कभी पड़ते ही नहीं थे। जो भी कहना होता था वह अपनी समवयसी सौतेली भाभी से ही जाकर कहते थे।

जोगीन घोष चौधरी में कई प्रकार के मुद्रा-दोष थे, कृपणता, दकियानूसी—और इन्हीं सब बातों को लेकर देवर-भाभी छुप-छुपकर खूब हंसी उड़ाते थे।

लेकिन उसी जोगीन घोष चौधरी के मरते ही दृश्य एकदम से बदल गया।

इतने दिनों का सख्यभाव सांप-नेवले के रूप में खड़ा हो गया।

हालांकि सबसे पहले आग लगाने का श्रेय राजेश्वरी को ही जाता है।

बोली—"सिर पर से छाता उठ गया है, अब घर में यार-दोस्तों को लेकर गाना-बजाना बंद करना होगा।"

'यार' शब्द सुनते ही दूसरे पक्ष के दिमाग में एकदम से आग जल उठी। इन्द्रनाथ बोले—"मेरे सिर पर तो कभी कोई छाता रहा ही नहीं। मैं खुद ही छाता थाम लूंगा। ये सब बंद-वंद नहीं होगा।"

"अच्छी बात है, बंद तो करना ही पड़ेगा। मुझे असुविधा होती है।"

देवर ने कहा—"गाने-बजाने से जिसे एलर्जी हो, वो अपने कान में रूई ठूंस ले।"

"कान में तो रूई नहीं ठूंस सकती, घर से बाहर भी नहीं निकल सकती, हमेशा बैठक में लोग जमे रहते हैं। तो तुम्हीं ऐसा करो कि घर के पिछले हिस्से में जाकर

अड्डा जमाओ। सामने मैं रहती हूं , मुझसे वो सब दृश्य देखा नहीं जाता।''

इसी तरह वाक्‌युद्ध चलने लगा—

इन्द्रनाथ बोले—''मामा के घर में मालिक। वे औरत होकर सदर दरवाजे पर रहेंगी, और मैं मर्द होकर घर के अंदर। मेरे बाप-दादाओं का घर है, इस पर सबसे पहला हक मेरा बनता है। उड़कर आकर बैठ गईं और ऊपर से फुटानी। औरतों को इतना घर से निकलने की जरूरत ही क्या पड़ती है?''

''बाहर नहीं निकलूंगी तो क्या हरम में बैठी रहूंगी? तुम्हारी फुटानी भी तो दूसरे की ही कमाई पर उड़कर आकर बैठकर ही है। अगर वे जिंदा होते तो मानने की बात भी थी। अब तो तुम्हें मानने की बात है, मुझे क्या? यह तो सभी जानते हैं कि बड़े का पहला अधिकार होता है। सामने का हिस्सा मेरे लिए खाली कर दो।''

''इतना इतराने की जरूरत नहीं है, मैं जहां रह रहा हूं , वहीं रहूंगा।''

''मैं अकेली विधवा हूं, मुझे अपनी देखभाल के लिए बेटी-दमाद को यहां रखना होगा। मेरा दमाद डाक्टर है, उसके लिए यहां एक चैंबर खोलना पड़ेगा। और उसी के लिए मुझे सामनेवाला घर चाहिए।''

''दमाद आकर यहां देखभाल करेगा? उनके बहुत मजे हैं न। कहावत है कि—'जन जमाई भागिना, तीनों होंय ना आपना'। बेटा, किरानी का बेटा, घोष चौधरी की डीह पर भेंड़ चराएगा? वो सब नहीं चल पाएगा।''

''तुम्हारे कहने से नहीं चल पाएगा, घर पर मेरा अधिकार नहीं है क्या?''

''है। उस रसोई घर, भंडार घर की तरफ अपने दमाद का चैंबर खुलवा दो। इधर सामने की तरफ नहीं मिलेगा।''

राजेश्वरी बोली-''अच्छा, देखो पाती हूं कि नहीं?''

राजेश्वरी ने मुकद्‌दमा कर दिया। उसमें कहा गया कि—

घर के सामनेवाले हिस्से में बैठकर छोटे मालिक के आदमी हमेशा, जब विधवा बहू शाम को पूजा-पाठ के लिए बैठती है तो गाली-गलौज करते हैं। शरारती लोगों के कारण हमेशा बहुत असुविधा होती रहती है। और अकेली महिला है। उसे एक अभिभावक की आवश्यकता है, उसके बेटी-दमाद उसकी देखभाल करेंगे। दमाद डाक्टर है, और उसके लिए...इत्यादि इत्यादि।

''मुकद्‌दमा ठोंक दिया है तो मामला तो तूल पकड़ेगा ही। इन्द्रनाथ घोष चौधरी तो और भी इतनी आसानी से सामने का घर छोड़कर भीतर जानेवाले नहीं हैं।

अगर ऐसा हो ही जाता तो यह सब मामला-मुकद्‌दमा आंखों का जहर बनता?

एक बार वकील-अटार्नी के हाथ में चले जाने के बाद पता थोड़े न चल पाता है कि अमृत है कि जहर है। डूब रहा हूं कि नहीं डूब रहा हूं। जरा देखूं तो पाताल कितनी दूर है।

शुरू-शुरू में राजेश्वरी के तीन खानदानों के आत्मीयजन राजेश्वरी का ही समर्थन

कर रहे थे। तोल रहे थे—''सही बात है, सिर पर कोई गार्जियन है नहीं। घर में बाहर के लोगों का हमेशा हो-हल्ला होता ही रहता है कि। इस लड़ाक इंद्रनाथ को तो बाहर घूमने-फिरने जाना नहीं है, घर में ही अड्डा जमाए रहना है, तो जाए घर के पिछले हिस्से में रहे। गर्मी के दिन, रास्ते पर का घर, बरामदे में मजलिस लगी रहती है, राजेश्वरी को घर में बाहर-भीतर आते-जाते देखकर क्या उन्हें अच्छा लगता है।''

किंतु दूसरे के गोशाले में कौन कितने दिन तक धुआं करता है?

इन्द्रनाथ के तो असल में दो ही खानदान हैं। असली तो शून्य ही है। पुरुष के लिए तो ससुर का ही खानदान असली खानदान होता है, जो उसकी स्वार्थ-रक्षा में यत्नपूर्वक लगा रहता है।

बाकी सब तो निभाते हैं।

रसोई अलग होगी? वह भी एक ही है।

जब मामले पर ठोकर पड़ी तो इन्द्रनाथ के हितैषियों ने (मुख्यत: पड़ोसियों ने। तीन लोगों का मुहल्ला हो तो भी वे पड़ोसी ही कहलाते हैं) गला फाड़-फाड़कर कहना शुरू किया था—''क्या आश्चर्य है! यहां एक ही रसोई घर है। उसकी कर्त्ता-धर्ता बड़ी मालकिन हैं। तो क्या ऐसे में शत्रुता करना अच्छी बात है?''

इन्द्रनाथ अवाक् होकर बोले—''क्या मतलब?''

''मतलब और क्या समझाएं? औरतें होती हैं काली नागिन की जात, दुश्मनी में जहर ही दे दे?''

''क्या? जहर?''

इंद्रनाथ हो-हो करके हंसते हुए बोले—''पागल की तरह बात नहीं करते। रसोई कहां एक है? उनकी तो रसोई कब से अलग है। एक वेला सादा विधवाओं का खाना खाती हैं।''

''कहने का मतलब ये है कि तुम्हारी व्यवस्था तो उनके ही हाथ में है?''

''तो किसके हाथ में रहेगी, जरा मैं भी सुनूं? अपने हाथ में ले लूं?''

''पागल को कौन समझाए , जब बुद्धि ही नहीं है तो...''

हितैषी विरक्त भाव से वापस लौट गए।

किंतु स्वयं असामी ही आकर बोला—''समझे छोटे बाबू , कल से आपकी रसोई अलग।''

''फिर तुम्हें यह सब परामर्श देने कौन आया था?''

''परामर्श देनेवाले लोगों की कमी है? जगह-जगह तुम्हारे शुभचिंतक जो बिखरे पड़े हैं? उन्हें तुम्हारी जान का भय नहीं है, कहीं दुश्मनीवश खाने में जहर मिला दिया तो?''

''तिल-तिलकर मरने से तो एक बार जहर खाकर मर जाना ही अच्छा है। वो सब कुतर्क छोड़ो।''

"किंतु क्या 'छोड़ो' बोल देने से ही छूट जाएगा?"

दोनों पक्षों के समर्थकों ने आंखें सिर पर चढ़ा लीं, गाल पर हाथ रख लिया। बड़ी मालकिन अभी भी प्यार से छोटे बाबू के लिए मछली काट-धोकर पंडिताइन को बनाने के लिए देती हैं।

यह सब क्या है? बेकार, ना टं, ना, इसका कोई गंभीर मतलब है?

इन्द्रनाथ के दो खानदानों में से पितृकुल में एक बुआ हैं, और मातृकुल में दो मौसियां। उन सबों ने बड़ी बहू का इस तरह व्यवहार देखकर सिहरित होकर कहा—"इन्द्र, तुम अभी भी सावधान रहो।"

फिर उस तरफ भी जाकर बोल आतीं—"इतने पर भी तुम्हें इंद्र के खाने को लेकर माथा खपाने की क्या जरूरत है, बहू? यह ढिठाई नहीं तो और क्या है!"

अतएव पुराने नौकर-चाकर, रसोई घर, भंडार घर समेत सारे घर पर इन्द्रनाथ का कब्जा हो गया। राजेश्वरी ने ऊपर दुमंजिले पर पूजा घर के सामने बरामदे में अपनी व्यवस्था कर ली।

बेटी-दमाद के आने पर?

राजेश्वरी बोली—"मेरे यहां तो मछली-मांस का कोई चलन है नहीं। इच्छा हो तो काका की तरफ जाकर पकवाकर खा लो, और नहीं तो इच्छा हो तो होटल से माछ-भात ले आकर खाओ!"

बेटी हमेशा से काका की अनुरक्त रही है, यह सब देख-सुनकर उसे अच्छा नहीं लगा, तभी भविष्य की रंगीन उम्मीदों के लोभ में उसने उनका समर्थन किया। पति का एक सुंदर-सा चैंबर, और घर के उस हिस्से में अपनी एक गृहस्थी और इस पूरी जमींदारी के जमाने के बड़े मकान पर अपना मालिकाना।

बेटी तुनककर बोली—"काका के पास कौन-सा मुंह लेकर खाने जाएंगे!"

"शर्म आ रही है तो मत जाओ।"

लेकिन इन्द्रनाथ घोष चौधरी नामक व्यक्ति को कोई शर्म नहीं है। उन्हें पता चला कि भतीजी आई है तो सवेरे-सवेरे उन्होंने आवाज लगाई—"ऐ बेबी, चाय बन गई है, आ जाओ। तुम्हारी पुजारिन मां के घर में तो चाय के साथ अंडे और फ्रेंच टोस्ट मिलेगा नहीं।"

जब तक घर का बटवारा नहीं हो जाता, तब तक सब कुछ एक ही है।

वही पुराना डाइनिंग हॉल, उसमें वही जोगीन घोष चौधरी का शौक से बनवाया हुआ मार्बल का गोल खाने का टेबल! आमिष भोजन इसके अलावा और कहां चलेगा?

पुराना रसोइया बोलता—"बेबी, जमाई बाबू के लिए बहुत बढ़िया मछली ले आता हूं। बहू-मां पैसा बाहर निकालो तो! ठाठ से सब बनाता हूं।"

राजेश्वरी पैसा निकालकर दे देती।

इन्द्रनाथ बोलते—"ऐ रामलाल, अगर उस पैसे से बेबी के लिए मछली ले आया तो तुम्हारा हाड़-मांस सब अलग कर दूंगा। मुझसे पैसे ले जाओ।"

रामलाल खुशी-खुशी दोनों लोगों के बीच डोलता रहता।

और जब खाना तैयार हो जाता तो उनके घर में जाकर हांक लगाता—"बिटिया, जमाई बाबू को लेकर आ जाओ, छोटे बाबू खाने नहीं बैठ रहे हैं।"

पहले जो जमाई बाबू थे, वे अब वैसे नहीं रह गए। बिटिया अपने दो साल के बेटे को लेकर अकेली जाती।

अतएव मामला जोर-शोर के साथ चलता।

जब तक मकान का बटवारा नहीं हो जाता तब तक यह स्थिति ठीक नहीं होनेवाली।

फिर राजेश्वरी को भी शर्म नहीं है।

वे अनायास ही गला फाड़कर बोल पड़ीं—"बेबी, खाने से पहले अपने काका के सोहाग के लिए एक नेवाला कुत्ते को खिला देना।"

सुनकर बेबी ने अपना माथा टेबल पर पटक लिया।

इन्द्रनाथ बोले—"सुन रही हो न, बेबी! तुम्हारी मां की बातचीत कितने सभ्य ढंग की होती है?"

बेबी अबोध की तरह बोली—"क्या करूं मैं, तुम लोगों ने इसी तरह बातचीत करने का तरीका अपना लिया है तो?"

"हम लोगों ने? फिर मैं क्यों? अपनी पुजारिन मां से कहो न!"

"झगड़ा तुम दोनों कर रहे हो, बाबा। तुम्हीं जाकर बोलो।"

"वो नहीं करूंगा तो क्या बड़ी मालकिन जो हुकुम कर रही हैं सब शिरोधार्य करता चला जाऊंगा? ले-ले, खा। चितल का पेट फर्स्टक्लास पकाया है। जमाई बाबू उस वेला तो आएंगे न?"

"बोल तो रहे थे।"

इन्द्रनाथ ने रामलाल को हांक लगाई—"इस टाइम जो-जो बना है सब जमाई बाबू के लिए फ्रीज में रख देना।"

"वो तो पहले से ही रख दिया है।"

यह सब औपचारिकताएं तो कब की बातें हैं! उसके बाद से तो गंगा का पानी कितना बह चुका। दस-दस साल कम तो नहीं होते!

राजेश्वरी के रोएं के बाल सफेद हो गए , इन्द्रनाथ के सिर के बीच का हिस्सा चिकना होने को आया। बेबी के और दो बेटे-बेटियां हो गए। और जमाई का सास के प्रति श्रद्धाभाव कम हो गया, उसने अपने मुहल्ले में आठ बाई आठ का एक कमरा लेकर चैंबर खोल लिया।

पहली अदालत में तो राजेश्वरी की ही हार हुई।

उस हार की खबर सुनकर इन्द्रनाथ ने ग्रामोफोन पर सज्जाद हुसैन की शहनाई बजाई थी, दोस्त-मित्रों को बुलाकर खिलाया था। बेबी और उसके पति को भी निमंत्रण भेजा था, लेकिन वे आए नहीं।

बेबी मां को कोसते हुए बोली थी—"लोग सुन-सुनकर हंस रहे हैं। काका के पक्ष में ही न्याय था! काका मर्द जो हैं।"

पुरुष होने से किसी का सिर खरीद लेंगे? प्रमुख हिस्सा बड़े का होता है। यह क्या कोई अन्याय की बात है?"

"हार तो गई!"

मां के हार जाने से बेटी का अपने पति के सामने क्या कम सिर नीचा हुआ है! फिर काका के सामने भी वह सहज ढंग से नहीं आ पाती।

मां अम्लान मुख से बोली—"हार गई-भर कह देने से मैं छोड़ दूंगी क्या? दादा के भी दादा बैठे हैं। निचले कोर्ट से हाई कोर्ट।"

फिर वही दादा की दादा से लड़ाई चली इतने दिन। दोनों कोर्ट मिलकर लगाए दस साल।

वही राज बाहर निकले।

राजेश्वरी घोष चौधरी बनाम इन्द्रनाथ घोष चौधरी के संपत्ति-संबंधी मामले में राजेश्वरी घोष चौधरी की जीत हुई।

इतने दिनों का लोगों का सोया हुआ कौतूहल फिर से जाग उठा। आज फिर सबकी चकित दृष्टि उस घर की तरफ उठ गई।

अंततः बड़ी मालकिन की जीत हुई!

तभी तो, देखते नहीं डागं-डडांग बाजा बजाती हुई कालीतला जा रही हैं पूजा चढ़ाने।

उनके मुकाबले इन्द्र की कैपिसिटी खत्म हो गई।

"कुछ भी कहो, वो औरत है बड़ी लड़ाकी। जब तक ससुर जिंदा था, भीगी बिल्ली बनी थी। ससुर के मरते ही अगिया बेताल बन गई। तुरंत गुरुदीक्षा ली, पाठ सुनने जाना शुरू किया, नित्य गंगास्नान। सारे शौक!"

पुराना मुहल्ला। तीन लोगों का निवास। भीतर-भीतर ज्यादातर लोगों की सहानुभूति इंद्रनाथ के प्रति ही थी—"कुछ भी हो, यह उसके ही बाप-दादा की चीज है। उस पर उसका ही ज्यादा अधिकार बनता है। मुहल्ले के ज्यादातर लोग उनके साथ खेले हैं।"

इस इंद्र से ठीक बड़े भाई चन्द्रनाथ जिस दिन शादी करके बहू लेकर घर में घुसे थे, तब उस सामने तक चन्द्रनाथ के लिए सजावट की गई थी।

उस बड़ी सड़क के फुटपाथ पर लोहे की खूंटी गाड़कर मार्बल के मोजैकवाला गाड़ी खड़ी करने के लिए एक बरामदा बनवाया था ठाकुर मालिक ने। उसी में देर

रात गए चन्द्रनाथ चन्द्रबदनी बहू लेकर उतरे थे।

पिता जोगीन घोष चौधरी दूसरी मालकिन से हुए नाबालिक बेटे को लेकर अंदरवाले घर में रहते थे। वह भी इतना खराब नहीं है। बड़ी-बड़ी खिड़कियां, दरवाजे, बड़े-बड़े कमरे। परंपरागत ढंग से सजे हुए। पीछे की तरफ भी बरामदा है, बरामदे में खड़ा होने से नौकरानियों के बर्तन मांजने का दृश्य दिखाई देता।

किंतु कुछ दिनों बाद ही सब उल्टा-पुल्टा हो गया।

बेबी के पैदा होने से पहले ही जोगीन घोष चौधरी की दूसरी पत्नी भी मांग में सिंदूर और पांव में आलता लगाकर कट ली। और बेबी के पैदा होने के कुछ ही दिन बाद चन्द्रनाथ भी। दो ही दिन के बुखार में।

जोगीन घोष चौधरी ने एक दिन गाड़ी से उतरकर घर के सामने देखा कि विधवा बहू बरामदे में खड़ी होकर रास्ते की तरफ एकटक देख रही है।

दूसरे दिन ही कमरा बदल गया, जगह बदल गई।

पिता पुत्र इसी सामनेवाले हिस्से में दखल जमा लिए। विधवा वह बच्ची और दासी लेकर अंदरवाले हिस्से में रहने चली गई। बहुत दिनों तक थे। उन्होंने बेबी की शादी भी देखी।

तभी से इन्द्रनाथ का इस तरफ शाम के वक्त नीचेवाले बरामदे में गाने-बजाने का अड्डा लगता आ रहा है। और सुबह, दोपहर को बड़े दो मंजिले गाड़ी खड़ी करनेवाले बरामदे में अड्डा जमता।

लड़ाका बदमाश पुरुष और करेगा भी क्या?

पांव ठीक होता तो मैदान छोड़कर क्या घर में आकर बैठता? फुटबाल में ही जान बसती।

लेकिन ऐसी निर्लज्ज औरत राजेश्वरी भी है कि ससुर के मरते ही सौतेले देवर के साथ लड़ाई ठान ली। पुराने अधिकारों की बात कि बड़े का प्रमुख हिस्सा होता है। एक समय में अधिकार था भी।

इतना प्यार, इतनी दोस्ती कि बाप से, ससुर से लुक-छिपकर दोनों का कुल्फी, बर्फ खाना, एक ही किताब को दोनों लोगों का साथ-साथ पढ़ना और भुट्टा, दालमोट खाना है कि नहीं, इस बात को लेकर घंटों तर्क-वितर्क करना, सब पानी में चला गया!

सब लोग यही सोच रहे हैं। अचानक वह संबंध सांप-नेवला के संबंध में बदल गया। आश्चर्य की बात है! पांच लोग सोच रहे हैं। और मुकद्दमे के राज बाहर निकलने की बजाय भीतर बैठे-बैठे उनके बारे में सोचना भी भूल गए हैं।

आज सुबह-सुबह कालीतला में डां-डडां, डां-डडां!

मुहल्ले में इस बात से किसी को भी खुशी नहीं है। होगी भी कैसे? एक जांबाज औरत की जीत को कौन पसंद करेगा। औरत भी पसंद नहीं करेगी। फिर भी बेबी और उसका पति खुशी मना रहे हैं। बेबी इतने दिनों बाद अपने पति के सामने आंख

उठाकर खड़ी हो सकी है।

बेबी चौड़े लाल पाड़ की गरद की साड़ी पहनी हुई थी, पति और बेटे बेटियों को सजा-संवारकर मां के साथ पूजा चढ़ाने गई थी।

जमाई ने कहा—"मां, पंडितजी से दिखवाकर कोई शुभ मुहूर्त नहीं निकलवाया?"

मां जैसे आसमान से गिरी—"किस बात के लिए? तुम्हारे बेटे के स्कूल जाने के लिए?"

बेटी बोली—"तुम भी कैसी बातें करती हो, मां, पिंटू तो कब से स्कूल जा रहा है, अब मुहूर्त की क्या जरूरत है? वे अपने चैंबर खोलने की बात कर रहे हैं।"

"ओ मां! वही तो!"

राजेश्वरी बोली—"मैं भी कहूं, किसलिए। वो तो याद ही नहीं रहा। वो बात छूट गई थी, तो छूटती ही चली गई। रुको भी, अभी इतनी जल्दी क्या है! शुभ दिन कोई भागा थोड़े न जा रहा है!"

पूजा चढ़ाकर दोनों हाथों में माला और प्रसाद लिए राजेश्वरी गाड़ी में चढ़ गईं। गरद की साड़ी पसीने से भीग गई थी। सूखे खुले बाल कंधे और पीठ पर फैले हुए थे। बेबी की भी वही हालत थी। सिर्फ यह था कि उसके माथे पर एक बिंदी अधिक थी।

गाड़ी से उतरकर राजेश्वरी ने बरामदे की तरफ देखा।

नहीं, बरामदे में कोई नहीं था।

विशुद्ध पुराने ढंग का बना हुआ था।

दालान के बीचोंबीच से सीढ़ी गई हुई है। थोड़ा-सा ऊपर जाकर बाएं की तरफ अंदर डाइनिंग हॉल।

दोनों हाथों में प्रसाद लिए राजेश्वरी ने डाइनिंग हॉल की तरफ आवाज लगाई।

बेबी बोली—"इस समय उस तरफ जा रही हो, मां?"

मां बोली—"ओ मां, तुम्हारे काका को मां काली का प्रसाद देने नहीं जाऊंगी?"

"काका को प्रसाद देने जाओगी?"

मां के ऊपर बेबी को बहुत गुस्सा आया।

"निष्ठुरता की भी एक सीमा होनी चाहिए।"

बोली—"काका को इस पूजा का प्रसाद देने जाने की क्या जरूरत है?"

मां बोली—"प्रसाद तो प्रसाद है, इस पूजा, उस पूजा से तुम्हारा क्या मतलब है, बेबी?"

"जाओ, ले जाओ। उठाकर फेंक देंगे तो तुम्हें अच्छा लगेगा न?"

"उठाकर फेंक देंगे? तो आकर देख तो कैसे फेंकते हैं।"

राजेश्वरी कमरे में घुस गईं। देखा कि इन्द्रनाथ अपने सारे बाजे एक जगह इकट्ठा कर रहे हैं।

राजेश्वरी बोलीं—"ए मां! तुमने तो अपने हाथ गंदे कर रखे हैं? लाओ मुंह खोलो। मां काली का प्रसाद है!। इसे तो बिना भय के खा सकते हो। इसमें तो जहर का भय नहीं है! मरने से मुझ पर खून का आरोप तो नहीं लगेगा!"

इन्द्रनाथ ने नि:शब्द भाव से स्वीकार किया।

राजेश्वरी बोली—"घर को इस ढंग से अस्त-व्यस्त क्यों कर रखा है?"

इन्द्रनाथ बोले—"कोशिश कर रहा हूं कि जितनी जल्दी हो सके खाली कर दूं।"

"तो यह सब ले जाकर रखोगे कहां?"

"जिस तरफ मुझे मिला है।"

"ओ मां! लो सुन लो बात! इसका मतलब उस तरफ से हमें खाली करना होगा?"

"कब तक कर पाओगी, बता दो?"

राजेश्वरी सामने आकर खड़ी हो गईं और इन्द्रनाथ की तरफ सर्वेक्षण-भरी निगाह से देखती हुई बोलीं—"इतने दुबले हो गए हो। मुंह सूखकर पिचक गया है। मर जाओगे। रामलाल को भेज दिया है गांव की जगह-जमीन, बगीचा-तालाब की रखवाली के लिए।"

"रामलाल की बात छोड़ो, अपनी बात बोलो। कब तक तुम लोग उस तरफ खाली कर दोगे?"

राजेश्वरी गंभीर भाव से बोली—"अगर कहूं, कभी नहीं तो।"

इन्द्रनाथ चकित होकर बोले—"हाई कोर्ट ने क्या तुम्हें पूरे घर पर विजय दिलाई है?"

चेहरे पर एक भय की छाया नाच गई।

राजेश्वरी छूत भूलकर उनकी चारपाई पर बैठती हुई बोली—"यही बुद्धि और मंसूबे लेकर तो 'लड़के लेंगे' का नारा लगाया था। हाय! हाय! "

इन्द्रनाथ ने धीरे से कहा—"पहले मुकद्दमा किसने किया था? तुम्हीं ने तो किया था?"

"क्यों किया था, बता दूं क्या?"

इन्द्रनाथ अवज्ञा के स्वर में बोले—"अहंकार, और क्या! हमेशा से तुम्हारे अंदर सोलह आने क्या, अठारह आने तो वही रहा है।"

"वो तो ठीक है। वही है यह अंहकार। मैं कहती हूं, कोई सहारा तो होना चाहिए न आदमी के पास! एक विधवा और सिर ऊंचा करके खड़ा हो सके उसके लिए उसके पांव के नीचे की जमीन सख्त होनी चाहिए कि नहीं? वही पांव तले की मिट्टी संभाल रही थी राजेश्वरी घोष चौधरी। अगर ऐसा नहीं करती, दिन-रात सुनसान पूजा घर में ही कैद रहती तो क्या उसे कोई इतना आदर-सम्मान देता? इस तरह पूजा करता? वो तो तुम्हें समझ में आएगा नहीं। फिर मैं तुम्हें साफ-साफ बात बता दूं, अब इस

जगह मान-मनौवल नहीं चलेगी। इतने दिनों से जहां जिस सिकड़ में बंधते चले आ रहे हैं, वहां से अब नए सिकड़ में आने की शक्ति नहीं रह गई है। जो जहां है वो वहां वैसे ही रहेगा, बस।''

''जो जहां है वो वहीं रहेगा?''

इन्द्रनाथ उठकर ऊंची आवाज में बोले—''और अगर मैं वह न मानूं तो?''

राजेश्वरी राजरानी की तरह हंसते हुए बोली—''तो फिर जाकर तुम राजेश्वरी घोष चौधरी के नाम अवैध कब्जा के आरोप में मुकद्दमा ठोंक आओ। इस तरह पांच साल और कट जाएंगे।''

इन्द्रनाथ फिर बैठ गए। गंभीर दृष्टि से देखते हुए बोले—''तो क्या इतने दिनों तक चलनेवाला यह नाटक झूठा था?''

''झूठा क्यों? जीत का कोई मतलब नहीं है? लड़ाई में जो मजा आया वो कुछ नहीं है?''

''और तुम्हारे दमाद का चैंबर?''

''जमाई का चैंबर! वो सच थोड़े न था। वो तो एक हथियार था। खेल के लिए एक छल की जरूरत होती है।''

ठट्ठा मारकर हंस पड़ीं।

''जमाई को ले आकर डीह पर प्रतिष्ठित करूंगी? इतनी मूर्ख समझ रखा है मुझे? मेरी भी कुछ स्वतंत्रता है कि नहीं?

भय

द्रवमयी के पोते-पोतियां शायद यह सुनकर हंसी उड़ाएं कि कभी द्रवमयी की उम्र भी अठारह साल की थी, किंतु यह सचाई है। अस्वीकार करने अथवा हंसी में उड़ा देने से चलनेवाला नहीं है। वह साल एक निशानी है उसके लिए।

उसी साल बड़ेवाले भूकंप में दादा ससुर के जमाने का ठाकुरदालान फट गया था, और एक दिन के ही बुखार में द्रवमयी का पहलौंठी बेटा कार्तिक मर गया था। ...तीन साल का लड़का...चांद जैसा था। पहले के दिनों की तरह उस दिन भी लाल बार्निश किए हुए पीढ़ी पर बैठकर 'बाघ और कौए' की कहानी सुनते-सुनते भात खाया था, दूसरे ही दिन उसका नामोनिशान इस दुनिया से मिट गया।

कोई कहता—"डाइन की नजर लग गई थी", कोई कहता—"कोई हवा-बतास का असर लगता है", कोई कहता—"चोर सन्निपात था शायद।" कारण को लेकर विस्तार से तर्क-वितर्क हुए, समय से क्या-क्या और किन-किन बातों की सावधानियां बरती जानी चाहिए और ऐसे में किन-किन जगहों पर कवच बांधने चाहिए थे—कितने ही उदाहरणों का सहारा लेकर कुछ दिनों तक् आलोचना चलती रही और अंततः भाग्य और भगवान को दुहाई देकर सभी निश्चिंत हो गए...सिर्फ एक द्रवमयी ही निश्चिंत नहीं हो सकी।

निरंतर वही एक चिंता। द्रवमयी पागल हो गई।

द्रवमयी को यह विश्वास दिलाना कठिन हो गया था कि यह लाल पीढ़ी ऐसे ही दालान की दीवार पर टंगी रहेगी, अब इस पर खाने के लिए पत्तल नहीं बिछ पाएगा। ...न तो वह रोती, न चिल्लाती, पागल की तरह सिर्फ बेटे को खोजती फिरती। पुराने जमाने के जमींदारीवाले मकान में सारा दिन खोजते-खोजते थककर पड़ जाती। ...सवेरे-सवेरे हाथ में कपड़े, जूते और टोपी लिए दरवाजे के पास आकर खड़ी हो जाती। जिसको भी देखती पुकार-पुकार कर उद्विग्न स्वर में पूछती—"कहीं 'कातू' को देखा है? जरा बाहर देखो न, लगता है बछड़े के साथ खेलते-खेलते कहीं दूसरी तरफ निकल गया है।" ...सांझ होते ही रसोई घर के पास आकर खड़ी हो जाती और हड़बड़ाते हुए पूछती—"पंडिताइन, अभी भात नहीं पका? कातू सो जाएगा...।" रात को सोने से पहले नारान जब दरवाजे में कुंडी लगाते तो द्रवमयी अवाक् होकर बोलती—"वो क्या, कुंडी क्यों लगा रहे हो? कातू उस कमरे में सो रहा है, बाद में मौसी पहुंचा जाएंगी!"

सास, चचिया सास सभी मिलकर शुरू में तो बोलती—"आहा", लेकिन बाद में बोलने लगीं—"विचित्र है!"

छोटी उम्र में शिशु-शोक होने पर हर भाग्यवती को ऐसा ही होता है।

किंतु द्रवमयी जैसा विस्मयकारी व्यवहार कभी किसी ने किया है?

ससुर, संबंधी सभी ने उत्कंठित होकर वैद्य बुलवाया, किंतु द्रवमयी को औषधि न खिला सके। ...की तबीयत खराब है कातू की और औषधि खाएगी द्रवमयी, यह कहां का उल्टा-पुल्टा नियम है। द्रवमयी पहले हंसी, फिर रोकर सबसे अनुरोध करने लगी—"कविराज महाशय से ज़रा कहिए न, कातू को कोई अच्छी-सी दवा दे दें—लड़का कितने दिनों से बीमार पड़ा है—एक तो उपवास कर-करके कमजोर होता चला जा रहा है।"

नारान विव्रत होकर अपने आपको कष्ट देकर भी पत्नी को सांत्वना देने को कोई उपाय नहीं सोच पाए...यद्यपि बुजुर्गों के बीच कुछ कर भी नहीं पा रहे थे। हठात एक दिन द्रवमयी ऐसा कार्य कर बैठी, जिसकी न तो आशंका थी और न ही किसी ने सोचा था।

रात में सभी लोगों के सो जाने के बाद, छत का बारजा तोड़कर छत पर बच्चे को ढूंढने के लिए चली जाएगी द्रवमयी, ऐसा किसी ने कभी सोचा भी नहीं था।...

आश्चर्य यही है कि छत से बगीचे में गिर पड़ने के बाद भी द्रवमयी मरी नहीं? बेहोश-भर होकर रह गई। पूरे शरीर की गोरी चमड़ी कांटों की चोट से लाल पड़ गई थी, सिर फट जाने के कारण उस पर से बाल छीलकर पट्टी बांधे जाने के कारण चेहरा वीभत्स हो गया था।

घाव सूखने में महीना-भर लग गया...और पता नहीं किस तरह स्वस्थ होने के साथ-साथ धीरे-धीरे द्रवमयी भी स्वाभाविक स्थिति में आने लगी।

उस सर्दी के बाद कई सर्दियां बीतीं, कई वसंत बीते। पता नहीं किस विस्मृति के गर्त में दबकर रह गया कातू। एक के बाद एक बेटों के बाद एक बेटी पैदा हुई—'शैली'।

शैलबाला!—तीन लड़कों के बाद लड़की पैदा हुई थी, नाम रखकर छोड़ देने के सिवा और उपाय ही क्या था! लेकिन इस तरह की लड़कियां रहती कहां हैं? जब वह चार साल की हुई थी तो द्रवमयी ने अपने ही हाथों परंपराभंग करते हुए नए पैटर्न का हार गढ़वाया था उसके लिए , बड़े लगन से लाल डोरे की साड़ी, उसी समय बेटी के लिए खरीद दी थी—किंतु बेटी मां का प्यार सहन न कर सकी, चल बसी।

द्रवमयी इस बार फिर पागल नहीं हुई, बल्कि रो-रोकर आंखों का रोग पाल लिया। बेटी के कपड़े, खिलौने, गुड़िया सब बक्से में बंद कर देगी, नहीं, मुहल्ले में बांट देगी, अपनी आंखों से उन्हें दूर कर देगी, नहीं, हमेशा अपनी छाती से लगाकर आंसू बहाती रहेगी, यही सब हिसाब करते-करते छः महीने बीत गए। ...इसके बाद और हिसाब करने का अवसर ही नहीं बचा—गोद में सुधालता आ गई।

काली लड़की।

तो क्या हुआ, जिंदा रहना सबसे बड़ी बात है। सुंदरता की अब कोई लालसा

नहीं है। काली लड़की को पाकर रूपसी लड़की का शोक भूल गई द्रवमयी।

भाग्य की विडंबना है!

जैसे सुंदर बेटे द्रवमयी की गोद में व्यंग्य करने के लिए आए। 'आनन्द' और 'गोविन्द' दोनों जीवित बेटे एकदम काले हैं, जबकि कातू और शैली-जैसे सुंदर बच्चे आते ही...सुधालता के बाद भी जो बच्चा पैदा हुआ, उसे भी नहीं बचाया जा सका।

किंतु पेड़ पर लगनेवाले सारे फल क्या बचे ही रहते हैं?

शायद द्रवमयी के व्यवहार में सचमुच सामंजस्य का अभाव है।

बत्तीस साल की उम्र में छः महीने के बच्चे के लिए इतनी हड़बड़ी मचाई हुई है द्रवमयी कि शोक भूलकर नारान को धमकी दे रही है। धमकी सुनने में रूढ़ लग रही है, किंतु क्या ऐसा चर्बी चढ़ा विशाल शरीर लेकर द्रवमयी खोलना-फेंकना, लोटना-पोटना शुरू कर देगी—दूसरे मुहल्ले के लोग ऐसा मर्मांतक विलाप सुनकर और अपनी मौत की कामना का दृश्य देखकर क्या अच्छा समझेंगे?

धमकी खाकर तो नहीं, किंतु समय के बदलाव के साथ-साथ सहज हो गई। कहावत है कि 'काल के घर में चिकित्सक नहीं होता।' ...परिवार में रहकर उदासीनता, पति के रहते विरक्ति, तीन बच्चों के बाद बंद। अगर सभी बचे रह गए तो सुधरने में कितने दिन लगेंगे।

उनके बाद के दिन एक निरवच्छिन्न समारोह में कटे।

चार बेटे-बेटियां और पैदा हो गए , और पृथ्वी के आलोक वातास के भागीदार बनकर वे जीवित भी रह गए। सबके साथ मिलकर आनंद की कोई सीमा नहीं रही। ईश्वर की दया से अर्थाभाव भी कभी नहीं हुआ।

चार बेटे...तीन बेटियां...उनका भात-पानी, शादी-विवाह...नया जमाई, नई बहू...फिर उनके बाल-बच्चे, पोते-पोतियां...सांस लेने-भर की भी फुर्सत नहीं थी।

जैसे एक विराट कर्मचक्र एक लंबे कालखंड से दुरंत वेग से द्रवमयी को पक्का करता चला आ रहा है।

प्रचंड आंधी-तूफान?

कुछ-न-कुछ तो आ ही रहा है।

चक्रवृद्धि गति से वंशवृद्धि होती चली जा रही है। किंतु अब भी द्रवमयी का वक्ष मजबूत था। उसकी सात संतानें और प्रत्येक का एक-एक भरा-पूरा परिवार। दिन-पर-दिन जीवन-संचय बढ़ता ही जा रहा था।

सहज-सांसारिक ज्ञान भी बढ़ता जा रहा था।

छोटे बेटे की बहू इरावती भ्रातृशोक के कारण छूत मनाती हुई सात दिन तक कोई काम-काज न करने की ठानकर बैठ गई तो द्रवमयी को बहुत गुस्सा आया। बात को शुरू में टालने के सिवा और कोई चारा भी तो नहीं था, अगर न भी बोलें तो मन की कुंठा बढ़ती जाएगी। ...कुंठा ही किसके लिए? इरावती के लिए तो सब कुछ

अशुभ ही है, भाई-जैसा भाई होता तो कोई बात भी थी—तीन साल का अभी आंख फोड़ा हुआ एक बच्चा, उसके लिए इतना? और यह द्रवमयी है—मां, बाप, भाई, बहन, कितने गए—जिसके घर में पति नहीं, वे भी चले—द्रवमयी ने कितने दिन तक घर में शोक मनाया था!

जीवन का सूर्य तब मध्य आकाश में हुआ करता था।

सुधालता की बेटी के विवाह की बात चल रही है—उसके सास-ससुर नहीं हैं, सारा भार उसने मां के सिर मढ़ दिया है। ...बड़े बेटे आनन्द ने पुराना घर तोड़कर एक विशाल नए घर की तैयारी शुरू कर दी है—उसकी भी समूची व्यवस्था द्रवमयी के ऊपर ही है। ...छोटी बेटी पद्मलता दो बार जुड़वां बच्चा पैदा करने के बाद स्वास्थ्य-लाभ के लिए तो आई ही हुई है, साथ ही अपने सभी बच्चों को देखभाल के लिए मां को सौंपकर निश्चिंत हो गई है। लौटना भी नहीं चाहती। ...

गोविन्द, मुकुन्द मुरारी, स्नेहलता—उनके भी जीवन में कितनी इच्छाएं हैं, कितनी मंशाएं हैं। द्रवमयी को सांस लेने की फुर्सत नहीं थी। घर में इतनी अंक-वृद्धि हो गई थी कि किसी क्षति को बहुत मामूली समझकर अवहेलना कर देने की क्षमता उसमें विकसित हो गई थी।

किंतु विधाता के विद्यालय में परीक्षाओं की कमी नहीं है। जबकि कितनी चोटें खा-खाकर, कितनी परीक्षाओं से गुजरते हुए , वह मजबूत हो चुकी है। तभी साठ साल की उम्र में अचानक एक चोट लगी द्रवमयी को।

गृह-प्रवेश के एक दिन पहले ही, जब सारे आयोजन समाप्त हो चुके थे, आनन्द को हार्ट अटैक हुआ और उसे हास्पिटल में भर्ती करवाना पड़ा। परीक्षा बहुत कठिन थी, पास होना इतना आसान नहीं था, द्रवमयी यह परीक्षा भी फेल कर गई।

शायद उस प्रचंड शोक को सभी लोग भूल चुके थे, किंतु तब तक घर और बाकी सबके बीच द्रवमयी की स्थिति भयावह हो चुकी थी।

प्रचंड शोक। उन्माद-शोक!

पति के मरने पर इसके चवन्नी-भर भी दुःखी नहीं हुई थी द्रवमयी। होती भी कैसे, बेटे-बेटियों का मुंह देखकर रह गई थी। सोलहों आना मां के ऊपर ही वे आश्रित थे। किंतु आनन्द? मुंह से न बोलते हुए भी, मन-ही-मन सबको पता था कि आनन्द इन सबका आश्रय था। सबसे मूल्यवान।

क्या केवल आर्थिक रूप से ही मूल्यवान?

नहीं। सिर्फ कमाऊ होने के नाते ही नहीं।

ऐसा आत्मभोला, सदाशिव और कौन है? चार भाइयों के परिवार को, भाई की तरह नहीं, बल्कि मां का दायित्व निर्वाह करते हुए , कौन मूर्ख सब कुछ अपने माथे ले लेगा? और कौन इस तरह की समूची पारिवारिक सुख-सुविधाएं जुटाएगा? द्रवमयी की इच्छा, अनिच्छा और नाना प्रकार की झंझटों को कौन सुलझाएगा?

आनन्द के चले जाने के बाद अब द्रवमयी को सहारा कौन देगा?

किंतु आश्रय भंग करना तो विधाता का खेल है। तभी तो द्रवमयी रह गई, आनन्द चला गया ...जो बेटा कातू का रिक्त स्थान भरने आया था, यदि वह चला ही गया तो मां के लिए कुछ शक्ति भी छोड़ जाता? जिस घर के सपने लिये वह दिन-रात सोता तक नहीं था, उसी घर में एक बार कदम तक रखने की किस्मत नहीं हुई? ...आनंद के कल्पना-प्रसूत घर का गृह-प्रवेश द्रवमयी करेगी?

इतनी आसानी से नहीं जाया जा सकता था। पहले तो द्रवमयी की जिद तोड़ना दुःसाध्य हो गया था।

उस घर की मिट्टी पर वे किसी को कदम नहीं रखने देगी। अन्न-जल त्याग करके वे खुद ही मिट्टी हो जाएगी, बेटों, बहुओं, बेटियों ने एक जीवंत मनुष्य की हत्या होते देखकर अनुनय-विनय, उपदेश और अश्रु-जल से मनाने की कोशिश की—किंतु द्रवमयी अटल रही।

द्रवमयी ने लज्जापूर्ण जीवन से मुक्ति पाने के लिए , मृत्यु को अपने पास बुलाने का अच्छा तरीका खोज निकाला था। किंतु इस संकट से रक्षा की गुरुदेव ने। गोविन्द की बहू ने बुद्धि लगाई थी कि शांतिपुर जाकर गुरुदेव को लाया जाय।

गुरुदेव के अनुरोध पर अनशन टूटा।

फिर भी तुरंत उसने गृह प्रवेश नहीं होने दिया। पहले तीर्थ-पर्यटन के लिए निकली। जब सात महीने बाद बाहर-भीतर दोनों तरफ से शांत होकर लौटी तब उसके मन में 'आनन्द भवन' में गृह-प्रवेश को लेकर कोई दुविधा नहीं रह गई थी।

वह आज से बीस साल पहले की बात है।

और आज से बीस साल बाद?

जब द्रवमयी सोचती है तो उसे कोई ओर-छोर नहीं मिलता।

कौन किस फांक से टपाटप निकल गया, हिसाब करना ही शेष रह गया है। सुधालता को सिंदूर, आलता, फूलों के हार से सजाकर अभी विदा करके आकर सांस भी ठीक से नहीं लेने पाई थी कि स्नेहलता के लिए पुकार पड़ गई।

पद्मलता को तो घर से भी बुलावा नहीं आता? रात के अंधेरे में—ठंड से बदन बर्फ होता जा रहा है...सुनसान रास्ते पर विद्युत गति से गाड़ी भागती चली जा रही है...ठंड लगते ही द्रवमयी को यह बात याद आई। और याद आया बहुत रात गए गाड़ी पर चढ़ना।

किंतु पद्मलता फिर कभी सजी? उसने खुद ही सजावट के इतने सारे सामान तो इकट्ठे कर लिए हैं। द्रवमयी के सामने ही तो। मारे ममता के किसी ने कुछ कहा नहीं। सत्तर साल की उम्र में भी लोहे की तरह मजबूत शरीर लेकर पूरी रात सजी-संवरी बैठी रहेगी द्रवमयी, तो कौन उसके ऊपर ममता व्यक्त करेगा?

द्रवमयी का हार्ट इतना मजबूत है, जबकि उतने ही कच्चे हैं उसके बच्चे। एक-

एक कर निकलते चले गए? मुकुन्द को क्या पड़ी थी, सोए-सोए एकदम से सोए रह जाने की?

साल और तारीख अब द्रवमयी को याद नहीं। आखें सही-सलामत, खाने-चबाने की शक्तिवाले दांतों के होते हुए भी पता नहीं किस तरह उसकी स्मरण-शक्ति क्षीण होती चली जा रही है।

बहुत दिनों तक रोग से जूझते रहने के बाद गोविन्द भी चला गया। शिवरात्रि के दीए की तरह सिर्फ मुरारी टिम-टिम कर रहा है। मुरारी की बहू उसके पास नहीं आती। गोविन्द की बहू ही कभी-कभी सास के मुंह के सामने अपने हाथ नचाते हुए बोलती—"बहुत तो हो गया, अब कैसे होगा? अब तो जो थे वे भी चले गए , लेकिन इस शरीर का जो हाल है, मैं देख रही हूं—यह और भी मजबूत होता जा रहा है! मैं कहती हूं , मां, किस हिम्मत से भात खाती हो? धन्यवाद देती हूं बाबा लोभ को! सिर्फ वही अभी नहीं बना हुआ है, बल्कि पाचन-शक्ति भी जस-की-तस बनी हुई है!

स्वभाव से रुग्ण गोविन्द की आमदनी हमेशा से बहुत कम रही है, इसीलिए गोविन्द की बहू को सदा से द्रवमयी ने दुर्दशा में डाले रखा है, शायद इतने दिन से वह इसी का बदला ले रही है।

द्रवमयी कभी तो चुप मार जाती है, कभी रोज-रोज के अभ्यास और अनुभव के कारण जल-भुनकर बोल पड़ती है—"इतनी बड़ी बात तुमने मेरे लिए कह दी, मझली बहू? मैं पूछती हूं , इतना बड़ा चैलेंज किस बात की?"

—"मुझ आया को चैलेंज! मैं तो हमेशा से किसी बांदी की तरह रही हूं। फिर भी अपने हक की बात बोले बिना रहा नहीं जाता। छोटे ठाकुर के जिंदा रहते ही आपका मर जाना उचित था।"

उचित!

द्रवमयी अवाक् होकर मझली बहू के चेहरे की तरफ एकटक देखने लगी। उचित-अनुचित का सवाल इसके मन में कैसे उठा?

मनुष्य क्या इसीलिए जीता है?

जो चले गए वही क्या उचित-अनुचित की विवेचना करके स्वेच्छा से गए? अपनी समस्त प्रिय वस्तुएं यम के हाथों में सौपकर, क्या उसके प्राण चैन से हैं? उस दुर्दांत ज्वाला को कौन समझ सकेगा?

समझाने का कोई उपाय भी तो अब नहीं है।

खाना-पीना त्यागकर आमरण अनशन पर बैठ जाने की भी तो शक्ति अब नहीं रही। अब तो एकादशी का दिन आता है तो दिल कांप उठता है। जो चले गए उनका नाम ले-लेकर रोने-चिल्लाने की भी तो शक्ति चली गई है।

अब सिर्फ भूख और लालच बढ़ गया है।

खाने का समय जैसे-जैसे बीतता है, आखों में आंसू उतर आते हैं। जब गोविन्द

की बहू पत्थर की एक बड़ी थाली में श्राद्ध की दान-सामग्री की तरह खाना ले आकर बहुत ही तुच्छता से बोलती है—"लीजिए उठिए। दस बजे नहीं कि चौदह बार रसोई घर में पियादा जा चुका। अकेला हाथ है, इसके पहले कूटना-पीसना पड़ता है कि पहले भात ही बना कर दे दें! बस मरूंगी नहीं, यही सब देखने को बची रहूंगी"—तब खाना उठाकर फेंक देने की प्रबल इच्छा होते हुए भी उसे दबा देती है, हालांकि न तो कलंक का भय होता है और न तो लाज का, बल्कि भूख की प्रबलता होती है।

थाली के पास बैठकर मूर्ख की तरह हंसते हुए बोलती है—"कौन गया था तगादा करने? गौरी? इन लौंडियों को तो और कोई काम है नहीं—जैसे मैं दो घड़ी बाद भात न खाऊंगी तो मर जाऊगी! खुद के लिए तगादा करना होगा, सो तो वे कहेंगी नहीं!"

"हां, आपके मरने के भय से तो सभी सूखकर कांटा हो गए हैं!" बोलकर मझली बहू मुस्कराती।

द्रवमयी को यह उम्मीद कतई नहीं है कि उसके मरने के शोक में कोई रो-रोकर धरती भिगो देगा, किंतु शोक जैसी हास्यास्पद बात को क्या इतनी निर्लज्जता से याद दिलाना आवश्यक है?

घर में कुछ विशेष करने की शक्ति तो द्रवमयी में रही नहीं, फिर भी एक बार घर से बाहर निकल जाने पर भी बहुत अच्छा लगता! किंतु कोई उसे कुछ करने नहीं देता। किसी काम में हाथ लगाती तो ऐसे हां-हां करने लगते, जैसे उसने कोई पाप कर दिया हो।

कष्ट होगा! कष्ट होगा! मेरा कष्ट सोच-सोचकर तो महारानी लोगों को नींद नहीं आती। सब छल है। द्रवमयी का घर में कोई हस्तक्षेप नहीं बस, इतने से मतलब है।

घूम-फिरकर मुरारी के पास जाकर बैठ जाती है।

वह कोई काम-काज नहीं करता। डाक्टरों ने उसे पूरी तरह आराम करने को कहा है। पास आकर बैठ जाने से मुरारी भी थोड़ा व्यस्त हो जाता है, इरावती मुंह बिचकाती हुई उठकर चली जाती। ...घर के बारे में एकाध कुशल-क्षेम की बातें करके द्रवमयी उठ जाती, बाकी बातें कहने की उसकी हिम्मत नहीं होती। कुछ और इच्छा नहीं है—मुरारी को देखने हमेशा झकाझक डाक्टरों के दल आते जाते रहते हैं—उनसे अपने-आपको भी एक बार दिखाने की इच्छा है द्रवमयी की। ...पता नहीं क्यों छाती में एक दर्द-सा बना रहता है, खड़े होने पर हाथ-पांव कांपने लगते हैं। सूरज की रोशनी धुआं-धुआं-सी दिखाई देती है, परिचित लोगों का चेहरा स्पष्ट दिखाई नहीं देता, यह सब डाक्टरों के अलावा और कौन समझ सकता है!

आश्चर्य है, इतनी बार डाक्टर आते हैं, लेकिन द्रवमयी पर किसी का ध्यान ही नहीं जाता!

बोलने को सोचते-सोचते चुप हो जाती! डाक्टर का आना-जाना भी बंद हो गया।

गोविंद की बहू के सामने अब द्रवमयी मुंह दिखाने लायक नहीं रही।

जो बचा था वह भी खत्म हो गया, अपनी ही कोख से जन्मा मुरारी भी चला गया। 'अब मुरारी नहीं रहा', वह यह बात बार-बार सोचने की चेष्टा करती, लेकिन उसका कोई अर्थ उसे नहीं समझ में आता। ...फिर भी आंखों के आंसू इस तरह क्यों सूख गए? बेटे के शोक में रो भी नहीं पा रही?...

सामान्य रूप से, या शायद अकारण भी, आंखों में आंसू आ जाते हैं, और इतनी बड़ी जरूरत के समय भी नहीं आ रहे? आश्चर्य है!

सब कुछ जैसे धुआं-धुआं, अस्पष्ट...कितने लोग, कितना कोलाहल...इन लोगों के बीच द्रवमयी कहां है? मूर्ख की तरह बैठी-बैठी देखती रहने के अलावा कर भी क्या सकती है?

किंतु छाती के भीतर का दर्द ऐसे बढ़ गया है—इसे रोका नहीं जा रहा। शायद किसी अच्छे डाक्टर का इलाज होता तो...

मुरारी का श्राद्ध धूमधाम से हो।

इरावती की इच्छा थी। 'आदमी-जैसे आदमी थे—आदमी की तरह श्राद्ध होना चाहिए।'...बूढ़ी मां की आंखों के सामने ही सब कुछ हो रहा है, किया भी क्या जा सकता है! बूढ़ी मां अगर 'अमर' होने का वरदान लेकर धरती पर आई है—तो सब कुछ को रोककर तो रखा नहीं जा सकता?

इतना बड़ा काम है घर में और द्रवमयी निश्चिंत होकर अपने कमरे में बैठी रहे! एक छोटी-सी लाठी हाथ में लेकर ठुक-ठुक करती हुई सब व्यवस्था देखती हुई घूमती फिर रही है।

आज उसे कोई मना नहीं कर रहा है।

शायद सभी इतने व्यस्त हैं कि किसी का ध्यान ही उस तरफ नहीं जा रहा है। इस अबाध स्वतंत्रता का सुयोग पाकर द्रवमयी उत्साहपूर्वक मालिकाना दिखाती फिर रही है। लगता है, अवश्य ही यहां नए नौकर-चाकर काम करने आ गए हैं, नहीं तो घर का कोई आदमी तो कुछ सुनता ही नहीं है।...

किंतु अचानक पता नहीं क्या गड़बड़ी पैदा हो गई—छत पर लोग भरे हुए हैं, खाना खा रहे हैं। ...इतने लोग क्यों हैं? इतने लोग जुटकर क्यों खा रहे हैं? किसकी शादी है?...शादी नहीं है?...श्राद्ध? किसका? मुरारी का? कौन मुरारी? द्रवमयी उनको नहीं जानती क्या?... दीए की लौ की तरह सारे लोग, घर, दालान, छत सब कुछ कांपने लगा...साथ-साथ हाथ की लाठी और हाथ-पैर भी।

हाथ की लाठी छूटकर गिर गई। वह भी गिर पड़ी।

किंतु क्या सहानुभूति है किसी को? घर के लोगों को खयाल ही नहीं है? खट-खट करते हुए तुम्हें घूमने की क्या जरूरत पड़ी थी? लोगों को मुंह दिखाने की प्रवृत्ति

भी है न? धन्यवाद!... मुहल्ले के लोग आहें क्यों नहीं भरेंगे? कलंकिनी जो बनी हुई है!

सहानुभूति न होने के बावजूद लोग पास आकर खड़े हो गए। जो लोग खाने पर बैठे थे, उत्कंठित होकर उठ गए। ...मुहल्ले के मशहूर वैद्य वहां आ गए , वे अभी खाने नहीं बैठे थे, भीड़ को ठेलते हुए आकर नाड़ी देखने लगे। थोड़े ऊंचे स्वर में बोले—ताकि अर्द्ध चैतन्य आदमी के कान में आवाज पहुंच सके—"क्या? क्या तकलीफ है? मेरी तरफ देखिए..."

मूर्ख की तरह चारों तरफ आंखें फैलाकर द्रवमयी ने देखा ...कांपते स्वर में बोली—"कौन, भूषण? डाक्टर साहब नहीं आए?..."

'डाक्टर साहब' से मतलब था कि चकचक सूट पहने स्टेथिस्कोप गले में लटकाए जो डाक्टर मुरारी को देखने के लिए आते-जाते रहते थे। भूषण कविराज हंसते हुए बोले—"डाक्टर साहब को आप क्या करेंगी?"

"एक बार छाती ठीक से देख लेते, कोई अच्छी दवा दे देते मुझे।"

आंखों से आंसू छलककर गालों पर बह आए।

अच्छी दवा का नाम सुनते ही पोते-पोतियां धीरे-से हंस पड़े।

भूषण कविराज वैसे ही थोड़े ऊंचे स्वर में बोले—"मैं आपको अच्छी दवा दे दूंगा, क्या तकलीफ है आपकी छाती में, पहले बताइए तो मुझे..."

"समझ नहीं पा रही, बाबा, पता नहीं इधर-उधर कैसा तो हाहाकार मचा हुआ है, मन पता नहीं कैसा हो रहा है... ठीक तो हो जाऊंगी न?"

भूषण कविराज इस बार हंस पड़े। ऊंचे स्वर में ही बोले—"अभी भी आपको ठीक होने की इच्छा है? उमर तो अब काफी हो गई है।"

निष्प्रभ दोनों आंखें आश्चर्य से फैलाकर पागल की तरह द्रवमयी ने उनकी तरफ देखा—"उमर! हां वो तो अब काफी हो गई है, बाबा। ...जीने की अब कोई इच्छा नहीं है...लेकिन मौत से बहुत डर लगता है... बहुत डर लगता है... जरा ठीक से देखकर मुझे कोई अच्छी दवा दे दो न, भूषण!"

छिन्नमस्ता

धूप पेड़ के माथे से होकर आंगन के कोने में पड़ने लगी है ...अभी-अभी स्कूल में घंटी लगने की आवाज सुनाई पड़ी है। दस बजेवाली गाड़ी से वर-वधू आनेवाले हैं। स्टेशन से घर तक पहुंचने में अधिक से अधिक आधा घंटा और लगेगा, इससे ज्यादा नहीं।

इसलिए अब बहुत समय नहीं है।

जयावती ने जल्दी मचाई हुई है—"तुम्हारा अल्पना रचने का काम और आगे नहीं बढ़ा, मंटी? बहू आकर क्या गीले पिठार पर पांव रखेगी? ...अल्पना सूखकर चमक उठेगी तभी तो 'बहू-छत्र' में बहार आएगी।"

मंटी कलकत्ते में अपने मामा के घर रहकर स्कूल में पढ़ती है।

हाल ही में रवीन्द्र जन्मोत्सव के अवसर पर अल्पना रचकर, विशेष ख्याति अर्जित करके लौटी है। सुना है, उसकी सहपाठिनी मल्लिका घोष इसका सारा क्रेडिट बंद कली के समान मंटी की उंगलियो के पोर को देती है, लेकिन ऐसी कोई ध्यान देने लायक बात है नहीं।

पुत्री गुणगर्विता मंटी की मां अल्पना रचना के लिए मंटी को लेकर जयावती के घर आई हुई है। जयावती का इकलौता बेटा शादी करके बहू के साथ आज घर लौट रहा है।

किंतु स्कूल से सीखा हुआ हुनर आज बहुत काम नहीं आ रहा है।

इतने बड़े आंगन को देखकर ही जैसे बेचारी की हंफनी छूटने लगी है।

स्कूल के दुमंजिले हाल में पालिश किए हुए मेज पर हल्के हाथों, ब्रश से बनाना अलग बात है और इस विशाल पत्थर-जड़े पक्के फर्शवाले आंगन में भर्ती कर-करके लता-पद्म आंकना अलग बात।

'चंपाकली घिस-घिसकर' केला हो गई है। इधर जयावती अलग से जल्दी मचा रही है। मंटी मां के ऊपर जल-भुन रही है।

जयावती पर भी कम गुस्सा नहीं है—'बोलना तो बहुत आसान है, खुद करके एक बार देखिए ना'...इसी तरह के अनेक मनोभाव लिए अंत तक हर जगह एक-जैसे ही चित्र आंकती चली जा रही है। हालांकि आधुनिक-अत्याधुनिक सब तरह की नक्काशी का उसे ज्ञान है, किंतु आज उसे कुछ भी नहीं याद आ रहा।

इधर जयावती हाथ मलती जा रही है।

मंटी की तरह बंद कली के समान पोरवाली उंगलियां तो नहीं हैं, फिर भी शिल्पचातुर्य में जयावती की ख्याति कम नहीं है। विवाहोत्सव, पूजा-पाठ आदि में उसे अड़ोस-पड़ोस के मुहल्ले से निमंत्रण आते रहते हैं। जयावती वैवाहिक समारोहों में

तो फूलों की सेज सजाकर, छेने का हंस, खीर की मछली, मक्खन का कमल, मूंगदाल का मयूर आदि बनाकर ससुरालवालों को आश्चर्यचकित करती रही है।

आज से पहले दूल्हे के नाश्ते की प्लेट में क्या वह कम शिल्पकारी करती रही है?

इसके अलावा, अल्पना! पीढ़े पर की अल्पना तो है ही, फर्श पर की अल्पना भी।

वह सचमुच प्रशंसा करने के लायक कार्य होता था। कितने घरों में उसने मिट्टी के आंगन में गोबर-मिट्टी से लीपकर ऐसे-ऐसे 'बहू छत्र' बनाए हैं कि देखनेवाले देखते ही कह उठते कि —'जयावती के निपुण हाथों के स्पर्श से निर्जीव आंगन भी जैसे विहंस पड़ा हो।'

और, यह तो पत्थर से बना पक्के फर्श का आंगन है—जिसे बेटे के मैट्रिक पास करने के साल ही जयावती ने नया बनवाया था, इस मधुर कल्पना के साथ कि बहू आकर इसमें खड़ी होगी।

किंतु, बचपन से ही दूसरों की बहुओं लिए 'बहू-छत्र' रच-रचकर अपना हाथ पक्का कर लेने के बाद भी, आज अपनी पुत्रवधू आने के शुभ अवसर पर अब हाथ बंटाने का उसे अधिकार नहीं रहा। विधाता ने वज्रपात कर दिया है उन हाथों पर।

बेटे की किशोरावस्था से ही उसके विवाह को लेकर पति के साथ कितनी आशा-आकांक्षाओं, परामर्श और नोंक-झोंक-भरी रातें उसने काटी हैं। इकलौती संतान को लेकर दोनों प्राणियों की आकांक्षाओं का कोई ओर-छोर नहीं था। किंतु सारी आशाएं भस्म कर चले गए देवनाथ।

जयावती के लिए बचा रह गया सिर्फ उदास उत्तरदायित्वों का बोझ।

आज उसके लिए बेटे का विवाह सिर्फ रंगीन कल्पना नहीं, बल्कि कठिन कर्त्तव्य बना हुआ है। जब तक सारा काम ठीक ढंग से संपन्न नहीं हो जाता, उसके लिए खाना-सोना हराम है।

बहू-वरण करने आई पड़ोसी की देवरानी कनकलता खस-खस करती एकदम नई बनारसी साड़ी में सजी हुई आवाजाही लगाई हुई थी। विमलेन्दु की स्कालरशिप से पैसे बचाकर बड़े शैक से जयावती ने यह साड़ी खरीद रखी थी कि इसे ही पहनकर विमलेन्दु की बहू का वरण करेगी।

उसने वही साड़ी संदूक से निकालकर कनकलता को दे दी है।

कनकलता आंचल संभालती हुई दूध-आलता की थाली खींचकर बैठती हुई खुशामद-भरे स्वर में बोली—"ये कोई तुम्हारा हाथ थोड़े ही है, मझली दीदी कि एक पल में सारा कुछ हो जाएगा।"

जयावती मंटी की मां के भौंचक चेहरे की तरफ देखती हुई तुरंत बोल पड़ी—"छोटी बहू की भी बातें निराली होती हैं। एक बूढ़ी औरत के साथ उस बच्ची की तुलना? यह जितना कर रही है इतने समय में, वही बहुत है। गाड़ी का समय

हो गया है, मैंने तो इसलिए हड़बड़ी मचा रखी है।''

कनकलता ने हवा का रुख भांपकर बात के ताप को मोड़ दिया—''वो तो है ही, वो तो है ही! तुलना नहीं—मैं तो ऐसे ही बोल रही थी। कैसी विडंबना है कि हमेशा जो सरपंच हुआ करता था, आज अपने ही घर में चोर बना बैठा है। कहां आज तुम यह चेली साड़ी पहनकर बहू-बेटे को वरण करने के लिए...'

''छोड़ो भी, छोटी बहू, वो सारी बातें। जाकर देखो तो दूध उफनने का क्या हुआ? डालिया में बहू के पांव रखते ही उफन जाना चाहिए।''

सस्ते करुण-रस की प्राप्ति के लिए अंतर्मन की गंभीर वेदना के साथ खिलवाड़ करने की प्रवृत्ति जयावती की नहीं है।

व्यवस्था ठीक करने-कराने के क्रम में ही वर-वधू आ पहुंचे।

'कैसी मूर्त्ति हुए आए तुम, स्मृति में भी बसे नहीं'—प्रेमीजनों के लिए कही गई कविगुरु रवीन्द्रनाथ की यह उक्ति बंगाली घरों में सास-बहू के संबंधों को लेकर सहज भाव से कही जाती है। बेटे के विवाह की कल्पना के केंद्र में अधिकांश पुत्रवती मांओं को जीवन की समस्त आशा-आकांक्षाएं क्या साकार होती नजर नहीं आतीं? नौजवान बेटे की मां के मन में जिस तरह की मूर्त्ति की कल्पना होती है, क्या वह एक पंखहीन परी की नहीं होती?

कल्पना की कोई लगाम तो होती नहीं, तभी तो उस मानस-मूर्त्ति को लेकर कितने सपने और खुशफहमियां लीलायित हो उठती हैं! निजी जीवन के कड़वे अनुभव और चैतन्य प्रतिज्ञाएं आत्म-विश्वास की भित्ति पर दृढ़ होने लगती हैं। वे सबको दिखा देंगी कि पराई बेटी को कैसे अपना बनाया जाता है। उन्हें उनके ऊपर तरस आ रहा है जो बेटे का विवाह करके 'बहूकंटकी सास' की संज्ञा प्राप्त करती हैं। उन लोगों के ऊपर उनको गर्व हो रहा है जिन्होंने काली-कलूटी बदसूरत और अकर्मण्य बहू को भी स्वीकार किया है।

रास्ता-घाट, हाट-बाजार कहीं भी जैसे ही कोई सुंदर लड़की दिखाई देती है लोगों के मन में उसके खानदान, जाति, गोत्र आदि सब जान लेने की इच्छा प्रबल हो उठती है। विशेषकर जयावती-जैसी एक बेटे की माओं के मन में—जो किसी खूबसूरत लड़की के साथ बेटे का गठबंधन करके उसे दुनियादार बना देना ही अपना परम कर्त्तव्य समझती हैं।

किंतु भावात्मक स्वप्न की मूर्त्ति जब सचमुच साकार होकर आती है। तब?

नहीं, यह बात ठीक नहीं है कि—उसके साकार होते ही अनेक समस्याएं खत्म हो जाती हैं। आजकल की लड़कियां तो पहले पति को ही वश में कर लेती हैं—और फिर सास को! यों कहें कि साकार नहीं होतीं, बल्कि मूर्तित होकर आ खड़ी होती हैं।

फिर बाद में उसे नियंत्रित करने की कोशिशें की जाती हैं, और न हो पाने पर आरोपों-प्रत्यारोपों की बौछारें शुरू हो जाती हैं।

फिर, विमलेन्दु की बहू की तरह कोई नववधू आते ही अपनी शालीनता का दृष्टांत प्रस्तुत करे तो, वह तो महलों से भी कम है। शहर की लड़की पता नहीं अनुशासन मानेगी कि नहीं, इसी संदेह के कारण जयावती ग्रामीण-परिवेश की लड़की ले आई थी, लेकिन प्रतिभा ने तो आते ही शहर को भी अंगूठा दिखा दिया।

क्या कभी कोई नई-नवेली दुल्हन इस तरह सास को सुनाकर पति से जबान लड़ाती है—'मैंने सुना था, यहां की स्थिति बहुत अच्छी है—जो अच्छी स्थिति है, वो तो है ही—मैं देख ही रही हूं! घर में एक बड़ा शीशा तक नहीं है, जहां खड़े होकर बाल संवारे जा सकें। पहले घर-बार ठीक किया जाता है, तब किसी शरीफ घर की लड़की को लाया जाता है—समझे? बाहरी दरवाजे और खिड़कियों पर फटे कपड़ों के पर्दे लगे हुए हैं। हंसी आती है।'

दालान में झाड़ू लगाते-लगाते जयावती के कानों में यह बात पड़ी।

पहला धक्का था, इसलिए जयावती के झाड़ू लगाते हाथ अवश होकर रुक गए। इसके पहले इस इलाके में जयावती सजने-संवरने के मामले में शौकीन मानी जाती थी। उसके सभी टिन-भांडे अनुकूल रंगों से रंगे हुए। शेल्फ, आलमारी, बोतल, कांच के जार सभी कुछ एकदम झकाझक—चमाचम। जयावती का घर-द्वार सब साफ-सुथरा, फिट-फाट। ट्रंक, बक्से, संदूक, दराज सब साड़ी के सिले कवर से ढके हुए। बिछौने साफ-सुथरे। तकियों के गिलाफ पर झालरें लगी हुईं। ये सब अपने 'देश' में कितने लोगों के पास होता है?

यह सोचकर कि अभी बहू आएगी, अपनी पुराने जमाने की साड़ियों को काटकर जब उसने दरवाजे और खिड़कियों पर पर्दे लगाए थे तो देखकर पड़ोसियों को ईर्ष्या होने लगी थी। लोग कहते थे—"बहू ही आ रही है, कोई रानी तो नहीं, इतनी सजावट-बनावट किसलिए!"

जयावती ने यह घर इतने अरमान से इसलिए नहीं सजाया था कि ये रईसजादी देखकर हसें। जयावती ने यह सुनने के लिए अपने कान लगाए रखे कि देखें विमलेन्दु क्या जवाब देता है, लेकिन उसके गले से तो कोई आवाज ही नहीं निकली।

स्कालरशिप पाकर जयावती का ग्रेजुएट बेटा क्लास नाइन की एक घमंडी लड़की के आगे गूंगा हो गया है क्या?

वह गूंगा नहीं तो और क्या हो गया है? बार-बार प्रतिभा का ही तो स्वर सुनाई दे रहा है ..."मुझे तो यह सोच-सोचकर कि इसी अजपाड़ा गांव में रहना होगा, मेरे आत्मापुरुष की हड्डियां चरमराने लगती हैं। किसी ने कहा था, हमारा हुगली का मुहल्ला भी ...गांव? ज्यादा बकवास मत करो! कैसा, और कैसा! हुगली में क्या-क्या नहीं सुना था? नल का पानी, लाइट, फैन किस चीज का अभाव है? पिताजी की तरह बुद्धू जो था। शादी करने के लिए कोई और देश नहीं मिला था—त्रिवेणी में ब्याह!...फिर तो सुना है, ...यहां जानलेवा मलेरिया भी होता है। मर जाऊंगी और क्या!"

हमेशा शांत और शिष्ट रहनेवाली जयावती के ठंडे खून में जैसे आग लग गई हो। जिस बेटे से उसने कभी ऊंची आवाज में बात न की हो, उसी के प्रति मन में एक कड़वी गाली उच्चरित हो आई।

विमलेन्दु की जीभ में क्या लकवा मार गया है? तभी तो एक भी बात का जवाब नहीं दे पा रहा है। ...जयावती क्या करे, पर्दा हटाकर अपने ही बहू-बेटे के कमरे में घुसकर उचित जवाब भी तो नहीं दे सकती।

बेशक नहीं दे सकती, किंतु बातों का समुचित उत्तर उसके बेचैन मन के भीतर खदबदा रहा है।

रोज की तरह झटपट झकाझक मांजे हुए घड़े को लेकर घाट पर जाने की इच्छा और शक्ति दोनों समाप्त हो गए हैं।

विमलेन्दु के लिए यही बहू मिली!

यही है जयावती की लंबी तपस्या का फल? जीवन-भर का आशा-कुसुम?

तभी तो आमने-सामने उससे कुछ नहीं कहा जा रहा। उन्नीस-बीस का व्यवहार कर पाने में भी अक्षम। विमलेन्दु से वह कुछ कहेगी, कहीं ऐसा संभव है?

यदि विमलेन्दु ही उल्टा यह बोल दे—'क्या तुम छिप छिपकर बहू-बेटे के कमरे की बातें सुन रही थी?' तो?

अत: मन का गुस्सा मन में ही दबाकर रोज की तरह शाम के नाश्ते की प्लेट लगाकर स्नेहिल स्वर में बहू को आवाज देना होगा। नाश्ते को लेकर की गई उसकी शिकायतें और टीका-टिप्पणी भी सुननी होगी।

किंतु भीतर-भीतर कड़वाहटें घुलती चली जा रही हैं। बहू को अपना बनाने के वे सारे नेक खयालात कहां उड़े जा रहे हैं?

बारह-चौदह दिन बाद विमलेन्दु बहू को मायके पहुंचाने के लिए कलकत्ते चला गया।

जयावती ने जैसे चैन की सांस ली।

लेकिन ऐसा क्यों हुआ? विमलेन्दु के लिए जयावती का मन कुछ अजीब-सा क्यों नहीं हुआ—विमलेन्दु की विदाई के झटके से जैसे बैठने-बैठने को हो आया हो? उत्सव खत्म होने के बाद जैसे निमंत्रित व्यक्तियों को विदा करने में होती है, वैसी ही एक स्वाभाविक प्रतिक्रिया हुई। बहू की तरह विमलेन्दु भी जैसे कोई अतिथि रहा हो।

यद्यपि विमलेन्दु की पढ़ाई के समय से ही जयावती उसकी विदाई को एक उदास पर्व जैसा मानती रही है। तीन दिन पहले से ही उसका रोना-धोना शुरू हो जाता था। इस बात को लेकर उसे पति से कितने तिरस्कार भी सहने पड़ते थे।

उठते-बैठते उफन पड़नेवाला वह समुद्र आज कहां सूख गया?

बत्तीस नाड़ियों के बंधन से मुक्त करने के बाद भी—न जाने किस अदृश्य डोर के बंधन से मां बेटे को बांधे रहती है, आज वही बंधन पता नहीं किस आघात से टूट गया है।

क्या इतने दिनों की अव्यवस्थित गृहस्थी को व्यवस्थित कर लेना ही इतना जरूरी काम था जयावती के लिए , कि बहू-बेटे के घर की चौखट लांघते न लांघते एक तरफ से उलट-पलटकर सब कुछ को सुव्यवस्थित करना शुरू कर दिया?

मुक्ति की इच्छा तो स्वाभाविक है, किंतु उसकी सहज प्राप्ति संभव है क्या? उसे आसानी से पचाकर बैठे रह पाना संभव है?

दो महीने बाद ही जयावती को खुद ही बहू को घर ले आने की बात उठानी पड़ी थी। लगा जैसे विमलेन्दु हाल ही में छुट्टियों में घर आया था। बेटे के लिए जयावती का मन भीतर-ही-भीतर दुखी हो उठा।

मां की तरफ अब जो निगाहें उठ रही हैं, उनमें क्या शिकायत नहीं हैं?

हमेशा घर आने पर रात को खाने के समय मां के साथ कितनी बातें किया करता था। सारा मुहल्ला सो जाया करता था, लेकिन जयावती के घर में तीन दिन के खर्च के बराबर एक दिन में ही मिट्टी तेल खर्च हो जाया करता था।

इस बार पांच मिनट में ही जल्दी-जल्दी खाकर विमलेन्दु ऊपर अपने कमरे में चला गया। मां से कुछ बात भी नहीं की। जयावती अवाक्, बेटे को जाते हुए , रास्ते की तरफ देखती ही रह गई।

देर रात गए जब जयावती सारा काम-काज निपटाकर ऊपर आई तो देखा कि बेटा नींद में बेसुध पड़ा सो रहा है। सिरहाने लेटरपैड और खुला हुआ फाउंटेनपेन पड़ा हुआ है। लालटेन के सामने किसी किताब की आड़ लेकर वह सो गया है।

जैसे वर्षों की नींद से लड़ते-लड़ते थककर सोया हो, जैसे परीक्षा की तैयारी करते समय लालटेन के सामने किताब से आड़ करके सो जाया करता था। जयावती ने आकर बिखरे हुए कागज-पत्रों को बड़ी सजगता से उठाया और कापी-किताब एक तरफ रखकर लालटेन बुझा दी।

वह चुपचाप बगल के कमरे में आकर दीए की लौ कम कर बिस्तर पर पड़ गई। ओह! तो बाबू साहब बहू को चिट्ठी लिख रहे थे! तभी तो मां से थोड़ी-सी बात भी करने की फुर्सत नहीं थी।

दूसरे दिन ही जयावती ने बेटे से बहू को ले आने के लिए कहा था।

विमलेन्दु तो जैसे पहले से ही तैयार बैठा था। शर्म प्रदर्शित करने के लिए भी एक बार उसने नहीं कहा कि अभी कुछ दिन और रुक जाओ न, मां, इतनी भी क्या जल्दी है?

विवाहिता इस बार घर में पत्नी बनकर पधारी थी।

पत्नी बनकर आते ही प्रतिभा के व्यवहार में सोलह आना कौन कहे, अट्ठारह आना अधिकार की भावना दिखाई देने लगी। इस बहू के प्रति समाज के सामने कितने दिन तक सद्व्यवहार प्रदर्शित किया जा सकता है? नई बहुरिया में थोड़ी-सी शर्म, नम्रता और कुण्ठा होती है कि नहीं? प्रतिभा ने क्या किसी के घर में नई दुल्हन को नहीं देखा है?

प्रतिभा का चपड़-चपड़कर बातचीत करना, धम-धम पैर पटकते हुए चलना और काम-काज—सब कुछ लापरवाही से भरा होता है। अभी बहू को आए पांच दिन भी तो नहीं हुए थे। शनिवार को बेटा घर आया था। वेमलेन्दु के लिए कुछ खाने-पीने को ले आए—यह सोचकर जयावती ने जल्दी-जल्दी हाथ-पैर धोकर कपड़े पर पानी छिड़का और रसोई घर में घुसी तो देखकर अवाक् रह गई।

प्रतिभा चाय का पानी चढ़ाकर नमकीन के लिए मैदा गूंथ रही थी।

थोड़ी देर जयावती चुपचाप खड़ी देखती रही, फिर कठोरतापूर्वक बोली—"अनधुले कपड़ों में ही तुमने नमकीन मैदे का बर्तन छुआ है, बहू?"

प्रतिभा नमकीन मैदा के बर्तन को कलछी से ठोकर मारती हुई बोली—"अनधुले कपड़े का मतलब क्या होता है? आपके सामने ही तो धुले कपड़े पहनकर आई थी, दिखाई नहीं दिया?"

देखूंगी कैसे नहीं, कोई अंधी तो हूं नहीं। पहले तो तुम्हारे सारे कपड़े उसी एक अलने पर टंगे रहते हैं। और तुम उसी समय तो कपड़े पहनकर बिस्तर पर बैठी थी!"

"आपके यहां धुले कपड़े पहनकर एक ही पांव पर खड़ा रहा जाता है क्या? मुझे तो पता ही नहीं था।" इतना कहते हुए चौकी-बेलन छोड़कर प्रतिभा उठ खड़ी हुई। उसका चेहरा गुस्से से लाल हो गया था। गोरा रंग आरक्त हो उठा था।

चाय का पानी उफन-उफनकर चूल्हे पर गिरने लगा था। जयावती मूर्ख की तरह खड़ी रही। करे भी क्या? बहू को खुशामद करके बुला लाए या उसके द्वारा छोड़े गए काम को खुद ही पूरा कर ले?

दोनों ही असंभव है।

अचानक क्या देखती है कि चाय-नाश्ता किए बगैर विमलेन्दु उठकर बाहर चला गया है। यह उसकी जिंदगी में पहली ऐसी घटना थी।

इसमें कोई शक नहीं कि बहू ने ही बढ़ा-चढ़ाकर बातें बताई होंगी।

दिन ढलने लगा है।

किस तरह बेटा धीरे-धीरे दूर होता चला जा रहा है और बहू का आधिपत्य बढ़ता चला जा रहा है, लाचार-सी जयावती आक्रोश-भरी निगाहों से देखती चली जा रही है।

विमलेन्दु हर शनिवार को तो आता ही है, रविवार को रुककर सोमवार को

भोरवाली गाड़ी से कलकत्ते वापस चला जाता है, लेकिन कितनी बातें कर पाती है जयावती? अपनी आंखों से कितनी बार देख पाती है उसे?

घर आने पर कमरे में घुसने से पहले जो दो-एक मामूली औपचारिक कुशल-क्षेम की बातें हो जाती हैं तो हो जाती हैं। नहीं तो इसके बाद उस 'इष्टदेवी' के मंदिर में घुस जाने पर बेटे का पता भी नहीं चल पाता।

रात के दस बजे जब जयावती खाने के लिए आवाज लगाती, विमलेन्दु नीचे उतरता और चुपचाप खाना खाकर उठ जाता।

अभी भी जयावती पुरानी आदतों के अनुसार बेटे की पसंद की चीजें बनाती तो अवश्य, किंतु पहले की तरह अब उसके पास गाल पर हाथ रखकर बैठकर सब कुछ खिला देने की इच्छा जैसे नहीं रही।

ठीक ढंग से न खाने पर वह गुस्से में तुनककर खड़ी हो जाती है।

एक दिन तो जैसे फूटकर बरस ही पड़ी—"अगली बार से जब घर आओगे और तुम्हारी बीवी खाना बनाएगी न, तब देखूंगी कि कैसा स्वाद होता है और कैसे पेट भरता है।"

विमलेन्दु इस बात से बिल्कुल भौचक रह गया। मुड़कर मां की तरफ ज्वलंत निगाहों से देखते हुए बोला—"तुम्हारा मन आजकल इतना संकीर्ण क्यों होता जा रहा है! मुझे आश्चर्य हो रहा है!"

अपमान से आहत जयावती वहीं खड़ी रही। उसका चेहरा काला पड़ गया था। उसे कोई उत्तर नहीं सूझा। उत्तर दे भी तो किसको? बेटा तो उसी समय ऊपर अपने कमरे में चला गया था।

अजपाड़ा गांव के मुहल्ले की महिलाओं का आपस में मिलना-जुलना, उठना-बैठना सब कुछ पंरपरागत है, विशेषकर किसी आयोजन में इकट्ठा होना। किसी के घर नई बहू का आना तो बहुत बड़ा उपलक्ष्य होता है। बहू देखने के लिए मुहल्ले की महिलाएं झुंड बांधकर जयावती के घर आती रहती हैं।

जयावती दूसरों के सामने अपने को छोटा नहीं करना चाहती, इसलिए वह उनके सामने अपनी बहू की प्रशंसा ही करती रहती है। लेकिन इस तरह की अंत:सारहीन कृत्रिम भाषा को समझने-भर की बुद्धि इस 'देश' की बारह बरस की लड़की को भी होती है।

वे सब, जो बातें जयावती से जानी जा सकती हैं, जानतीं। फिर बाकी जानकारी संग्रह करने के लिए ऊपर बहू के कमरे में भी दस्तक देने से नहीं चूकतीं। वहां से भी कुछ-न-कुछ मसाला मिल ही जाता।

प्रतिभा इतनी-सी भी गरज नहीं समझती कि मुहल्ले के लोगों के आने पर उनके सम्मान में आसन-पीढ़ा भी दे दे। और फिर अगर कोई ऊपर उसके कमरे में जाकर

गुपचुप बातें करता है तो भी उसे कोई आपत्ति नहीं होती। लोगों को भी तो जयावती के दुर्व्यवहार का परिचय देना ही होता है। और सुननेवाले को भी कोई आपत्ति नहीं होती।

लोगों को सुनकर फिर जयावती के पास आकर गाल पर हाथ रखकर विस्मय का अभिनय करने में भी तो मजा ही आता है।

—"तुम्हारी बहू तो बहुत नाम कर रही है, सुनी तुमने उसकी बात?"

इतनी बात कहकर लाहिड़ी परिवार की बड़ी मालकिन आंचल के कोने से बंधा हुआ तंबाकू खोलने लगी।

जयावती ने अन्यमनस्क भाव से पूछा—"क्यों, क्या कह रही थी?"

"जब सुनकर मुझे इतना गुस्सा आया तो तुम तो गुस्से से पागल हो जाओगी, मझली बहू। आहा! इकलौते बेटे की बहू...वह भी मनमाफिक न मिले तो क्या कम दुःख की बात है।"

जयावती उदासीन होकर बोली—"अब क्या, दीदी, जब मन ही नहीं रहा तो मनमाफिक क्या! वो तो एक ही आदमी थे जिनके साथ ही सारा कुछ चिता में चढ़ गया। जिसमें उन सबों की खुशी है, उसमें ही मेरी भी खुशी है।"

"आहा, वो तो मैं समझ रही हूं, फिर भी जीना तो हर कोई चाहता है न? बेटे की बहू आकर थोड़ी देख-भाल करेगी—वो तो नहीं, उल्टे बहू तो जैसे कोई बिगड़ैल गोरा साहब हो। मैंने कहां उससे शराफत से कहा—'अरे बेटा, आज एकादशी का दिन है, नौकरानी नहीं आई है, तुम्हारी सास बेचारी काम करते-करते मरी जा रही है, तुम अगर बर्तन-बासन मांज देती तो उसको थोड़ा आराम हो जाता।' —तो ऐसा मुंह बिचकाकर बोली—'पता नहीं कब किस घड़ी मौत आएगी, कोई पोथी-पतरा लेकर तो बैठा नहीं है। मेरा काम उनको पसंद आएगा तब न!' —सुन रही हो न उसकी बात!"

जयावती वैसे तो बहुत सारी बातें सुन लेती, लेकिन दूसरों के सामने दोषारोपण उसे बर्दाश्त नहीं होता—"हां, इस तरह तो बदनामी उसी की होगी। मेरे बकलोल बेटे को भी तो देखना चाहिए, चौबीस घंटे पांव पर पांव चढ़ाए ऊपर छत पर बैठा रहता है। एक तिनका तक नहीं उठाता। अच्छा काम करने से ही आदमी अच्छा कहलाता है। काम देखकर तो जैसे उसको आग लग जाती है।"

जान बूझकर प्रदर्शित की गई भद्रता का आवरण उतर आता है ...क्यों, जयावती को बहू की प्रशंसा की क्या पड़ी है? यदि मुहल्ले के लोगों के सामने वही उसकी निंदा करे तो?

लाहिड़ी परिवार की मालकिन ने गंभीर होकर गाल पर हाथ रखकर अफसोस-भरे स्वर में कहा—"हां रे, विमल तो तुम्हारा इतना दुलारा बेटा है! वो कुछ नहीं कहता?"

—"अभागे के हाथ में पड़कर सोना भी लोहा हो जाता है, दीदी!"

—"क्या कहूं बाबा! पता नहीं कलियुग और किसे कहते हैं! आहा, पांच-सात होते तो कोई बात भी थी, इकलौता बेटा, उसे भी बहू ने घर में घुसते ही पराया बना दिया। मैं तो ग्लानि से मरी जा रही हूं, हमेशा की भली-भोली बेचारी, तुम्हारा इतना बड़ा दुर्भाग्य!..."

लाहिड़ी परिवार की मालकिन इतनी आसानी से चुप होनेवाली नहीं। और ऊपर से इतना सुंदर वातावरण जो बना चुकी थी। लेकिन उसकी नातिन लावण्या बीच में आकर सब कुछ मिट्टी कर गई—"नानी, जल्दी चलो, पापा आए हैं, मम्मी तुमको बुला रही है। ..."

आलोचना चाहे जितनी भी मजेदार हो, लेकिन दमाद आया हुआ है इसलिए अब और नहीं रुका जा सकता। लाहिड़ी परिवार की मालकिन उठकर चली गई।

लेकिन जयावती से उठा न गया।

ठंड लगी गाय की तरह निश्चल बैठी रही।

एक बार आवरण उठ जाने के बाद स्थिति मारक हो जाती है।...अब तो दोनों में से किसी भी पक्ष की आंख में शर्म नहीं बची है।

अब तो जयावती लगभग रोज ही रोने-कलपने किसी न किसी के घर पहुंच जाती है और अपना जी हल्का करके लौटती है। प्रतिभा घर में ही अपनी सहेलियों को जुटाकर सारा दिन 'सासचरित' पर आलोचनात्मक बहस करती है और शाम को हाथ-मुंह धोकर बाल संवारकर सज-धजकर छत पर आ बैठती है या चिट्ठी लिखने बैठ जाती है।

जयावती आकर जल्दी-जल्दी पारिवारिक कामों में जुट जाती और बहू को सुना-सुनाकर उसे कोसती रहती ...बहू कभी तो उधर ध्यान दिये बिना कोई टोंट कस देती और कभी पलटकर कोई तीखी बात बोल देती।

फिर भी जयावती को सब कुछ बर्दाश्त था, किंतु विमलेन्दु के अंदर आया बदलाव कतई सहा नहीं जा रहा था।

आजकल तो मां-बेटे में बातचीत भी नहीं होती, विमलेन्दु गूंगा बना बैठा रहता है। बहू के साथ जिन बातों पर बहस नहीं करना चाहती, वही बातें उसे आंखों के सामने बार-बार देखने को मिलती हैं।

मां के प्रति अब किसी में श्रद्धा तो बची नहीं।

इसके अलावा जयावती में इन दिनों एक दुर्गुण और पैदा हो गया है—किसी न-किसी बहाने बहू-बेटे के कमरे की खिड़की के पास खड़ी होकर उनकी बातें सुनती रहती है।

ओह! जयावती का इतना **अध:पतन** कैसे!

इससे उसे सुख तो मिलता नहीं, और दु:ख ही पाती हैं। ...कमरे की खिड़की

से कान लगाए बगैर क्या जयावती ये बातें सुन पाती—"असली बात है जलन! डाह! मैं बहुत अच्छी तरह जानती हूं, विधवाएं बहुत जलनखोर होती हैं। अपनी तो सारी इच्छा-साध खत्म हो गई है, इसीलिए दूसरों का सुख देखकर डाह से छाती फटती है। यह जो तुम दो-एक घड़ी मेरे पास बैठ जाते हो, बातें कर लेते हो, वो सब सहन नहीं हो पाता। छाती फटने लगती है।"

हालांकि विमलेन्दु ने हल्का-सा प्रतिवाद किया था, किंतु वह इतना हल्का था कि जयावती को सुनाई नहीं दिया। ...उल्टा बहू का जवाब सुनाई दिया—"आहा, तुम और समझ भी क्या सकते हो? तुम्हारे सामने भीगी बिल्ली जो बनी रहती है। ...बोलो तो, मुहल्ले-भर में मेरे बारे में शिकायतें क्या हवा में उड़कर फैली हैं? घर के आदमी ने नहीं फैलाई है? यहां तो मैं आजिज आ गई हूं, मुझे भी कलकत्ते लिए चलो..."

—"मैं भी तो घर खोज ही रहा हूं, प्रतिभा रानी। लेकिन मिल कहां रहा है?"

किसने कहीं ये बातें?

विमलेन्दु ने?

जयावती जिंदा तो है न? ...होशोहवास में तो है? अब और उसके जीने का कोई मतलब है?

जयावती की इतनी बेइज्जती! घर में तीसरा कोई तो है नहीं जो खाने के लिए आवाज लगाएगा। ...बुलाती तो अवश्य, किंतु उस बुलावे में पहले-जैसा प्यार नहीं होता। आजकल देखा जा रहा है कि इस तरह की बात करना तो जैसे जयावती का स्वभाव बन गया है—"क्या रे, नवाबजादी के पास खाने-पीने की भी फुर्सत है? कि बांदी बारह बजे तक पतीली अगोरे बैठी रहेगी?"

अगर कोई खाना खाने के लिए बैठने को हो तो इस तरह का संबोधन सुनकर उसका मिजाज भला कैसे ठीक रहेगा?

प्रतिभा बुदबुदाती हुई आती और भात-तरकारी कुछ खाती और मनमाने ढंग से कुछ गिराती। खोज-खोजकर गलतियां निकालती और विद्रूप हंसी हंसती। ...उसके पिता के घर तीन तरह से कम मछली बनने पर कोई खाने तक नहीं बैठता और भात के साथ प्रचुर मात्रा में तरकारी न होने पर भी खाना खाया जाता है, यह तो प्रतिभा को शादी के पहले पता भी नहीं था, इत्यादि।

इस तरह की बात सुनकर दूसरे दिन ही जयावती ने प्रतिभा के खाने की थाली के साथ एक कटोरा भरकर सहजन चच्चड़ी भी रख दी।

—"यह क्या है?"

अब प्रतिभा के तीखे सवालों से जयावती उतनी आहत नहीं होती। वह भी उसी की तरह रुखाई से बोली—"तरकारी के अभाव में कम खाने का कष्ट उठाने की कोई आवश्यकता नहीं है बहू, ज्यादा खाओगी तो ज्यादा-ज्यादा पकाऊंगी।"

प्रतिभा उल्टे हाथों खाने की थाली दूर ठेलते हुए बोली—"विधवा औरतों की तरह मुझे झौआ-भर सूखी **चच्चड़ी*खाने** का कोई शौक नहीं है। ले आकर क्यों बर्बाद कर रही हैं, अपने लिए रहने देतीं। आपकी पंसद की चीज है।"

—"क्या! क्या कहा, बहू!"

किसी आहत जंतु की तरह जयावती चीत्कार कर उठी। स्पर्धा का यह नवीन विकट रूप देखकर उसका समूचा शरीर थरथरा उठा।

लेकिन प्रतिभा उससे तनिक भी दबी नहीं, मुस्कुराते हुए बोली—"झूठ क्या कह रही हूं मैं? खुद कटोरा भर-भरके सूखी चच्चड़ी बैठे-बैठे दिन-भर खाती तो रहती हैं। जो देखा है वही तो कह रही हूं।"

यदि बात सचमुच सही होती तो इस प्रकार जयावती के तन-बदन में आग न लगती। ...झूठ भी नहीं है, यह बहुत बड़ी सचाई है। यह सहजन जयावती के लिए जन्म से कमजोरी रहा है। घर के आंगन में ही सहजन का पेड़ है, फल भी खूब लगते और जयावती लगभग रोज ही बनाना चाहती। ...इस बात को लेकर देवनाथ कितनी हंसी उड़ाते थे। किंतु चाहे जितनी भी हंसी उड़ाते हों, अगर संयोग से कभी देखते कि कम पड़ रहा है तो खुद ही डंडा लेकर तोड़ भी लाते।

कितनी बार जब जयावती, एक हाथ ठीक न होने से, एक ही हाथ से सब्जी काटने में असमर्थ होती थी, तब वे अपने पेंसिल छीलनेवाले चाकू से काटकर टुकड़े-टुकड़े भी कर देते थे। और जयावती के मना करने पर बोलते थे—"यही होगा न कि मुहल्ले के लोग हसेंगे? और डंठल की सूखी सब्जी कम पड़ जाने से महारानीजी का मिजाज जो खराब हो जाएगा। तब क्या करेंगे? ...इसके अलावा कुछ खराब भी होता है क्या? देखना तो जरा!"

बचपन में विमलेन्दु ने भी कितनी बार लाकर दिया है।

जयावती का सहजन-प्रेम मुहल्ले-भर में विख्यात है। उसके घर में सहजन का पेड़ है, फिर भी लोग अपने-घरों से ले आकर सहजन-डंठल उपहार दे जाते।

उसके इस सहजन-प्रेम को कभी किसी ने 'लोभ' की संज्ञा नहीं दी। किसी ने कभी नीची निगाह से नहीं देखा इसे। आदर का भाव था सब के मन में।

आज विमलेन्दु की बहू ने आकर इस चीज को लेकर इतनी निर्लज्ज भाषा में उलाहना दिया!

जयावती आजकल बहुत मुंहफट हो गई है, फिर भी आज की इस बात ने जैसे उसे गूंगी बना दिया हो। ...किस तरह वहां से वह उठी और किस तरह ठाकुरघर में घुसकर किवाड़ का सांकल लगाकर लेट गई उसे कुछ भी याद नहीं।

हठात किसी आक्रमण का सामना हो जाने पर जैसे कोई आदमी दिशाज्ञान खोकर

---

* सूखी मसालेदार सब्जी

दैवीय प्रेरणा से आत्मरक्षा के लिए पलायन करता है, वैसे ही आत्मरक्षा के लिए जयावती का पलायन था।

लेकिन वैसी ही पछाड़ खाकर पड़ी हुई वह किससे फरियाद करें?

घोर भौतिकवादी जयावती ने क्या इस तरह आकुल होकर कभी ईश्वर को याद किया है? आज कौन-सी आवश्यकता पड़ गई उसे दर्पहारी मधुसूदन से? उसके आगे वह किस उद्देश्य से अपना माथा लगातार पटकती चली जा रही है!

लेकिन मधूसूदन की श्रवण-शक्ति इतनी तेज कब से हो गई। हमेशा 'बधिर' की उपाधि पाकर बदनामी ही तो उनको हाथ लगती रही है। आज जयावती की प्रार्थना इतनी जल्दी कैसे सुन ली? ...बड़े आश्चर्य की बात है! प्रतिभा जैसी एक तुच्छ प्राणी का दर्प चूर करने के लिए ऐसे एकाएक कोई वीर पुरुष गदा उठा सकता है क्या।

वह विराट गदा प्रतिभा का दर्प चूर करने के साथ-साथ प्रार्थना करनेवाली की पसलियां भी चूर कर सकता है, इतना भी ज्ञान नहीं था उसे? ऐसी बेहोश हो गई थी?

ऐसा नहीं कि जयावती ने इस घटना के परिणाम से बेखबर नितांत लापरवाही से वह प्राणघातक अस्त्र चलाया था और गलती से अचानक विमलेन्दु के शरीर में जा लगा था।

रोज विमलेन्दु दोनों टाइम ट्राम के फुटबोर्ड पर कूद-फांद करता हुआ सड़क पार किया करता था, किंतु आज तो वह सीधे रास्ते से सड़क पार कर रहा था, चलती बस के नीचे कैसे आ गया?

आज जयावती का मस्तिष्क क्या इतना विशाल हो गया था कि वह खुद भी निस्पंद पड़े विमलेन्दु की तरह मूर्त्ति बनी अस्पताल की चारपाई के पास खड़ी रही? विमलेन्दु की मृत्यु-जैसी भयानक घटना का समाचार पाकर भी माथा पीट-पीटकर रोने की शक्ति नहीं जुटा पाई?

मुहल्ले के लोग आपस में फुसफुसा रहे थे—"इतनी बड़ी दुर्घटना का आघात बेचारी सहन नहीं कर पाएगी, पागल हो जाएगी..."

लेकिन असल में देखा गया कि—'पागल हो जाना इतना आसान नहीं है।'

दोनों आंखों के गड्ढों के किनारे काली रेखाएं और गालों पर हड्डियों की दो ऊंचाइयों के अतिरिक्त कोई विशेष परिवर्तन नहीं देखा गया।

फिर एक बार देखा गया कि—सर्दियां शुरू होते न होते हमेशा ही तरह जयावती धूप की तरफ पीठ करके बड़ियां बना रही है, अलग-अलग बर्तनों में तिल, पोस्त और कुम्हड़े की बड़ियां। निपुणता तनिक भी कम नहीं हुई है।

देखा गया कि—सर्दियां खत्म होते न होते उतने ही उत्साह से कटे आमों के अचार बना रही है।

देखा गया कि—कुएं का पानी बहुत कम रह जाने पर जयावती चमचम मांजे हुए पीतल के घड़े में घाट से पानी ले आ रही है।

आंगन की मचान पर फैले हुए हरे-भरे कुम्हड़े की लता काट-काटकर आज टोकरी में भरते देखा गया।

इस प्रकार अनायास ही यह अंदाजा लगाया जा सकता है कि—इस कटे हुए डंठल में सरसों, मिर्च और पोस्त डालकर जयावती सब्जी बनाएगी।

दुनिया का नियम ही यही है...

... ...

अब तो निश्चित रूप से जयावती को ही प्रतिभा का खयाल रखते हुए उसको खाने के लिए बुलाना होगा—तीसरा व्यक्ति घर में और है ही कौन? तीसरे प्राणी के आने की समस्त संभावनाएं तो खत्म करके विमलेन्दु चला गया।

चकचक धुले सफेद चीनी मिट्टी की प्लेट में परंपरागत ढंग से भात-बड़ी लगाकर जयावती ने आवाज लगाई—"बहू, ओ बहू, नीचे आओ, बेटी, थोड़ा मुंह जूठा कर ले, बेटी।"

उसकी आवाज में ममता का पुट कुछ ज्यादा नहीं आ गया है? आस-पास रिश्तेदारों के घरों से सुना जा रहा है कि वे लोग जयावती की नम्रता और महानुभवता को देखकर आश्चर्यचकित हैं!

स्नेह विगलित करुण स्वर पूजा-प्रार्थना के समय करुणतर हो जाता है! ...वह हाथ से पंखा करती हुई कल्पित मक्खी उड़ाती हुई बोली—"बिना खाए कैसे काम चलेगा, बेटी! शरीर का खयाल तो रखना ही पड़ेगा न? जब भगवान ने ही अच्छी चीजें खाना हमारे भाग्य में नहीं लिखा तो हम विधवाओं को साग-भाजी, डंठल, आदि की सूखी तरकारी खाने के अलावा चारा ही क्या है? थोड़ा-सा तो भात है, इसे फेंको मत, बेटी, दो कलछी और चच्चड़ी देती हूं। खा लो।"

मलिाओं के अंदर पड़ोसी के घर आई नई दुल्हन का आचार-व्यवहार जैसे कौतूहल का विषय होता है, उससे कम सद्यःविधवा का आचार-व्यवहार नहीं होता, बल्कि ज्यादा होता है। ...लगभग रोज ही किसी-न-किसी बहाने ठीक समय का अंदाजा करके कनकलता, लाहिड़ी परिवार की मालकिन, मंटी की मां आदि जयावती के घर आ जातीं।

उनके सामने जयावती करुण फरियाद करती हुई कहती है—"देखी न इसके खाने का हाल। इसीलिए तो मैं बहू से कहती हूं, मरने का भी तो कोई रास्ता नहीं है, बेटी, अभी बहुत दिन तक जिंदा रहना होगा। विधवा की उमर तो मार्कण्डेय की उमर होती है। बिना खाए कैसे काम चलेगा? अल्लम-गल्लम साग-पात यही सब

खाना पड़ेगा। यही हमारे भाग्य में है।''

आई हुई महिलाएं एक स्वर में समर्थन करतीं।

वे सब जितनी जयावती के दुःख से विगलित नहीं होतीं, उससे ज्यादा उसके हृदय के करुण प्रदर्शन से होतीं। ...और दूसरा कोई होता तो बहू को मनहूस कहकर घर से निकाल दिया होता।

अच्छा—कान में सिर्फ जयावती की बातें ही पड़ती हैं, उसके चेहरे पर दृष्टि नहीं जाती क्या? ...उसकी आवाज में जो ममता छलकती है क्या उसकी आंखों में भी उसकी छाया दिखाई देती है? ...आंखों की चितवन और होठों के कोने में जो विषाक्त हंसी की रेखा खिंच आती है?

घूर्णमान पृथ्वी

पिछली बार से ही शिवनाथ को लग रहा था कि उन दोनों के बीच किसी तरह की एक योजना बन रही है। उन दोनों के बीच का मतलब शिवनाथ के बेटे और बहू—शंखनाथ और रुचिरा के बीच। काफी दिनों से रुचिरा ने शंखनाथ को दो दिन की छुट्‌टी ले लेने के लिए परेशान कर रखा था। किंतु शंखनाथ इस बात के लिए तैयार नहीं हो रहा था; कहता था, अभी आफिस में बहुत काम का भार है। ऐसे ही जब कभी दो दिन की छुट्‌टी होगी, तो उसमें ही हो जाएगा।

अपनी तरफ से कुछ भी पूछना आजकल शिवनाथ के लिए बहुत मुश्किल हो गया है। पहले कोई भी बात बड़े उत्साह के साथ पूछ लिया करते थे—"क्या, रे शंख—क्या बात है, रे?" किंतु शिवनाथ ने क्रमशः यह अनुभव किया है कि—अब उनका इस प्रकार का अकारण कौतूहल उनकी नजरों में प्रीतिकर नहीं रह गया है।

बेटा और बहू!

इधर शिवनाथ उन दोनों के अलावा और कुछ सोचते ही नहीं। उनके बारे में कुछ भी सोचते हैं तो दोनों के बारे में साथ-साथ सोचते हैं। इसका कारण यह है कि अब वे शंख की अलग कोई सत्ता तलाश नहीं कर पाते।

बचपन से ही 'शंख' नामक जिस मातृहारा बच्चे को शिवनाथ छब्बीस, अट्‌ठाईस साल से जानते आ रहे हैं, जिसकी एक-एक इच्छा, पसंद, रुचि, मनोभाव, मतवाद सब कुछ उनका पहचाना हुआ है, जैसे लगता है, आज उसी बच्चे को वे कहीं खो आए हैं। अब सिर्फ एक ही सत्ता नजर आ रही है, वह है रुचिरा नामक सुंदर, सुशिक्षित और मृदुभाषी एक लड़की की सत्ता।

वह जैसे शिवनाथ से बहुत श्रद्धा करती है अथवा उनसे डरती है। वे उसकी आड़ में शंख को ठीक से देख नहीं पाते। इसलिए अब वे दोनों को एक ही समझने लगे हैं।

समझने लगे हैं—छोड़ो भी, किसी बात के बारे में उनका पूछना तो उन्हें पसंद ही नहीं है!

लेकिन वे दोनों तो इतने मूर्ख नहीं है कि वे जो कुछ करेंगे पिता को नहीं बताएंगे। सुबह नाश्ते की टेबल पर उन्होंने इधर-उधर की बातों के बीच यह बात उनसे बता ही दी थी कि वे दोनों इन दो दिनों की छुट्‌टी में 'वर्द्धमान' जा रहे हैं। और नई खरीदी गई गाड़ी में जा रहे हैं।

वर्द्धमान निश्चित रूप से कोई घूमने जाने लायक विशेष आकर्षक जगह नहीं है, किंतु चूंकि वहां रुचिरा की बहन का घर है, इसलिए परम आकर्षण की जगह

हो गई है।

बात सुनते ही तुरंत शिवनाथ मूर्ख की तरह बोल पड़े—"गाड़ी से जाओगे? तेल तो बहुत खर्च होगा।"

बोलने के बाद उन्हें लगा कि बात तो एकदम गंवार की तरह हो गई। तेल जलाने के लिए ही तो गाड़ी खरीदी गई है। किंतु बोलने के तुरंत बाद एक अदृश्य हंसी उन्हें दिखाई दी। इस हंसी के भीतर से उन्होंने यह भी देखा कि शंख अचानक एक बड़ा आदमी हो गया है। ...हां, एक भूतपूर्व मामूली बाबू का बेटा शंखनाथ अचानक ही बड़ा आदमी हो गया है।

किंतु शिवनाथ अभी भी इस बात को महसूस नहीं कर पाते। उनको लगता है कि यह सब एक कल्पना है।

शिवनाथ के बेटे ने एक अंबेसडर गाड़ी खरीद ली है, जितनी इच्छा होती है तेल जलाता हुआ घूमता रहता है। पता नहीं, यह स्वप्न है या माया। केवल गाड़ी ही नहीं खरीद ली है, बल्कि चलाना भी सीख गया है, और सिर्फ शंख ही नहीं उसकी बहू ने भी चलाना सीख लिया है—सब कुछ जैसे एक कल्पना लग रहा है। तभी तो आश्चर्यजनक रूप से उनके मुंह से गंवार जैसी बातें निकल जा रही हैं।

हालांकि निश्चित रूप से शिवनाथ की इन बातों को बहू-बेटा मूर्खतापूर्ण नहीं मानते, और न तो शर्मिंदगी महसूस करते हैं। पहले दिन जब गाड़ी खरीदकर ले आए थे, पहले पिता को उसमें बिठाकर पूजा के लिए कालीघाट गए थे और पहले ही रविवार को उन्हें घुमाने के लिए दक्षिणेश्वर ले गए थे। उस दिन शिवनाथ के आनंद के भीतर से 'शंख' की दिवंगता मां के लिए दु:ख का एक नि:श्वास निकल पड़ा था। किंतु मृत्यु की वह घटना पुरानी और शंख के लिए **पीड़ादायी** हो चुकी थी। उसके सामने यह मनोभाव प्रकट करना हास्यास्पद हो सकता था। शिवनाथ को तो दिवंगता की स्मृति बेटे के मन में जाग्रत करने का कोई वैज्ञानिक तरीका पता नहीं था।

शिवनाथ ने बेटे को आदमी बनाने के लिए आप्राण कोशिश की। आज उनकी वह चेष्टा सफल हो गई। बेटा आदमी बन गया। और आशातीत रूप से बन गया है। शिवनाथ ने कभी ऐसी उम्मीद नहीं की थी कि इतना बड़ा हो पाएगा। और उसकी प्रगति को देखकर शिवनाथ को कभी विस्मय, कभी ईर्ष्या और कभी विरक्ति हो उठती है।

फिर भी शिवनाथ अपनी ईर्ष्या, विस्मय और विरक्ति को लेकर लोगों के सामने गर्व करने से नहीं थकते। बेटे के गाड़ी खरीदते ही उन्होंने अपने मन का आह्लाद क्लब के मित्रों में फैला दिया था। दूसरी बातों के बहाने बीच में ही बोले थे—"सुना है, पेट्रोल का दाम बहुत बढ़ गया है। इतना बढ़ गया है कि लोगों का गाड़ी रख पाना मुश्किल हो गया है। लोग अपनी गाड़ियां बेच रहे हैं, और एक मेरे शंख बाबू हैं कि बड़े शौक से अंबेसडर खरीदकर ले आए हैं।" बात को उन्होंने कुछ इस तरह कहा था कि शिकायत के साथ-साथ बेटे की प्रगति की खबर भी दोस्तों में पहुंच जाय।

आज भी जब उन्होंने उनके वर्द्धमान जाने की खबर सुनी तो बाजार के अपने सभी परिचितों से यह बात बता डाली—"सुन रहे हो न! मेरे दुलारे आज नई गाड़ी से वर्द्धमान जा रहे हैं, साली से मिलने। यहां हर एक घंटे बाद ट्रेन है। कितना तेल जलेगा, ज़रा सोचो तो!"

किसी ने कहा—"आजकल के लड़के तो वही हैं न कि जो कमाएंगे सब दोनों हाथों से उड़ाकर खत्म कर देंगे।"...कोई कहता—"अरे भाई, सब भगवान की दया है। उनकी कृपा है। जैसा है अब उसी हिसाब से चलेगा न!"

शिवनाथ को लग रहा है कि जैसे वे अभी ठीक से किसी को यह बात नहीं बता पाए हैं। शिवनाथ के बेटे शंख ने गाड़ी खरीद ली और यह समाचार किसी समाचार-जैसा बन ही नहीं पाया है। तभी तो सभी रूखे-सूखे जवाब दिये जा रहे हैं।

तभी उनके दिमाग में एक विचार बिजली की तरह कौंधा। वे दोनों वर्द्धमान जा रहे हैं। इसका मतलब 'कुतुलपुर' होते हुए ही जाएंगे। इसका मतलब कि टूनी के घर की बगल से ही गुजरेंगे। कोई ट्रेन तो है नहीं कि चल पड़ी तो चल पड़ी, रोकने से भी नहीं रुकेगी। उसे तो जहां चाहो रोक लो, जब चाहो चल पड़ो और यह चलना, रुकना सब शिवनाथ के अपने बेटे के हाथों नियंत्रित होगा।

शंख तो वह घर पहचानता नहीं है, लेकिन शिवनाथ तो पहचानते है न? भले ही काफी समय से नहीं गए हैं, लेकिन ऐसा भी नहीं है कि भूल गए हैं। बैकुंठ चक्रवर्ती का घर पूछने से सभी बता देंगे। हम उन्हें 'टूनी के ससुर' नाम से ही बुलाते हैं।

गाड़ी रुकते ही वे तुरंत घर का पता पूछेंगे और बोलेंगे कि—'यहीं तो है। शंख ने ठीक जगह पर रोका है। अब तुम लोगों को उतरने की कोई जरूरत नहीं है। तुम लोग जहां जा रहे हो जाओ। लौटते समय मुझे लेने के लिए तो तुम्हें उतरना ही पड़ेगा, तभी बुआ से मिल लेना?'

शंख समझदार बेटा है, किंतु शिवनाथ भी कोई मूर्ख बाप नहीं हैं। कोई दूसरा बाप होता तो शायद कहता कि—'ऐसी भी क्या बात है। थोड़ी देर के लिए नीचे नहीं उतर सकते? बुआ को प्रणाम नहीं करोगे? बुआ क्या कहेगी?' किंतु शिवनाथ समझते हैं कि जाने के रास्ते में बाधक नहीं होना चाहिए।...

टूनी के घर जाने की बात सोचते ही अपनी छोटी विधवा बहन के लिए उनका मन भारी हो आया। आहाहा, बेचारी सदा से गरीब रही है। जब पति था तब भी यही हालत थी। पति बेरोजगार था। ...यह कलकत्ते से कितनी दूर भी तो है, सात जन्म में तो एक बार आती है। कोई लेने भी नहीं जाता। बुलानेवाला भी तो कोई नहीं है। शिवनाथ की पत्नी, जब से बेचारी टूनी की भाभी का देहांत हुआ है, टूनी का भी अपने भाई के घर आना-जाना बंद हो गया है। बीच-बीच में कभी-कभी शिवनाथ जाते रहते थे। रिटायर होने के बाद वह भी बंद हो गया है। तीन-साढ़े तीन साल से

उन्होंने बहन को नहीं देखा है।

यही ठीक रहेगा। आज इन दोनों के साथ चल पड़ेंगे, उसी रास्ते से तो यह दोनों जाएंगे। जाते समय मुझे बुआ के घर छोड़ते हुए चले जाएंगे और परसों आते समय मुझे लेते हुए आ जाएंगे।

उन्होंने हंसते हुए कहा—"मैं तुम्हें तेल खर्च की बात कह रहा था। और देखो, कैसी सुविधा निकल आई। थोड़ा-सा पैसा और वसूल होगा।"

शिवनाथ जितना ही सोचते उतना ही पुलकित हो उठते। उन्होंने सोचा कि अचानक भइया को देखकर टूनी कितनी खुश होगी। साथ ही, उन्होंने यह भी सोचा कि इस बार वे अपनी पेंशन के पैसे में से कुछ ज्यादा लेते जाएंगे। हर महीने जो नाम मात्र को वे पच्चीस रुपए टूनी को मनीआर्डर किया करते हैं वह भी अभी तक नहीं भेज पाए हैं। उसके साथ पचास रुपए और अधिक लेते जाएंगे और बच्चों को मिठाई खाने के नाम पर टूनी को दे देंगे।

पेंशन का पैसा तो अब जमा ही होता जा रहा है। शंख तो लेता नहीं है आजकल। शिवनाथ को भी उन सबों की इस फली-फूली दुनिया को देखकर देते हुए शर्म आती है। एक समय था जब सभी वेतन की तारीख की उम्मीद पर बैठे रहते थे। अब वे दिन किसी को याद नहीं।

जाने की तैयारी में उन्होनें धुली सफेद धोती और पैसे तो रख लिए किंतु वे स्वाभाविक ढंग से तपाक से नहीं बोल पाए कि—'मैं भी तुम लोगों के साथ चल रहा हूं , रे!'

दरअसल बात किस तरह कही जानी चाहिए , वे समझ नहीं पाए। बार-बार मन- ही-मन अभ्यास कर रहे थे। किंतु उनका अभ्यास बोलकर कह पाने के काम नहीं आ पाया। उन दोनों के सामने चक्कर लगाते हुए बाहर-भीतर आ-जा रहे थे। बीच-बीच में सिर के बाल भी नोंच लेते।

अंततः बोल ही पड़े।

असमंजस के-से भाव में बोले—"तुम लोग कब तक निकलोगे?"

दोनों को संबोधित करने के अभ्यास के कारण बेटे को 'तू' कहकर संबोधित करने का अभ्यास लगभग भूल चुके हैं शिवनाथ। ...बेटा जब अकेला था?

नहीं, तब जैसा सुनहरा अवसर शिवनाथ को कभी नहीं आया। बेटे से एक मिनट भी अकेले में मिलने का सौभाग्य उन्हें नहीं प्राप्त होता।

शंख समझता है कि रुचिरा को एक भी फालतू सवाल पसंद नहीं है। तभी वह जल्दी-जल्दी बोल पड़ा—"यही खाने के बाद। दो, ढाई बजे तक।"

शिवनाथ बोले—"हां यही ठीक रहेगा। सर्दियों में दोपहर को धूप-धूप में ही जाना अच्छा रहेगा।"

शंख रुचिरा की तरफ देखे बिना ही बोला—"हां, इसीलिए तो...।"

उस बेचारे के मन में भी कम जलन नहीं होती। पिताजी की बातें भी तो गंवार-जैसी होती हैं। रुचिरा के पिताजी से इनकी तुलना करने पर सिर नीचा हो जाता है।

उधर शिवनाथ ने बात के बीच फांक देखकर कहा—"सोच रहा हूं , मैं भी तुम लोगों के साथ गाड़ी में चल पड़ूं।"

"गाड़ी में चल पड़ूं?"

"तुम लोगों के साथ।"

"आप बांगला ही तो बोल रहे हैं? कोई और भाषा तो नहीं?"

शंख ने बात को संभालते हुए कहा—"आप? मतलब आप वर्द्धमान...।"

शिवनाथ अप्रतिभ होकर क्षण-भर के लिए अचानक हंसते हुए बोले—"देख रहा हूं, इतना चौंक क्यों रहे हो? अरे बाबा, मुझे वर्द्धमान से क्या मतलब? तुम लोग कुतुलपुर होते हुए ही तो वर्द्धमान जाओगे? तुम लोग मुझे टूनी के घर छोड़ते हुए चले जाना। और लौटते समय मुझे पिकअप कर लेना। बहुत दिन हो गए मिले हुए। और तो और किसी के मुंह से अपने को भाई कहते हुए भी नहीं सुना। तुमने गाड़ी खरीदी है, देखकर वह तो खुशी से पागल हो जाएगी। वह तो सदा की पगली है।"

इस बार रुचिरा बहुत ही शांत और शिष्ट ढंग से बोली— "वो तो समझ में आ रही है बात। किंतु क्या खामख्वाह बुआ को मारने के लिए भतीजा का जाना उचित होगा?"

शिवनाथ की जबान सूख गई, फिर भी एक झूठी-सी हंसी हंसते हुए वे बोले—"आहा, ऐसा कहां भाग्य बेचारी का, जो मर सके? दुनिया के बोझ से मर जाना तो अच्छा ही है न? मैं भी ठीक-ठीक निबट लूंगा।"

शंख ने धीरे-से बगल में बीवी के चेहरे की तरफ देखा। शंख का चेहरा सफेद पड़ गया था। फिर भी वह धीरे से बोला—"अच्छा, ठीक है।"

"चलो भी बाबा, खतरनाक रास्तों से होकर जाना पड़ता है।" हालांकि शिवनाथ को यह पता नहीं है कि खतरे किसे हैं। फिर भी बोलते समय उनकी बातों में डर झलक रहा है।

अब विपत्ति की संभावनाएं समाप्त हो गई हैं। शिवनाथ ने सोचा—अचानक भाई को देखकर टूनी क्या कहेगी, क्या करेगी, क्या खिलाएगी, कहां बिठाएगी, और शिवनाथ उसके जवाब में क्या करेंगे, क्या बोलेंगे!

नहीं, सुचमुच, एक गाड़ी होने से सुविधा रहती है।

ऐसा नहीं कि हवाई जहाज हो, लेकिन गाड़ी एक मुक्तिदूत होती है।

उन दोनों ने जल्दी-जल्दी करके पहले ही खाना खत्म कर लिया। सोचा था, थोड़ा-सा आराम कर लेना ठीक रहेगा, क्योंकि जर्नी बहुत लंबी है! ...लेकिन आराम कहां? हर दो मिनट पर घड़ी देखते रहने से क्या आराम किया जा सकता है?

शिवनाथ वही तो कर रहे हैं, आराम के बदले निरंतर घड़ी ही देखते जा रहे हैं।

लेकिन क्या हुआ?

उन दोनों की कोई आवाज क्यों नहीं सुनाई दे रही? खा-पीकर सो तो नहीं गए? सर्दियों की दोपहर में खा-पीकर सो जाने पर क्या इतनी आसानी से नींद खुलती है? समय बीत जाएगा। अब ट्रेन का समय भी नहीं है। समय से कहीं पहुंचना ठीक रहता है।

फिर घड़ी देखी।

ढाई की जगह तीन भी बज गए।

अब शिवनाथ और नहीं बर्दाश्त कर सके, आहिस्ते से कमरे के भीतर घुस आए और धीरे-से बोले—"शंख!"

धीरे-से बोले। अचानक जोर की आवाज कर जगाना ठीक नहीं रहेगा।

किंतु शंख सो नहीं रहा था। पहली आवाज में ही बाहर आकर खड़ा हो गया।

शिवनाथ बोले—"क्या हुआ? तीन भी बज गए? कब निकलोगे?"

बेटे को अकेले पाकर वे हंसते हुए बोले—"खा-पीकर सो गए थे क्या?"

शंख ने कहा—"अब तो जाने का कार्यक्रम ही रद्द हो गया।"

शंख के स्वर में निर्लिप्त निखार था।

शिवनाथ काठ की तरह खड़े रह गए—"अब जाना नहीं है!"

शंख उसी प्रकार कठोर स्वर में बोला—"उसके सिर में अचानक बहुत तेज दर्द होने लगा है। निकल पाना संभव नहीं हो पाएगा।"

"बहुत तेज दर्द है।"

"रुचिरा के।"

"नहीं, अब जाना नहीं हो सकेगा।"

फिर शिवनाथ ने भोलेपन से कहा—"तो एक दिन की छुट्टी तो ऐसे ही चली गई।

शंख ने लगभग मजाक उड़ाते हुए कहा—"एक दिन क्यों, दो दिन की चली गई। एक दिन के लिए जाने का कोई मतलब तो है नहीं।"

'वो तो है ही।' जिसका कोई मतलब ही नहीं है उसके बारे में शिवनाथ ने सोचा? बल्कि दूसरे कई जरूरी कामों के बारे में बैठे-बैठे सोच लिया था।

किंतु शिवनाथ जैसे सोचना भी भूल जाते हैं। शंख तो अपनी बात खत्म करके फिर जल्दी से कमरे में चला गया, शायद रोगिनी की सेवा करने के लिए ही।

पर्दा अभी भी हिल रहा था।

किंतु झूलते हुए पर्दे पर ऐसा कौन सा दृश्य है जिसे खड़े-खड़े देखा जा सकता है।

शिवनाथ की आंखों के सामने पर्दे की जगह कुछ और तो नहीं हिल रहा? ...वह दरवाजा, खिड़की, दीवारें, छत, संसार, पृथ्वी! वे ठीक से कुछ समझ नहीं पा रहे हैं।

फिर उन्होंने सोचा कि अगर आज के बाद वे शंख नाम के आदमी की गाड़ी पर चढ़ना छोड़ भी देते हैं तो मुहल्ले के लोग उन्हें ईर्ष्यालु , दरिद्र और अभागा ही तो कहेंगे?

शिकायत नहीं होगी?

जो आदमी अपने बेटे की तरक्की देखकर जलेगा तो इस प्रकार की नीचता पर उसकी निंदा नहीं तो क्या प्रशंसा होगी?

इसलिए लोगों को...

नहीं, अब और कुछ नहीं सोचा जा रहा।

पर्दा रुक गया है, फिर भी पृथ्वी का दोलन नहीं रुक पा रहा है।

वंचक

आश्चर्यचकित-से खड़े व्यक्तियों के सामने से 'सूं' करके एक टैक्सी निकल गई। वे दोनों कुछ वैसे ही धूल भरे रास्ते की ओर तीखी नजरों से देखते खड़े रहे। और अचानक 'भाड़ में जाय, हमें क्या!' बोलकर तेजी से आगे बढ़ गए।

टैक्सी अनेक घुमावदार रास्ते पार करती एक शादीवाले घर के सामने आकर रुक गई। लाइटिंग, मंच और तोरण को देखकर अंदाजा लगाया जा सकता था कि शादी किसी अमीर आदमी की है।

इसी साज-सजावट से मेल खाती हुई टैक्सी के भीतर से अजन्ता सेन और उनकी विवाहिता पुत्री अजन्ता बोस बाहर निकलीं।

आज के दिन टैक्सी किराए पर लेकर आना अनिंदिता सेन के लिए बहुत पीड़ादायी बात है। लेकिन वे कर भी क्या सकती हैं, भाग्य में जो नहीं बदा था। आज ही पति आफिस के काम से गाड़ी लेकर 'बारासात' या 'सोनारपुर' पता नहीं कहां गए हैं। उनको लौटते-लौटते रात हो जाएगी। सीधा वे शादी में ही पहुंचने के लिए बोल गए हैं।

शादीवाला घर अनिंदिता सेन के भाई का है। उनकी भतीजी की शादी है। कितने दिनों से तो उनका रोज आना-जाना लगा हुआ है। सुबह भी घर सजाने के लिए आई थीं। और अब पुत्री के साथ जरी की साड़ी में झिलमिलाती हुई उतरी हैं।

हंसते हुए कुछ-कुछ बोलती हुई उतरीं। 'दूल्हा अभी आया कि नहीं। अभी तक एक भी बैच के लोग निपटे कि नहीं' आदि—अनिंदिता के मुंह से उतरते ही यह सब सवाल मुखरित हो उठे।

उनकी बेटी अजन्ता बोस इतनी मुखर नहीं है। किंतु साज-सज्जा उसकी अत्यंत आकर्षक है। अपनी समवयसी ममेरी बहन और सखी के विवाह के दिन ही पहनने के लिए उसने यह विशेष पोशाक तैयार करके रखी थी। यह बंगाली लड़कियों की पोशाक नहीं, बल्कि लखनऊ की बाइयों की पोशाक लग रही है। ओढ़नी, घाघरा, चोली, चिक और रतनचूड़ इत्यादि मिलकर एक नएपन का अहसास करा रहे हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है।

किंतु उन दोनों मां-बेटियों के उतरते ही लोगों ने आपस में फुसफुसाना शुरू कर दिया, किंतु क्या ये फुसफुसाहटें उन मां-बेटी के अत्यधिक साज-सज्जा पर उठ रही हैं?

इतनी अधिक साज-सज्जा और भी लोग तो करते हैं, लेकिन उन पर इस तरह तो कोई नहीं फुंसफुसाता। वो मणिका राय के सिर का जूड़ा कुछ ऐसा बना हुआ है जैसे किसी सरदारजी की पगड़ी हो। वो, हेना हालदार ने दोनों हाथों की दसों उंगलियों

के नाखून इतने बढ़ा रखे हैं कि नाखून उंगलियों से भी ज्यादा लंबे दिख रहे हैं। पता नहीं, इस विवाह को ध्यान में रखकर कितने महीनों से उन्होंने नाखून बढ़ाना शुरू कर दिया था। नाखूनों को तीन रंगों से रंगा है हेना हालदार ने।

लेकिन उनकी तरफ तो कोई इस तरह नहीं देख रहा?

इस प्रकार अद्‌भुत और विह्वल दृष्टि से!

और शादीवाले घर में समस्त आनंद और उल्लास के कलरव के तले एक अशुभ और मृदु विद्रोह का गुंजन भी हो रहा है!

यह किसलिए हो रहा है?

जहां भी दो लोग साथ-साथ खड़े होते हैं उनके पास कोई आकर खड़ा हो जाता है और 'फिस्-फिस्' हंसते हुए बातें करता है। ये बातें किसके बारे में होती हैं?

कोई भी उंगली नहीं उठाता, लेकिन शादीवाले घर में जुटे इतने सारे लोगों की आंखें और मन उंगलियों की तरह उन्हीं दोनों की तरफ उठा हुआ है। अनिंदिता सेन और उनकी बेटी की तरफ।

लेकिन मजेदार तो यह है कि वे दोनों इन बातों की तरफ ध्यान ही नहीं दे रही हैं। वे दोनों अपने आप में ही मस्त हैं। अनिंदिता सेन अनर्गल बातें करती हुई स्वर्ग, नर्क, पाताल सब एक किए घूमती फिर रही हैं और बेटी दुल्हन के कमरे में छटा बिखेरती हुई बैठी हुई है।

फिर—

अजन्ता सोच रही है कि आंखों में नशा क्यों नहीं उतरा है। लगता है, कहीं कोई कमी रह गई है। कोई सुर, कोई ताल जैसे भंग हो गया है। लगता है, अजंता की उंगली हर जगह ठीक से पहुंच नहीं पाई हैं।

लखनऊ की बाईजी की पोशाक क्या लोगों की निगाह में चुभती है? लेकिन क्यों? अजंता के विवाहवाले दिन, उसकी यही ममेरी बहन कश्मीरी पोशाक में जब नाच रही थी तो क्या मजेदार दृश्य था! और सब लोगों ने उस नाच-गाने का क्या आनंद लिया था! साल-डेढ़ साल में ही क्या अजंता बूढ़ी हो गई है।

जाओ भी, दूल्हे के आने के बाद उसके पास बैठकर अजन्ता सबको दिखा देगी। अपनी हंसी, गान, चपलता और सौंदर्य के प्रदर्शन से दूल्हे को यह सोचने पर मजबूर कर देगी कि हां, कोई साली मिली थी उसे एक बार।

अनिंदिता इतना कुछ नहीं सोच रही।

अनिंदिता चौंधियाई हुई खड़ी है।

"क्यों रे, सुहागिनें शादी के गीत तो गा लेंगी न? बिना विवाह-गीत के घर अच्छा नहीं लगता।"

"अरे बाप रे, मैंने तो अब तक तुम्हें देखा ही नहीं था, भाई, कब आई? यह सात लहरोंवाला हार लगता है नया बनवाया है? ...बाबा रे, एकदम उगती सुबह लग रही हो। क्या 'मारकटारी' साड़ी पहन रखी है! कहां से ली? ...ऐ , ऐ बच्चो, जरा

देखो तो खाने की टेबल पर चॉप-फ्राई लग गया है कि नहीं? पान कौन लगा रहा है? पान! जरा इधर भी एक खिल्ली दे न, बाबा। ...कन्या की मां किधर गई? नजर नहीं आ रही? ऐ भाभी, सास के न होने से बहुत इतराती फिर रही हो।''

उफ, जबान रुकती ही नहीं। जैसे इतनी आसानी से अनिंदिता सेन उसे रोकना नहीं चाहती।

''दूल्हा आ गया! दूल्हा आ गया!''

एक प्रबल जलोच्छ्वास की तरह कोलाहल मच गया। जितने लोग उतने उच्छ्वास। और जो लोग दूल्हे को देखकर आहें भर रहे थे, वे ठीक ही थे। उनका स्वर थम ही नहीं रहा था। यह लड़कों की मंडली थी।

अब—

कटांग करके स्वर कट गया। डाल-पूजा के समय एकदम से सन्नाटा छा गया। अजन्ता सजा हुआ थाल लिए आई। वह मां के साथ सवेरे ही आकर बहुत मेहनत से यह थाल सजा गई थी। इसमें अपनी कलाकारी का भरपूर प्रदर्शन कर गई थी।

अजन्ता की मामी, कन्या की मां, सहसा दौड़ी हुई आई और अजन्ता के हाथ से सजा हुआ थाल छीनते हुए बोली—''रुको-रुको! घाघरा-चोली पहनकर सुहागिन का काम करना शोभा नहीं देता...''

अपमान और अभिमान के कारण अजन्ता की आंखें छलछला आईं। वह बोली—''पहले ही तुम्हें कहना चाहिए था न, मामी। मैं यह सब छोड़कर साड़ी पहन लेती...''

बात तो सही ही थी।

इतनी सारी सुहागिनें इकट्ठी हुई हैं।

लेकिन क्या अजन्ता भी उसी भीड़ में से एक है?

बड़े घर की बेटी और एक बड़े घर की बहू सुंदरी अजन्ता की यहां मामा के घर में, किसी बात में क्या उसकी कोई अहमियत ही नहीं है?

होंठ चबाते हुए अजन्ता ने सोचा—'बड़ी हैरानी की बात है, घाघरा पहन लेना ही मेरा अपराध है!'

हर आदमी यह जानता है कि अजन्ता ने मामी के साथ ही विवाह की मार्केटिंग के समय यह घाघरा और ओढ़नी खरीदी थी।

और कुछ नहीं, वो जो हजारों लड़कियां जमघट लगाए हुए हैं न, उन्हीं सबों ने मजा लेने के लिए बात लगाई होगी। कोई बात नहीं, यह सुहागिनोंवाला काम उसका नहीं है। वह अब दूल्हे के पास बैठकर मंडप की शोभा बढ़ाएगी।

लेकिन शादीवाले घर में इस बात के लिए भी इजाजत नहीं है।

कल्लोल के भीतर एक हल्का-सा विद्रोह, जो दिबा हुआ था अब और वह दबा नहीं रह पाया, अब वह हल्का नहीं रह गया है।

एक तीखा विद्रोह फूट पड़ना चाहता है, एक गुस्सा अपने रौद्र रूप में धिक्कारना चाहता है। पेंदे में बैठा हुआ द्रव उफनकर गिलास के बाहर आना चाहता है।

अनिंदिता सेन की दो बहनें इस बैठक में शामिल हैं, एक तो दुल्हन की मां और दूसरी उनकी बड़ी बहन। खुद दुल्हन के पिताजी को भी बुलाया गया है। वे भी आ गए।

उनका उत्तेजित स्वर और भी उग्र हो उठा—"क्या ऐसे ही चलेगा? फालतू! इसके बाद क्या जुआ खेलाओगी! मंडप के बिछौने पर पहले से ही अधिष्ठित हैं। तुमने अनी को कुछ बोला? उसे बुलाकर समझा दे कि कब और कहां कैसे रहा जाता है। यह—शोरगुल सुन रही हो, सारी सुहागिनें नाराज हो गई हैं, उन्हें ये सारी चीजें पसंद नहीं हैं। किंतु..."

दुल्हन का भाई आकर खड़ा हो गया। उसके माथे पर तनाव और चेहरे पर विपन्नता झलक रही थी।

"क्या हुआ? ठीक कर दिया तुमने?"

"तुम लोग जो कहोगी वही होगा! उसे मैंने बुलवाया, लेकिन वो आए तब न?"

"उस तरफ मेरे आफिस के लोग खाने के लिए बैठे हैं..."

तभी कन्या-पक्ष के अभिभावक भी आ गए। उनके चेहरे पर खिन्नता नहीं, बल्कि एक विपन्नता का भाव था। "मैंने कहा कि जैसा चल रहा है ठीक नहीं है। अनी तो कुछ समझती ही नहीं। उसे सेन साहब ही कुछ समझा सकते हैं..."

"अ हा हा, क्या बुद्धिमानों-जैसी बात की है! दुल्हन की मां झंकार करते हुए बोली—"मेरी इकलौती बेटी है और उसके मंडप मे..."

जो वाक्य पूरा न बोला जाए , उसका वजन बहुत होता है। तभी दुल्हन के पिताजी अपने बालों को सहलाते हुए बोले—"तब ऐसा करो...कि एक काम करो। जाकर बोलो कि सेन बाहर बारासात से लौट आए हैं लेकिन यहां आ नहीं पाएंगे। उनकी तबीयत अचानक खराब हो गई है। यह सुनते ही अनिंदिता और अजन्ता..."

बात उनके दिमाग में बैठ गई।

"हां भाई। यह है मर्द का दिमाग। इससे शादीवाले घर में शोरगुल भी थम जाएगा। और मां-बेटी जल्दी-जल्दी चली भी जाएंगी।"

अजन्ता उस समय मंडप में बैठकर दुल्हन के कानों में सख्य भाव प्रदर्शित करते हुए बोल रही थी—"देख रही हो न, भाई, वे कितने असभ्य हो गए हैं! आए नहीं! मैंने चिट्ठी में कितनी चिरौरी-मिन्नत की थी आने के लिए। मामा-मामी ने तो लिखा ही था। इस तरह की शादियों में लोग निमंत्रण पाकर विलायत से भी आ जाते हैं। और दुर्गापुर तो कितने घंटे का रास्ता ही है। ...अच्छा, भाई दुल्हे राजा, आप ही बताएं कि क्या यह निष्ठुरता नहीं है?"

दूल्हे ने क्या जवाब दिया पता नहीं। तभी दुल्हन के भाई ने आकर गंभीर स्वर में कहा—"अजन्ता, तुम जरा इधर आना।"

अजन्ता का दिल कांप उठा। बुलावे में एक विपत्ति का संकेत दिखाई दे रहा था। उठकर पास आई और पूछी—"क्या है, रांगा भइया?"

"मैं कह रहा था कि—मौसा आ गए हैं और उनकी तबीयत अचानक खराब हो गई है। तुम लोग चली जाओ तो अच्छा रहेगा।"

"अजन्ता का मुंह सूख गया। पिताजी क्या तबीयत खराब बताकर चले गए?"

"नहीं। मौसा तो आए ही नहीं यहां।"

"आए ही नहीं? मां? मां कहां है?"

"नीचे ही कहीं होंगी।"

ममेरा भाई तुरंत चला गया।

जब विपत्ति आती है तो दिल काम नहीं करता।

अनिंदिता को भी यही बोल आया।

पहले तो अनिंदिता आसमान की तरफ देखती रही, फिर बोलीं—"ओ मां, क्या हो गया। तुम्हारे मौसा यहां आए ही नहीं। मैं तो समझ रही थी कि आकर, खा-पीकर चले गए होंगे। लेकिन तुम कह रहे हो..."

अनिंदिता की स्तब्धता की नींव पर चारों तरफ से उठनेवाली आहों की एक दीवार खड़ी हो गई।

बेटी को साथ लेकर वे जल्दी-जल्दी गाड़ी में जा बैठीं।

रास्ते के दोनों तरफ गाड़ियां खड़ी थीं। उन्हीं में से किसी एक ने अपनी गाड़ी से पहुंचाने का जिम्मा ले लिया था।

अजन्ता परेशान होकर सोच रही थी कि पता नहीं पिताजी किस अवस्था में होंगे। 'रुनू' की शादी में नहीं जा सके इसका मतलब कि उनमें खड़े होने की शक्ति नहीं होगी।

किंतु अनिंदिता के चेहरे को देखकर यह अंदाजा नहीं लगाया जा सकता था कि वह क्या सोच रही है। अनिंदिता को लग रहा था कि उसके पति को क्या अपनी दुश्मनी आज ही निकालनी थी। उसका चेहरा पत्थर की तरह कठोर हो आया। आंखें शीशे की आंखों की तरह।

जलती-भूनती-बड़बड़ाती हुई अजन्ता जल्दी-जल्दी गाड़ी से नीचे उतरी। "कहां तुम्हारे पिताजी की तबीयत खराब है! घर के सामने चहलकदमी करते फिर रहे हैं?"

"आखिर बात क्या है!"

वह लपककर आगे बढ़ी—"आपको क्या हुआ है, पिताजी?"

मिस्टर सेन कुछ रुकते हुए भारी गले से बोले—"घर के भीतर जाओ।"

इस बात पर अजन्ता की आंखों में आंसू भर आए।

"ये क्या?"

"आज सभी मिलकर मुझे अपमानित कर रहे हैं, क्यों?"

अजन्ता बनारसी दुपट्टा मुंह पर रखकर घर के भीतर चली गई।

अनिंदिता भी चली गई।

पति से कोई बात नहीं की। शायद गुस्से की तीव्रता प्रदर्शित करने के लिए ऐसा किया था।

सेन बोले—"तुम रुको।"

अनिंदिता पीछे मुड़कर खड़ी हो गईं।

बनारसी साड़ी का जड़ाऊ आंचल झुलस उठा। अनिंदिता के चेहरे पर विद्रूपता गहरा गई। बोलीं—"क्या? अपराध की क्या सजा होगी? कोर्टमार्शल?"

सेन साहब का धैर्य जवाब दे गया। वे डांटते हुए बोले—"रुको! पहले मेरी बात का जवाब दो। तुम लोगों के निकलने से पहले दुर्गापुर से दो आदमी आए थे?"

अनिंदिता स्थिर होकर खड़ी हो गईं। बोलीं—"आए थे।"

"क्या बोले?"

अनिंदिता और भी स्थिर स्वर में बोलीं—"कुछ बोल न सके। मैंने उन्हें बोलने नहीं दिया।"

"बोलने नहीं दिया?"

"ना।"

हां, सचमुच अनिंदिता ने बोलने नहीं दिया था।

उन्होंने कहा था—"देखिए हम लोग दुर्गापुर से आए हैं..."

अनिंदिता ने उनकी तरफ घूरकर देखा था। अनिंदिता ने उनके चेहरे की लिखावट पढ़ ली थी। तुरंत उसने अपनी व्यस्तता प्रदर्शित करते हुए बोली थी—"देखिए, कृपया कल एक बार आकर देख लीजिएगा। आज मैं बहुत व्यस्त हूं। तुरंत ही बाहर निकलनेवाली हूं।"

उन दोनों ने बेचैनीपूर्वक अनुरोध करना चाहा था—"आप समझ नहीं पा रही हैं। हमें बहुत जरूरी बात करनी है। निशीथ बोस आपके ही दमाद हैं न? दुर्गापुर में..."

"हां-हां, समझ गई। लेकिन वे तो अभी आए नहीं। और लगता है आएंगे नहीं। अपने आने की सूचना तो कम-से-कम भेज देनी चाहिए थी।"

अनिंदिता देवी बेटी को टैक्सी में बिठाकर खुद भी चली गईं। उन दोनों ने एक बार गाड़ी की खिड़की से झांककर बोलने का भी प्रयास किया था—"आप हम लोगों की बात तो एक बार सुनती जाइए—आज ग्यारह बजे मिस्टर बोस..."

ग्यारह बजे? अनिंदिता देवी ने कहा—"ग्यारह बजे आएंगे? उस समय कोई ट्रेन कहां है? बाई कार आएंगे, समझ गई। तब अच्छा है। अच्छा, नमस्कार। लेकिन बुरा मत मानिएगा। मैं बहुत व्यस्त हूं।"

आश्चर्यचकित-से खड़े दोनों आदमी 'सूं' करके निकल गई कार की तरफ देखते रह गए थे।

अजन्ता ने उद्विग्न होकर प्रश्न किया था—"वे लोग क्या कह रहे थे, मां?"

अनिंदिता ने बात को टाल दिया था। हवा में उड़ा दिया था।

बोलीं—"मेरे प्यारे दमादजी आ नहीं पाएंगे। उसी गलती को पाटने के लिए खबर भेजी थी। फिर यह भी बोले हैं कि संभव हुआ तो बाई कार आएंगे..."

अजन्ता ने मुंह फुलाकर कहा—"आ नहीं पाएंगे। बहुत पहले से ही कह रहे थे कि ममिया ससुर की बेटी की शादी में छुट्टी लूंगा। पागल नहीं तो।"

ये सारी बातें अनिंदिता को स्पष्ट रूप से याद हैं।

सेन साहब क्रुद्ध बाघ की तरह दहाड़े—"निमंत्रण पर जाने की इतनी जल्दी थी कि दो लोग क्या खबर लाए हैं, उसे सुनने की भी जरूरत नहीं सभझी?"

अनिंदिता पति की आंखों से आंखें मिलाकर बहुत ही कठोरता से बोलीं—"वो क्या खबर लाए हैं, उसे सुनने का समय तो नहीं था, लेकिन वो बात तो उनके चेहरे पर ही लिखी थी।"

"क्या मतलब?" सेन साहब मर्द की तरह एक गावदी औरत को पकड़कर झिंझोड़ते हुए बोले—"तुम कहना क्या चाहती हो? उनका चेहरा देखकर ही तुम समझ गई थी? और निशीथ का मरना जानकर भी तुम..."

"हां, जान बूझकर मैंने ऐसा किया। लेकिन जरा यह तो बताओ कि इतनी बड़ी धरती पर इससे कितना बड़ा नुकसान हो गया? अजन्ता इतनी मेहनत से रंग बनाकर तैयार होकर कितने अरमान लिए उत्सव में जाने के लिए निकल पड़ी थी और तभी मैं क्या करती, उसे धूल में लोटाकर बोल देती कि—'तुम्हारा सब कुछ लुट गया। समझी। तुम्हारा सर्वनाश हो गया। तुम्हारा अब इस दुनिया में कोई नहीं है।'—इससे ही दुनिया को क्या मिल जाता?"

"अपने पर काबू रखो। बेहूदगी की भी एक सीमा होती है। निशीथ के मामा और तुम्हारी भाभी के बाप के घर क्या हो रहा है, तुम्हें नहीं पता था? समूचे शादीवाले घर में क्या हाय-हाय मची हुई थी! और तुम दोनों मां-बेटी नौटंकी कर रही थीं..."

अनिंदिता इस धिक्कार से विचलित नहीं हुईं। जैसे विचलित होना भूल गई हों। तभी तो वे शांत स्वर में बोलीं—"मैं जानती हूं कि भाभी के मायके में निशीथ का ननिहाल है। लेकिन यह नहीं जानती कि यह खबर इतनी जल्दी शादीवाले घर में भी पहुंच जाएगी। मैंने सोचा कि छः महीना पहले से ही बेटी रुनू की शादी में मजे लेने की कल्पनाएं संजोए बैठी थी, तो वह उसे पूरा ही कर ले तो अच्छा रहेगा। उसके जीवन में तो अब कोई आमोद बचा नहीं। सारी जिंदगी तो उसे दावानल में गुजारनी है ही। मैंने सोचा था कि अगाध काल-समुद्र में से तीन घंटे चुरा लूंगी, कोई जान भी नहीं पाएगा। लेकिन संभव नहीं हो सका। दुनिया के लोगों ने मेरी इस चोरी के ऊपर अपना चाकू तेज करना शुरू कर दिया..."

सेन साहब अनिंदिता के उन रंगे हुए गालों के ऊपर ढुलक आए आंसुओं की

तरफ क्षण-भर देखते हुए धिक्कार के स्वर में बोले—"आर्गूमेंट तो मुझे समझ में आ गया। लेकिन आश्चर्य है कि तुम यह कर कैसे सकी? वो समझ नहीं पा रही थी, लेकिन तुम तो समझ रही थी? इसके बाद भी तुम हुल्लोड़ करती फिर रही थी!"

"मैं समझ रही थी कि ऐसा करने से लोगों की आंखों में धूल झोंकी जा सकती है, लेकिन मैं बुद्धू थी। कर सकने की बात पूछ रहे हो? आदमी क्या नहीं कर सकता? तुम भी तो कर सके—अपनी बेटी के अनंत वैधव्य से दो घंटे चुरा लिए—उसकी कैफियत तलब करते हुए!"

कार्बन कापी

लाल बजरीवाली पतली सड़क उस रंग उड़े लकड़ीवाले गेट के सामने आकर खत्म हो जाती है। यह रास्ता यहां से आगे नहीं जाता। इसका कारण कि यहीं आकर शहर भी खत्म हो जाता है।

घर के ठीक पीछे रेल-लाइन का ऊंचा बांध है। और उसके पास ही बालू के ढेरोंवाली एक नदी है। नाम पता नहीं है। गांववालों ने उसे एक नाम दिया है—'हठाती।' उसके नाम के अनुसार ही उसकी प्रकृति भी है। महीनों-महीने किसी स्थायी रोगी की भांति लुप्त रहती है और भारी वर्षा के कारण अचानक लास्यमयी नवयौवना की भांति उफन उठती है।

आजकल नदी किसी स्थायी रोगी जैसी हो गई है।

लेकिन तब उसकी भरी जवानी थी। बहुत दिन पहले, जब और एक बार उत्तरा फूलमाटी में आई थी। उसे पहली बार तो पहचानने में परेशानी हुई। 'चौधरी बंगला' पढ़कर आश्वस्त हुई थी।

सोचा—उन दिनों नदी में पानी भरा था, और छोटी बेटी की आंखों में भी पानी था। उसके लगातार रोने के कारण तकिया भीग गया था और एक नदी बह निकली थी।

अंततः उत्तरा की बुआ बोल ही पड़ी थीं—"अरे भइया, तुम्हारी बेटी ने तो रो-रोकर नदी बहा दी है।"

किंतु बुआ के भाई को उस नदी के बहने में किसी प्रकार की अतिशयता नहीं दिखाई दी। उन्हें पता था कि इन सब बातों में महिलाएं बहुत कुछ कर बैठती हैं, जिससे उनकी आंखों से नदी बह निकलती है।

वकील आदमी हैं, बहुत सारे केस आते हैं। वे निरुद्देश्य होकर जाते हैं और देख आते हैं। आत्महत्या करते हुए देख आते हैं। वे सकरुण हंसी हंसते हुए बोले—"फिर सब कुछ वैसा ही हो जाएगा, रे मनीषा। संभलने में थोड़ा समय लगेगा।"

संभालने के उद्देश्य से ही विभास बाबू बेटी को लेकर कलकत्ते के जन-कोलाहल से दूर यहां चले आए थे। स्वास्थ्य-लाभ के लिए बहन का यह घर बढ़िया है—यही बोलकर आए थे। लेकिन इसके पहले क्या कभी वे स्वास्थ्य-लाभ के लिए यहां आए थे?

उत्तरा की मां नहीं आई।

उत्तरा की मां को इसमें ज्यादती नजर आई। बेटी की मूर्खता के कारण ही मां को यह मर्मांतक कष्ट उठाना पड़ रहा है। फिर?

जो अपनी ही गलतियों के कारण हुआ है उसके लिए दूसरों की सहानुभूति कैसी? उत्तरा की मां का यही कहना था कि—उत्तरा जितना ही धिक्कार सहेगी,

समाज के सामने सिर नीचा करके चलेगी, उतना ही आनेवाले समय में उसमें समझ विकसित होगी, उसमें संकल्प पैदा होगा।

विभास ने कुछ नहीं कहा।

विभास अपने सारे काम-काज छोड़कर एक महीने के लिए इस 'चौधरी बंगला' में आ गए थे—बेटी के टूटे हुए दिल पर मरहम लगाने के उद्देश्य से।

यहां लोग-बाग कम थे।

उत्तरा के फूफाजी ने बहुत देख-भालकर यहां घर बनवाने के उद्देश्य से जमीन खरीदी थी। शहर से दूर रेल-लाइन के किनारे।

किंतु फूफाजी बहुत दिनों तक इस घर का सुख प्राप्त न कर सके। उत्तरा की विधवा बुआ ही समय मिलने पर आकर इसमें रहती हैं। लकड़ी के गेट में लगा ताला खोलती हैं, घर में घुसती हैं और कुछ दिन ठहरकर वापस चली जाती हैं।

उन्हीं कुछ दिनों में विभास ने भी उनका आतिथ्य ग्रहण किया। बुआ ने सोचा था कि आने का कारण बेटी के लिए लड़का तलाशना हो सकता है। सोचा—'भइया की यह मोटी बेटी उन्हें नाच-नचाती रहती है।' किंतु उनका आना बुआ को अच्छा लगा था। भाभी के साहचर्य से मुक्त भइया को अकेला पाकर बुआ का बचपन लौट आया था।

और शायद विभास भी साहचर्यमुक्त होकर बदल गए थे। हल्का हो गए थे। इस सहज आबोहवा के बीच उत्तरा की भी आंखों के आंसू सूखने में देर नहीं लगी। मैट्रिक परीक्षा फेल होने का दु:ख धीरे-धीरे खत्म हो गया।

हां, उत्तरा ने मैट्रिक फेल होकर अपनी मां के मुंह पर कालिख पोत दिया था। एकदम से अप्रत्याशित घटना थी यह। पहले दिन ही पर्चा हाथ में आया था तो उत्तरा के सिर में एकदम से तूफान उठ खड़ा हुआ था। उसी तूफान के कारण उत्तरा एक भी प्रश्न हल नहीं कर पाई थी। कलम को मरोड़ना शुरू कर दिया था, व्याकुल होकर दिमाग पर बार-बार जोर देती थी, लेकिन कोई भी प्रयास काम न आ सका था।

नर्वसनेस।

संपूर्ण नर्वसनेस।

यद्यपि उसने मेहनत से पढ़ाई-लिखाई करके पूरी तैयारी की थी। घर आकर उसने पर्चों में जल्दी-जल्दी निशान लगा दिया था।

दूसरे दिन से शेष सभी परीक्षाएं उसने दी थीं, लेकिन पहले दिन की वह व्यर्थता ने उसके समूचे उत्साह को शिथिल कर दिया था।

परिणाम स्वरूप वह फेल हो गई।

उत्तरा की मां को इस बात की आंशका नहीं थी। उन्होंने सोचा था कि थर्ड डिविजन पास होकर नाम डुबाएगी। लेकिन यह क्या, यह तो मुंह पर एकदम से कालिख का ब्रश ही फेर दिया!

उत्तरा कमरे से बाहर नहीं निकली। इस कारण सारा आक्षेप और अभियोग का

भार मां के कालिख पुते मुंह पर पड़ा। विभास बाबू ने देखा कि बेटी को उसकी मां के चंगुल से कुछ दिनों के लिए बाहर ले जाने की जरूरत है।

इसी कारण वे बेटी को लेकर 'फूलमाटी' आ गए। और विभास का सोचना कारगर साबित हुआ।

उत्तरा सिर्फ दु:ख से ही नहीं उबर गई, बल्कि उसमें एक नए रक्त का संचार हो आया, उसमें लावण्यता और चंचलता लौट आई।

किंतु क्या यह आवेग 'फूलमाटी' के आकाश, हवा, पंछी और फूलों के कारण आया था? इस लावण्य के उत्स का कारण क्या यहां का 'वेदर' था?

विभास यहां के 'वेदर' की भूरि-भूरि प्रशंसा किया करते थे।

मनीषा ने कहा था—"हां, जब बरसात शुरू होती है तब यहां के सौंदर्य का कोई जवाब नहीं होता।"

किंतु मनीषा ने भतीजी के चेहरे की तरफ संदेह से देखा था।

आज 'चौधरी बंगला' में कोई दृष्टि नहीं है। न संदेह की, न स्नेह की। मनीषा का देहांत हो गया। बहुत दिन हो गए।

विभास ने बहुत खर्च करके बेटी की शादी की थी और वकालत छोड़कर फिल्म डाइरेक्टर बनकर बंबई चले गए। और शायद उत्तरा की मां अपने मनोनुकूल समाज पाकर संतुष्ट हो गई थी।

लेकिन उत्तरा?

उत्तरा अचानक समाज से ऊब गई और अपने उस पति से मुक्ति के लिए कोर्ट में अर्जी दे दी। वह स्वीकृत हो गई। फिर उत्तरा जब पिता के पास आई तो उसके पिता ने यह कहकर भगा दिया कि 'अब जिंदगी में वे कभी फिर उसका मुंह नहीं देखेंगे।'

मां ने उसका समर्थन किया था। मां ने इस बात को मैट्रिक फेल होने से ज्यादा बड़ी बात नहीं समझा। किंतु विभास बोले—"चुप। इस लड़की ने आज मेरे मुंह पर कालिख पोत दिया..."

उत्तरा ने एक बार मां के मुंह पर कालिख पोती थी, एक बार पिता के मुंह पर पोती है।

और अवाक् होकर उत्तरा सोचने लगी—'अजीब बात है! तब पिताजी की शरण में गई थी। अब तो वह भी नहीं है।

इस बेचैनी के क्षण में उत्तरा को 'फूलमाटी' की याद आई। 'चौधरी बंगला' याद आया।

बुआ नहीं हैं, बुआ के बच्चे तो हैं! उन सबों के बीच दो-चार दिन रुकने के लिए घर की चाभी लेकर जाएगी उत्तरा।

उन सबों ने कहा—"घर खुला पड़ा है। वहां एक माली रख दिया है। वहां कोई जाता तो है नहीं, खिड़कियां, दरवाजे सब चोरी हो जाएंगे, अत: निगरानी के लिए

उसे रखवा दिया है। वहां माली ही खाना-वाना बना देगा। लेकिन एक बात है..."

उत्तरा हंसी। बोली—"हां कहो, तुम्हारी बातें भी सुनती जाऊं। शायद इस पापीष्ठा को घर में घुसने देने में तुम्हें कोई संकोच हो रहा है।"

फुफेरा भाई बोला—"ओह, क्या बोल रही हो तुम! बात ये है कि अभी-अभी एकाध हफ्ते के लिए अरनी वहां गया है। वो आया..."

उत्तरा ने विस्मित नेत्रों से देखा—"अरनी!"

भाई बोला—"हां। अरनी हमारा फुफेरा भाई है। क्यों, उसे देखा तो है तुमने? उस बार जब मामा के साथ गया था, अरनी ही तो गया था?"

उत्तरा ने अपनी स्मृति पर जोर डालते हुए कहा—"हां, याद आ रहा है। लेकिन उसके रहते हुए क्या वहां किसी के जाने में कोई अड़चन है?"

फुफेरे भाई ने अपने बालों पर हाथ फेरते हुए कहा—"अड़चन कैसी, वह तो अकेले रहता है..."

"क्यों? उसकी पत्नी?"

"पत्नी? उसके भाग्य में पत्नी कहां? वही इकलौता बेटा है। न शादी न ब्याह। सारा काम खुद करता है। छुट्टियों में घूमने निकल पड़ता है। कभी-कभी 'फूलमाटी' भी आता है। इस बार आया है। अगले शनिवार तक रुकने के लिए कह रहा था। तुम, बल्कि रविवार..."

उत्तरा बोली—"देखती हूं।"

किंतु क्या उस देखने में ही उत्तरा रात की गाड़ी पकड़कर पहुंच जाएगी, यह बात तो उत्तरा के फुफेरे भाइयों ने सोची भी नहीं थी।

सोचा भी नहीं।

सोचेंगे भी कैसे? ऐसी सोचने की भी तो कोई बात नहीं है। किंतु उत्तरा ने सोचा कि इसमें क्या है! बल्कि उसके होने से सुविधा ही रहेगी। घर में बहुत गंदगी नहीं होगी। रसोई का काम चल रहा होगा।

'चौधरी बंगला' में नामानुकूल कमरे भी तो है—पांच।

लाल सुर्खीवाली सड़क खत्म करके रिक्शा रुक गया। रिक्शे से उतरकर उस पांच कमरोंवाले घर की तरफ उत्तरा ने देखा। उस बार वह किस कमरे में रुकी थी? उस कोनेवाले कमरे में न? इसलिए उसने इस कमरे को चुना था कि रेल-लाइन दिखाई देगी।

नहीं, पहले तो उसने उसे सिर्फ कोने के कारण लिया था। ताकि उसमें मुंह न दिखाई पड़े। इसके बाद तो कमरा अच्छा लगने लगा था। घर के कोने में बगीचा था। उसी ने बुआ और पिताजी से कहा था।

अभी भी बगीचा है?

रिक्शावाले के सिर पर अपना बैग-बिछावन लादकर उत्तरा आगे बढ़ी।

लेकिन क्यों?

कहां है कोई? फुफेरे भाई की कही हुई बातें तो गलत लग रही हैं।

रिक्शावाले का पैसा चुकाकर, सामान बरामदे में रखवाकर उत्तरा माली को ढूंढ़ते हुए रसोई घर की ओर बढ़ गई। वह ढूंढ़ते-ढूंढ़ते थक गई, लेकिन कोई भी नजर नहीं आया। वहां कोई दृष्टि नजर नहीं आई; न संदेह की, न स्नेह की, न सहानुभूति की।

यद्यपि—

सुनसान खां-खां करते हुए घर को देखकर पता नहीं कैसे उसका मन एक वितृष्णा से भर उठा। भीतर एक हाहाकार उठ खड़ा हुआ।

माली को ढूंढ़ने के लिए बहुत दूर नहीं जाना पड़ा।

रिक्शे की आवाज सुनकर वह खुद ही किसी कोटर से बाहर निकल आया और एक सवालिया निगाह से देखने लगा।

उत्तरा अप्रतिभ खड़ी रही।

फिर बोली—"यह मेरी बुआ का मकान है, समझे? मैं यहां दो-चार दिन रहूंगी।"

माली अपने सिर पर हाथ फेरते हुए बोला—"चिट्ठी ले आई हैं?"

"चिट्ठी!"

भइयाजी की बिना आज्ञा के, बिना चिट्ठी के..."

"छोड़ो वो सब! तुम लोगों के लिए यह सब नियम भी होगा, मैं नहीं जानती थी। मैं तो निश्चिंत होकर..."

माली आदरपूर्वक एक बेंत की कुर्सी ले आकर बैठने को देते हुए बोला—"बैठिए—थोड़ी देर बैठिए। यहां जो भइयाजी रह रहे हैं, उनके आने पर..."

उत्तरा एक मिनट के लिए शिथिल हो गई। कुछ कह नहीं पाई।

इसके बाद वह खुद को चुस्त करके बोली—"भइयाजी? कौन-से भइयाजी? मैं तो तुम्हारे सारे भइया लोगों को कलकत्ता में ही देखकर आई हूं। रमेन, सोमेन, शुभेन..."

माली के मुंह से इस बार हंसी फूट पड़ी—"वो तो मुझे भी मालूम है। ये हैं अरनी बाबू! यह अरनी बाबू के मामा का घर है!"

"ओ हो। तो ऐसा कहो न?" उत्तरा ताली बजाते हुए खड़ी हो गई—"मैंने अब पहचाना। पहले ही बताना चाहिए था न? तो वे कहां गए हैं?"

"जंगल में चिड़िया मारने..."

"चिड़िया मारने? आजकल वे शिकारी भी हो गए हैं क्या?"

माली अपनी हंसी रोकते हुए बोला—"शिकार का शिकार और खेल का खेल। रोज सुबह-सुबह कंधे पर बंदूक रखकर निकल जाते हैं। और चिड़िया?"

बूढ़ा लोगों को उंगलियों पर नचा देता है। और इसी उत्तर-प्रत्युत्तर के बीच असामी का उदय होता है। हाथ में बंदूक और सैनिक वेशभूषा।

चौंककर खड़े हो गए। स्तंभित होकर बोले—"कौन?"

उत्तरा एक बांकी हंसी हंसी—"पहचान नहीं रहे हो?"

"थोड़ा-थोड़ा पहचान रहा हूं। लेकिन याद नहीं आ रहा।"

"बहुत आश्चर्य लग रहा होगा?"

"बहुत।"

"क्यों, तुम्हारे मामा के घर आया जा सकता है, मेरी बुआ के घर नहीं?"

"नहीं, किसने कहा? दरअसल ऐसा संयोग एकाध बार ही आ पाया है।"

"क्या याद आ रहा है?"

"हां, याद आ रहा है, यह सब 'अचानक' और 'संयोगवश' सिर्फ उपन्यासों में ही नहीं संभव होते।"

"और मैं कहूं कि न तो यह संयोगवश हुआ है और न तो अचानक, मैं जान बूझकर मिलने आई हूं, तो?"

"तो मैं इस मीठे झूठ को परम सत्य मानकर स्वर्ग का आनंद पाऊंगा।"

"अब तुम बहुत सुंदर-सुंदर बातें करने लगे हो।"

"सुंदर-सुंदर शायद बना-बनाकर नहीं।"

"तुम्हारे कंधे पर बंदूक देखकर डर लगता है। गोली-टोली तो नहीं चला दोगे?"

"मन तो कर रहा है।"

बुद्धिमान लोग जिन्हें मूर्ख समझते हैं, वे हमेशा मूर्ख नहीं होते। इसके प्रमाण प्राय: मिल जाते हैं। माली मूर्ख नहीं है। अब और देर तक मूर्ख की तरह खड़ा रहने का अभिनय न कर सका, बोला—"बहनजी भी खाना तो खाएंगी न?"

"खाएंगी क्यों नहीं! वाह, खाएंगी नहीं तो क्या यहां उपवास करने आई हैं? खूब अच्छा-अच्छा खाएंगी। क्या-क्या बनाओगे, बोलो?"

माली विनीत स्वर में बोला—"मैंने तो इस उम्मीद से अभी खाना बनाना नहीं शुरू किया है कि बाबू चिड़िया मार के ले आएंगे..."

"इसी उम्मीद में!"

बाबू डांटते हुए बोले—"मैंने अब तक कितनी बार चिड़िया पकड़ी है? शिकार के लिए जाता हूं तो यह कोई जरूरी तो नहीं कि शिकार ले ही आऊं।"

उत्तरा एक मधुर हंसी हंसते हुए बोली—"नहीं, वो तो है ही। अंतत: तुम ले भी नहीं आए।"

उत्तरा ने अपने-आप फिर से वही कोनेवाला कमरा अपने लिए चुन लिया।

अरनी बोला—"दक्षिण की तरफ कमरा होते हुए, उत्तर की तरफ का कमरा..."

उत्तरा एक मधुर हंसी हंसते हुए बोली—"उत्तरा जो हूं। और जिसके भाग्य में ही दक्षिण तरफ का कमरा नहीं है तो एक दिन के लिए दक्षिण के कमरे की हवा लेकर क्या फायदा?"

"एक दिन?"

"एक ही दिन रहने के लिए आई हो?"

"कोई निश्चित नहीं है। एक दिन भी रह पाऊंगी कि नहीं, कहा नहीं जा सकता।"

कोनेवाले उस बगीचे में वे दोनों आकर बैठ गए और बेंत की कुर्सियों पर बैठे-बैठे शाम की चाय पीने लगे।

माली धीरे-धीरे सब समझ गया।

दोपहर का खाना वे बड़े शौक से खाते हैं और फिर शाम के लिए बाजार की तरफ निकल जाते हैं। बोलते हैं कि 'तुम्हारी सुविधा के लिए ऐसा करते हैं।' पहले से ही तय करके आए हैं दोनों लोग। मेरे सामने ऐसा अभिनय कर रहे हैं जैसे कि अचानक मिल गए हों। लेकिन मैं सब समझता हूं बाबा!

किंतु ये दोनों उसकी बात पर ध्यान नहीं दे रहे। दोनों निश्चिंत होकर चाय पी रहे हैं।

अरनी टेबल पर सिगरेट को ठोंककर उसका ऐश झाड़ते हुए बोला—"रुकना असंभव क्यों लग रहा है? डर लग रहा है क्या?"

"डर लगने में कोई हंसी की बात है क्या?"

अरनी सीधे उसकी आंखों में झांकते हुए रहस्यमय स्वर में बोला—"यद्यपि उस दिन डर नहीं लगा, जबकि लगना चाहिए था। तब तुम मात्र सोलह साल की थी।"

"सोलह साल की थी, तभी तो नहीं लगा। अब छब्बीस की हूं तो लग रहा है।"

क्या अरनी को भी डर लग रहा है?

अगर ऐसा नहीं तो दियासलाई जलाने में उसे देर क्यों लग रही है? बात कहने से पहले उसकी जबान क्यों सूख रही है?

"पति के साथ संबंध विच्छेद क्यों हुआ?"

"प्रेम नहीं होगा तो विच्छेद तो होगा ही।"

"प्रेम किसमें नहीं था? विवाह के इतने साल..."

"विवाह कर देना तो आसान है। तुम्हें पता है कैसे हुआ विवाह?"

"नहीं, आता तब न पता होता।"

"मेरी खबर रखने की जरूरत ही क्या है तुम्हें?"

"कुछ नहीं। देश की खबर तो रख ही रहा हूं।"

"ऐसा?"

"उससे अलग क्या है?"

"ओ!"

"लग रहा है, नाराज हो गई।"

"हो गई तो हो गई।"

"क्यों?"

"मैं सोच रही थी कि तुम बोलोगे कि मेरी खबर ही तुम्हारा ज्ञान-ध्यान सब कुछ है।"

लड़कियां खुद ही मधुर असत्य बोलती हैं, किंतु विश्वास कौन करता है?

उत्तरा कुछ क्षण चुप रहीं। इसके बाद वह बहुत ही कड़वी-कड़वी सुनाने लगी—"लेकिन, लेकिन मैंने उस दिन किया था।"

"उस दिन!" अरनी विमूढ़ स्वर में बोला—"किस दिन? कौन-से झूठ पर?"

"याद नहीं आ रहा? वही भयानक झूठी बात जिसके कारण एक अबोध और सीधी-सादी, स्कूल में पढ़नेवाली लड़की को खुद ही खो बैठे, और..."

"वह बात झूठ है, और इतने दिनों में इसी सचाई की खोज की है तुमने?"

"सच, उसका कोई प्रमाण ही कहां पा सकी हूं?"

अरनी ने एक सिगरेट और जला ली। जलाकर हाथ में ही पकड़े रहा। "तुम्हारे हिसाब में कहीं कोई गलती है। लड़की तो अबोध और सीधी-सादी थी, वहां तक तो हिसाब ठीक है, किंतु लड़का—जो कि नितांत अज्ञानी और बीस साल की उम्र का था, उसको तुमने खाते में नहीं रखा। उसे अगर समीप से देखो तो सहज ही समझ सकोगी कि उसके लिए सचाई वही थी। उसी प्रथम आकर्षण को वह प्यार समझकर इतने दिनों तक विश्वास कर रहा था।"

"लेकिन बीस साल के मूढ़ लड़के में दुःसाहस का अभाव तो था ही?"

"मूढ़ था, तभी तो अभाव नहीं था। दुःसाहस तो मूर्खों का काम होता ही है!"

"बुआ यही कहा करती थी..."

"बुआ! ओ, भाभी! हां, भाभी ने कहा था—'जल्दी से तुम बालिग हो जाओ तो मैं तुम्हारे बाप से बात करके तुम्हें दंडित करूं..."

"मुझे भी उन्होंने ही कहा था। कहा था कि 'परिणाम जानकर आग में हाथ डालने से कोई फायदा नहीं।' यह तो भगवान की अशेष दया है जो मैं यहां आ सकी हूं।"

अरनी ने सिगरेट की टोंटी रगड़कर बुझा दी और एक कड़वी हंसी हंसकर बाकी बात को खत्म करते हुए बोला—"उन्होंने कहा था कि 'मैंने तो बहुत मेहरबानी करके इस बात को भइया के कानों तक नहीं पहुंचने दिया है।' यद्यपि मैंने सोचा था कि इतने दिनों बाद भी उन्होंने यह मेहरबानी निभाई होगी। लेकिन शायद पिताजी के कानों में डाल दिया था..."

अचानक बेचैन होकर अरनी उठ खड़ा हुआ। उसका चेहरा अस्वाभाविक ढंग से लाल हो उठा, जैसे उसकी सांसों की ऊष्णता टेबल के उस तरफ बैठी उत्तरा के गालों पर लग रही हो।

वह टेबल के इस तरफ घूम आया।

उत्तरा के कंधों के पास आकर खड़ा हो गया। उसकी चेयर की पीठ को मजबूती से पकड़कर। एक भयानक दबाव। एक उद्धत स्वर में बोला—"तुम्हारी बुआ, मेरी

भाभी उस महीयसी महिला ने जो कुछ किया, वह प्रकृति की नजरों में जघन्यतम अपराध है—तुम्हें पता है? और उनको ऐसा कर पाने का साहस सिर्फ इसलिए हुआ कि उन्हें हमारे नाबालिग होने की एक सामाजिक आड़ मिल गई थी।"

"उनकी बात छोड़ो भी..." उत्तरा के रक्त में एक उत्ताल स्वर बजने लगा था। उसकीशिराओं में एक विद्युत-प्रवाह दौड़ने लगा था। उत्तरा प्रति क्षण आशंकित होने लगी थी कि बालिग अरनी कहीं तीव्र आक्रोश में उस नाबालिग लड़की के अनिर्णय का प्रतिशोध न ले बैठे। इसीलिए उसने बीच में ही बात को समाप्त कर दिया—"अब तो वे रहीं नहीं।"

उत्तरा को जो आशंका थी —(न सिर्फ आशंका बल्कि उम्मीद भी?) वह यदि अकस्मात् घटित हो जाती तो शायद उत्तरा बात रोकना भूल जाती, शायद उस 'हठाती' नदी की तरह बालू को मिटाकर उत्ताल हो उठती या शायद अपनी तरंगों की ठोकर से किनारे के तट तोड़ डालती!... किंतु उत्तरा की आशा और आशंकाएं दोनों थम गईं।

अरनी ने वहां से हटकर सूखी घास के ऊपर चहलकदमी करना शुरू कर दिया।

उत्तरा के पसीने से ठंडे हाथों में फिर से उष्णता लौट आई।

कि जैसे ढलती शाम को सूर्य छिप रहा हो ...समस्त चेतना पर बागान की छाया घिर आई, दोनों में से कोई भी किसी का मुंह नहीं देख पा रहा था।

अरनी चहलकदमी करते-करते पुनः लौट आया। टेबल के कोने पर बैठ गया और भारी स्वर में बहुत मीठेपन के साथ बोला—"वे तो मर गईं, लेकिन हम तो बचे हैं? उस दिन के विचारों पर चर्चा तो होगी ही न, उत्तरा? आज सन तिरेसठ से सन तिरेपन तक की बातें क्या याद नहीं आएंगी? हम दोनों तो एक-दूसरे को नहीं ही देख पाते न? याद कर लेने से कौन आ जाता है? हमारे ऊपर से तो एक युग ही गुजर गया। यदि हमने याद भी कर लिया, तो उस आवेग, उस रोमांच, उस मारक असह्य सुख के क्षण में कोई हमारी रक्तिम आंखों के सामने आकर खड़ा तो नहीं हो जाता? हम सिर्फ उस क्षण को ही सजाए लिए जाते हैं, ...सजाए लिए जाते हैं..."

"अरनी! क्या तुम मेरी परीक्षा ले रहे हो?"

"परीक्षा! तुम कैसी बातें कर रही हो, उत्तरा?"

"शायद तुम सोच रहे हो कि तुम..."

"खुद को इतना सौभाग्यशाली मैं समझ सकूं, इतना मुझ में धैर्य कहां है, उत्तरा? मैं तो सिर्फ मुट्ठी-भर भिक्षा चाहनेवाला कंगाल हूं।"

"कमरे में चलो अरनी! बत्ती जलाते हैं..."

"ना!" अरनी ने जोर से उसके दोनों कंधों को पकड़कर उसे बिठा दिया। बोला—"कमरे में बत्ती जला देने से हम दोनों एक-दूसरे को खो बैठेंगे, छिप जाएंगे, समाज की जंजीर में जकड़ जाएंगे। यहां प्रकृति है, वन है—निरावरण। क्या अपने जीवन की एक शाम हम इस प्रकृति को उत्सर्ग नहीं कर सकते, उत्तरा?"

उत्तरा ने एक निःश्वास छोड़ा।

उत्तरा की उस प्रतीक्षा में उसके रक्त में जो उत्ताल प्रवाह था वह धीरे-धीरे थमने लगा, वह सामान्य होने लगी, अब उसके स्वर में कंपकंपी नहीं रह गई। वह बहुत ही नम्र स्वर में बोली—"मुट्ठी-भर भीख से क्या लाभ, अरनी?"

"हम इस दुर्लभ भिक्षा को अपने घर में संचित करके रखेंगे! बाद में, बहुत दिनों बाद जब कभी अपने आपको नितांत मूल्यहीन समझने लगेंगे, इस संध्या को याद करेंगे। तुम्हारा थोड़ा-सा नुकसान जरूर होगा, लेकिन मुझे इससे अगाध समुद्र के समान लाभ होगा। अनंत आकाशव्यापी लाभ।"

"तुम मुझे कमजोर मत बनाओ, अरनी।"

"तुम भूल रही हो, उत्तरा! तुम दुर्बलता के अथाह जल में ही तो डूबी हुई हो। मैं तुम्हें उसी अकूत जलराशि से बाहर निकल आने के लिए आवाज दे रहा हूं। तुम साहसपूर्वक अपने आपको सामने लाओ। तुम अपने इस एकांत और अपने निजीपन की सचाई को गर्व के साथ स्वीकार करो। इतनी बड़ी जिंदगी में से सिर्फ एक शाम मैं तुमसे मांग रहा हूं, उत्तरा! और उसे देने में तुम्हें इतनी दुविधा क्यों है? तुम इस समय किसी की विवाहिता स्त्री नहीं हो, कोई कुंआरी लड़की भी नहीं हो और न तो अपनी बुआ की नाबालिग भतीजी ही हो। तुम इस समय सिर्फ तुम हो!"

"वह तो मैं बहुत कोशिश करने के बाद भी ढूंढ़ने से नहीं पा रही हूं, अरनी..."

उत्तरा ने मन-ही-मन कहा—'बल्कि तुम मुझे जबरदस्ती लूट ले जाओ...मैं तुम्हारे उस जोर के आगे समर्पित हो जाऊंगी, तुममें समा जाऊंगी। मन-ही-मन न जाने ऐसी कितनी बातें बोल गई उत्तरा। किंतु मुंह से बोली—"मेरे दिल में पता नहीं कैसा हो रहा है। अंधेरे में मुझे डर लग रहा है। कमरे में चलो अरनी, रोशनीवाले कमरे में।"

यौवन का संचित समूचा निःश्वास फेंकते हुए वह बोला—"तुम कृपणता को और बढ़ा रही हो, उत्तरा! उस दिन जबकि इतनी लावण्यता कुछ थी ही नहीं..."

"उस दिन की बात तुम बार-बार मत ले आओ, अरनी! बल्कि उस दिन की तरह मुझे बलपूर्वक दबोच लो..."

अरनी आगे बढ़ा, और समीप, उत्तरा की पीठ नहीं बल्कि चेयर की पीठ को और जोर से दबाते हुए हताश स्वर में बोला—"ऐसा संभव नहीं है, उत्तरा! भिक्षुक हो सकता हूं, विश्वासघाती नहीं हो सकता। ...तुम मुझे इस घर में अकेला पाकर भी वापस नहीं लौटी, विश्वासपूर्वक रुक गई, और क्या मैं तुम्हारे इस विश्वास के साथ इस तरह की नीचता करूंगा? तुच्छ होकर? यदि तुम मुझे स्वेच्छा से दो तो सिर झुकाकर ग्रहण कर लूंगा। ...तुम्हें पता है, उत्तरा, बीस साल के लड़के ने इतने सालों से क्या अद्भुत स्वप्न मन में पाल रखा है?"

उत्तरा के गले से एक अस्फुट आवाज बाहर निकली—"क्या?"

अरनी आवेगरुद्ध स्वर में बोला—"वह स्वप्न ऊंचे बांध के ऊपर रेल-लाइन,

आंखों के सामने दूर दिखाई देती एक नदी और एक घर, जिसमें सिर्फ मैं और तुम..."

"लेकिन तुमने कभी अपने इस स्वप्न के बारे में मेरे पिताजी से बात नहीं की, अरनी?"

"बोला था, उत्तरा। तुम्हें पता नहीं चला। तुम्हारे पिताजी ने कहा था कि मेरे-जैसे लड़के के हाथ में अपनी बेटी देने से अच्छा है कि उसे काटकर पानी में फेंक आए।"

"अरनी!"

"मैं कोई बनावटी बात नहीं कर रहा, उत्तरा! दिन-पर-दिन वह स्वप्न के कुहासे में खोता चला गया। किंतु आज...आज फिर तुम क्यों चली आई, उत्तरा? एक अकेले पुरुष की जिंदगी को इस तरह अव्यवस्थित क्यों कर दिया!"

"मुझे माफ कर दो, अरनी!"

"यह मोहमयी, ज्योत्स्नामयी पूरी रात तुम्हारे हाथ में है, उत्तरा, सोचने के लिए , सिद्धांत गढ़ने के लिए..."

"रात नहीं है, अरनी, नौ बजे की गाड़ी से मैं लौट जाऊंगी।"

ट्रेन के समय को ध्यान में रखकर जल्दी-जल्दी सब्जी भूनते हुए माली सोच रहा था—"धत्, मैंने जो सोचा था वह बात बिल्कुल नहीं है।"

उत्तरा को ट्रेन पर बिठाकर लौटते हुए अरनी सोच रहा था—"मुझे अपने आपसे घृणा हो रही है। चाबुक मारने का मन हो रहा है। कैसी शर्म की बात है! कैसी दैन्यता है! दैन्य और हास्यास्पदता! कैसे मैंने भिखारियों की तरह अपने आपको इतना तुच्छ कर लिया था। सचमुच, क्या आवश्यकता थी इतना करने की?"

ट्रेन एक सीटी देने के बाद झिक-झिक-झिक-झिक करती चली गई।

उसी के बीच उत्तरा की भावनाएं उभरती...फिर विलीन हो जातीं। उत्तरा भी सोच रही है कि सचमुच, क्या आवश्यकता थी इतना करने की? इतनी पवित्रता निर्वाह की? मैं अपनी इस महान पवित्रता को किसकी जवाबदेही में प्रस्तुत करूंगी? यदि स्वयं अपने पास, तो सब कुछ तो हास्यास्पद ही होगा। मूल्यहीन ही होगा। हर पल तो मैं उसकी जरूरत महसूस करती हूं और उम्मीद करती हूं कि वो मुझे लूट ले जाए!

फिर?

जवाबदेही उस संस्कार के सामने! मैं समझ रही हूं, मैं जीवन में विश्वास नहीं करती, मैं सत्यधर्मी भी नहीं हूं और न तो आधुनिक ही हूं। मैं भी अपनी उसी पुरातनपंथी बुआ की कार्बन कापी मात्र हूं! इसके अलावा और कुछ बनने की मुझ में क्षमता भी नहीं है।

आयोजन

बच्चे की तरफ कोई ध्यान नहीं गया। मां के ऊपर दृष्टि पड़ी।

बीत्ते-भर का स्लीवलेस ब्लाउज, पीठ पर फेंके हुए आंचल को बाएं हाथ की तलहथियों में लपेटती हुई सामने से घेरेदार और पीठ की तरफ से लोकट ब्लाउज समेत संपूर्ण पीठ दिखाई दे रही थी। पसलियों के ऊपर मांस की दो गोलाइयों पर सहज ही दृष्टि जाकर रुक जाती थी।

और लोकनाथ के मन में यह देखकर लगा कि दुनिया में इससे अश्लील दूसरा कोई दृश्य नहीं हो सकता।

फिर लोकनाथ याद करने की कोशिश करने लगे—'ध्रुव का विवाह हुए कितने साल हो गए। सात? आठ? नौ?'

हां, नौ साल ही तो। वह उन्नीस सौ चौवन का साल था। विवाह के दूसरे साल ही तो ये कपड़े 'लेक गार्डेन' से खरीदे थे लोकनाथ ने।

इसका मतलब कि अभी रूमा को इस घर में आए दस साल भी नहीं हुए।

ठीक उसी समय उनके सद्य: रचित छंद को भंग करती हुई रूमा सीढ़ी से उतरती दिखाई दी और जब तक बाहर निकलती हुई रास्ते में दिखाई देती रही, तब तक लोकनाथ उसको मर्यादित ढंग से देखते रहे।

रूमा का चेहरा अदृश्य हो जाने के बाद भी वे कुछ देर तक वैसे ही देखते रहे। और उस शून्यता के भीतर से एक दृश्य उभर आया।

रूमा को पहली बार देखने जानेवाले दिन का दृश्य। उसके पिता के घर के उस कमरे समेत वह दृश्य।

लोकनाथ को लगा था कि उसके पिता ने जैसे सरस्वती को साक्षात्त ले आकर सामने बिठा दिया हो। लोकनाथ कुछ देर तक वैसे ही विमुग्ध नेत्रों से देखते रहे। फिर धीरे से उसके पिता से बोले—"देखने में तो आपकी पुत्री अद्‌भुत है, लेकिन क्या ऐसा नहीं लगता कि इसको कोई रोग हो? हाथ-पैर बहुत पतले.."

रूमा के पिता एकदम से ठठाकर हंस पड़े थे—"अरे ऐसा कुछ भी नहीं है। आपके घर जाकर दो दिन में ही देखिएगा...।" हंसते हुए उन्होंने अपनी बात पूरी की—"एक गरीब बाप और कितना यत्न कर सकता है, आप ही बताइए भला? इसीलिए तो मैंने 'जज' बाप तलाश किया है।"

हां सचमुच। तब लोकनाथ 'जज' थे। एक्सटेंशन पर चल रहे थे। अब तो अवकाश प्राप्त कर घर पर ही रहते हैं। सीढ़ी के सामनेवाले इसी कमरे में पड़े रहते हैं।

और कमरे के सामनेवाले दरवाजे और उस खिड़की पर ही उनकी आंखें लगी

रहती हैं। अखबार की आड़ से यह देखते रहते हैं कि कौन आ रहा है और कौन बाहर जा रहा है।

दुनिया-भर के लोगों के गमन और आगमन का हिसाब वे क्यों रखें, रखने से लाभ भी क्या, यह वे खुद भी नहीं समझ पाते, लेकिन फिर भी लोकनाथ हिसाब रखते हैं।

आज भी इसमें कोई परिवर्तन नहीं आया है।

हाथ का अखबार एक तरफ फेंककर पांव में चप्पल घिसटाते-घिसटाते आगे आकर बोले—''बहू! इतने सवेरे बच्चे को साथ लेकर कहां गई थी?''

सुप्रभा को आचरण संबधी इस सवाल का जवाब नियमित रूप से देना पड़ता है। तभी उसके जवाब में कोमलता नहीं रहती। अब कोमलता की संभावना भी नहीं है।

''अच्छा!'' लोकनाथ ने व्यंग्यात्मक स्वर में कहा—''अच्छा तो सभी कुछ हो रहा है! फिर मैं क्यों पूछूंगा भला, नवाबजादी तो इधर-उधर देखती भी नहीं, मदमस्त चली जाती है।''

इस बार सुप्रभा के ऊपर लोकनाथ को गुस्सा चढ़ आया। वे अपना गुस्सा रोक न सके और बोले—''बहू, तुम कहां गई थी, ये तुमको नहीं पता?''

''नहीं, मुझे नहीं पता। हवा में जो उड़ती हुई खबर मेरे कानों में आती है, मैं उतना-भर ही जानती हूं। सुना है, बेटे को तैराकी क्लब में भर्ती कराने ले गए थे।''

''तैराकी!''

लोकनाथ जैसे आसमान से गिरे हों—''उस दो साल के बच्चे को तैराकी क्लब में! इसका क्या मतलब है?''

''मतलब क्या? अगर मां नहीं बच्चे की अच्छी सेहत का खयाल रखेगी तो कौन रखेगा?''

''अच्छी सेहत? उस बारहों महीने सर्दी-खांसी से जकड़े रहनेवाले बच्चे को तैराकी सिखाने से सेहत अच्छी होगी क्या?''

''निश्चित होगी।''

सुप्रभा अकारण ही चश्मा नाक पर दबाते हुए एकदम से बैठ गई।

लोकनाथ इस भंगिमा से परिचित थे। यह जैसे पटाक्षेप का संकेत हो। उनका क्रोध और भी बढ़ गया। बोले—''बबुआ कहां है?''

''अपने कमरे में होगा या बाथरूम में होगा कहीं।''

लोकनाथ ने किसी को आवाज लगाते हुए कहा—''ऐ देख तो, भइयाजी कहां हैं? जरा बुलाना तो उनको।''

बबुआ दाढ़ी बनाने के लिए साबुन लगा रहा था, ब्रश से झाग बनाते-बनाते साबुन लगे मुंह लिए आकर खड़ा हो गया!

लोकनाथ का क्रोध विद्रूपता में बदल चुका था—''तुम्हरा बेटा इस लायक है

कि तुम उसे तैराकी सिखाने के लिए ले गए थे?''

ढाई साल के बच्चे को तैराकी क्लब में भर्ती कराने के लिए ले जाने को लेकर पत्नी के साथ इस बीच कई बार ध्रुवनाथ की लड़ाई हो चुकी थी।

रूमा कहती—''जज, मजिस्ट्रेट का घर होने से क्या होता है, तुम लोग अभी भी पचास साल पुराने विचार लिए जी रहे हो।''

ध्रुवनाथ को मानिकतला का सीलन-भरी दीवारोंवाला अपने ससुर का अंधेरा घर याद हो आया। बटन टूटे हुए कालरवाली शर्ट पहने हाथ में थैला लिए ससुर का चित्त याद हो आया। किंतु मन में जो भाव उठे उसे मन में दबाए रखना ही सभ्यता है।

सभ्य ध्रुवनाथ ने बच्चे के अनिष्ट की आशंका को लेकर तर्क किया था और वे उसमें हार भी चुके थे। उसकी कड़वाहट तो मन में थी ही। पिताजी के व्यंग्यात्मक प्रश्न से वह और भी बढ़ गई। और उनका तर्क पलट गया। चुप रहने के सिवा वे कर भी क्या सकते हैं? सच ही तो है, अब और पचास साल पुरानी मान्यताओं पर वे नहीं चलेंगे। मां-बाप, भाई-बहन के सुर-में-सुर मिलाकर अपनी पत्नी की निंदा क्यों करेंगे?

यह सोचकर उन्होंने सब के विपरीत बोलना शुरू कर दिया।

बहुत ही आत्मविश्वास के साथ उन्होंने कहा—''इसमें आश्चर्य की क्या बात है? इस उम्र के कितने सारे बच्चे तो जाते हैं।''

''जाते हैं? दो साल के बच्चे तैराकी सीखने जाते हैं?''

''दो नहीं, ढाई।''

''क्या मतलब? तुम लोगों को यह स्वाभाविक लग रहा है!''

''अस्वाभाविक भी तो कुछ नहीं लग रहा''—ध्रुव गालों पर और तेज-तेज ब्रश घिसते हुए बोले—''पांच लोग जो करते हैं...''

जिस युक्ति का अब तक ध्रुव खंडन करते रहे थे, आज उसी का प्रयोग कर रहे थे।

भूतपूर्व जज ने मसृण मोजैकवाले फर्श पर स्लीपर घिसटते हुए कई पैंतरे बदले और तीखे स्वर में बोले—''इन सब कामों में मुझसे सलाह लेने की कोई आवश्यकता नहीं समझ रहे हो!''

हालांकि ऐसा नहीं है कि ध्रुव ने ऐसी आवश्यकता नहीं समझी थी कि टुटुल बाबा की आंखों का तारा है, जान से भी प्यारा पोता है, यह तो ध्रुव भी जानते हैं। उन्होंने टुटुल को इस बात के लिए प्रस्तुत करने से पहले पिताजी से सलाह लेने का प्रस्ताव भी रखा था, किंतु रूमी ने कहा था कि 'उनसे तो पूछने का मतलब है कि वे मना करेंगे और क्य तुम उनके निषेध को अमान्य करके काम करना अच्छा समझते हो?'

अर्थात् इस काम के लिए पहले से ही दृढ़ निश्चय हो चुका था। इसीलिए ध्रुव ने और भी परामर्श करना उचित नहीं समझा था। लेकिन यह बात कह देने से तो

काम बनेगा नहीं। इसीलिए ध्रुव इतनी छोटी बात पर उतरकर अपने को छोटा नहीं करना चाहते थे। इसको इतनी गंभीरता से वे ले ही क्यों रहे हैं?

गंभीरता ही क्यों दे रहे हैं। यह तो है ही। वह एक बच्चा, अचानक जज हो जाने पर उसका स्वर किस तरह वाष्पाच्छादित हो आया है! लोकनाथ अपने कमरे में चले गए—अस्फुट स्वर में अपनी बात समाप्त करते हुए—"उसे पानी में डुबा देने से बचेगा?"

ध्रुव थोड़ी देर तक उस तरफ ही देखते रहे। इसके बाद मां की तरफ देखा। सुप्रभा जैसे पहले बैठी थी, वैसे ही बैठी रही। लग रहा था कि अब तक जितनी भी बातें हुईं उनका क्षणांश भी उसके कानों में नहीं पड़ा।

ध्रुव ने सोचा —'लड़कियां हमेशा ममतामयी नहीं होतीं।'

इसके बाद ध्रुव ने सोचा कि बंगला में 'शंख की आरी' को लेकर एक कहावत है। पता नहीं उसका निर्माण किसके लिए हुआ था, लेकिन ठाकुर के पास से भात खाते समय निकली थी। जज का बेटा होने से कुछ नहीं होता। सेकेंड क्लास एम.ए., एक घटिया-से कालेज में अध्यापन करते हुए प्रोफेसर होने का नाम है, बस। घर की इज्जत को ध्यान में रखते हुए गाड़ी से आना-जाना पड़ता है।

शुरू-शुरू में तो बस से जाता था। लोकनाथ ने ही उसे गाड़ी से जाने के लिए राजी किया था।

गाड़ी की आवाज से लोकनाथ ने समझ लिया कि ध्रुव बाद में निकल गया है। जिस गाड़ी पर बेटे को बिठाने का उनको शौक था, आज उसी गाड़ी की आवाज अचानक जहर की तरह लगने लगी। सोचा, गांठ में तो तीन पैसे हैं और ठाट-बाट इतना बड़ा!

यह सब तो मन के भीतर की बातें हैं।

इन बातों के लिए कठघरे में नहीं खड़ा होना पड़ता।

किंतु कुछ बातें लोकनाथ की जुबान पर आकर इकट्ठी हो गई थीं। बोलना है कि नहीं, निश्चित नहीं कर पा रहे थे। क्यों नहीं बोलना है? कुछ न बोलने का ही तो यह सारा कुछ परिणाम है। उन सबों के इतने पर निकल आए हैं।

बेटे का विवाह करने के पश्चात, कुछ दिनों तक वे खुद ही, बहू की सरस्वती-जैसी प्रतिमा की कितनी तारीफ किया करते थे। वे सारी बातें अब लोकनाथ को भूल-सी गई हैं। बैठक में जब कोई बाहर से आता था तो वे बहू को भी बुला लेते थे बैठक में और उससे गाना गवाकर उन लोगों को सुनवाते थे और उन लोगों के सामने कोटि-कोटि प्रशंसा करते थे। जैसे वह सब उनकी खुद की उपलब्धि हो। 'तुम लोग देख रहे हो, कितनी अच्छी व्यवस्था कर रखी है इसने?'

मानिकतला की उस अंधेरे में रहनेवाली, नम्र, कुंठित वह प्रतिमा न जाने कब विदा हो गई? चर्बीधारी, पूरी दुनिया को खारिज कर देनेवाली एक स्त्री ने उस मंच पर आसन ग्रहण कर लिया—लोकनाथ ठीक से उसका हिसाब नहीं लगा पाए।

उस पर सुप्रभा बीच-बीच में लोकनाथ की पुराने दिनों की खोदी गई खाई की याद दिलाकर, 'अपनी ही खोदी हुई खाई के जल में डूबने' की तरफ इशारा कर देती। इस प्रकार बहू के साथ-साथ खुद भी तिक्त हो गई थी लोकनाथ के सामने।

लोकनाथ ने गुस्से में कहा—"तुम सास हो, उसे ठीक से समझा नहीं सकती?"

सुप्रभा बोली—"नहीं। नहीं समझा सकती। सच्ची बातों से रिश्ते खत्म हो जाते हैं, जानते नहीं क्या? कह देने की तो इच्छा होती है, लेकिन तुम तो कह ही देते हो न!"

"यह क्या अच्छी बात है?"

"तो क्या संबंध खराब कर लूं?"

"चिर प्राचीन संगिनी आजकल हमेशा नाराज ही रहती है। लोकनाथ की आज जो हालत हुई है, उसका यही कारण है।"

ध्रुव के बाहर चले जाने के बाद सीढ़ियों पर जैसे मुनादी करनेवाले असामी की पदचाप सुनाई दी। टुटुल रोते-रोते चला आ रहा था। सीढ़ी के दरवाजे पर ही लोकनाथ खड़े थे। रूमा जो अपनी दो आंखों से नहीं देख पा रहा थी, वही टुटुल ने दिखा दिया। मां से मार खाकर दादा के पास शिकायत करने के लिए आया था।

"दादा, दादाभाई, मम्मी ने मुझे पानी में डुबा दिया था। मेरा कान उमेठ दिया था। मुझे रोज तालाब में डुबाएगी—कह रही थी..."

"टुटुल!"

रूमा ने तीखे स्वर में आवाज लगाई। यह सब तो सचमुच बहुत अप्रीतिकर लगता है, लेकिन बूढ़ों के मोह में पड़कर बच्चों को मनमाफिक आदमी नहीं बनाया जा सकता है।

ससुर के जज होने की सुविधाओं का रूमा को खयाल नहीं है, उसे बूढ़े ससुर के होने का कष्ट अवश्य है। बच्चे में यह शिकायत करने की आदत जन्मजात तो है नहीं, अगर लोकनाथ बच्चे को इतना स्नेह नहीं देते तो संभव था?

तभी तो रूमा जितनी बार भी टुटुल को डांटती है वह दादा की शरण में जाता है। और लोकनाथ देखते हैं कि बच्चे की दोनों आंखें जवा फूल की तरह लाल हो गई हैं, मुंह सूख गया है। आंखों के आंसू और झील के पानी के सम्मिश्रण से पोते का चेहरा आर्द्र हो उठा है। यह देखकर लोकनाथ अब और नहीं बर्दाश्त कर पाए और बोले—"बच्चे को लेकर ही आने की क्या जरूरत थी! वहीं झील में छोड़ आती?"

इतना बोल देने से उन्होंने समझा कि बहुत कड़ाई हो गई। किंतु अब से पहले जो हो गया है उसका क्या इलाज है?

नहीं, इलाज नहीं है।

सारी युक्तियां धराशायी होती जा रही थीं।

क्षण-भर में ही रूमा का चेहरा बच्चे की आंखों की तरह रंग गया। वह तुरंत

बोल उठी—"अगर आप लोगों का आशीर्वाद रहा तो वह भी हो जाएगा, बाबा।"

"क्या, क्या कहा बहू?"

"कुछ नहीं कह रही, बाबा, एक छोटी-सी बात को तूल देकर खुद ही तो आप लोग दुखी होते हैं, वही मैं कह रही हूं।"

"इस दूध पीते बच्चे को पानी में डुबाकर निमोनिया पकड़ाने की मूर्खता को तुम सामान्य बात कहती हो, बहू?"

रूमा बहुत ही शांत स्वर में बोली—"आप एक दिन सुबह खुद ही जाकर अपनी आंखों से देख लीजिए कि एक आपके पोते को ही मारने का षड्यंत्र नहीं चल रहा है वहां।"

"मुझे देखने की कोई जरूरत नहीं है।" लोकनाथ ने गुस्से में कहा—"वह अब नहीं जाएगा, बस।"

रूमा फिर भी शांत और अविचल थी—"उसे तो भर्ती करा आई हूं.."

"भाड़ में जाए। चाहे जितना भी पैसा लगा हो, समझ लिया सब पानी में चला गया।"

न, ससुर से जबान नहीं लड़ा रही रूमा। वह समझाने की कोशिश कर रही है—"सिर्फ पैसा ही पानी में नहीं जाएगा बाबा, हमारी प्रेस्टीज भी तो पानी में जाएगी न! उसे कैसे सहन किया जा सकता है। उसको तो हमें आदमी बनाना है। वह तो जज का बेटा नहीं है न कि गोबर गणेश होने पर भी चलेगा।"

लोकनाथ आकर लेट गए और पूरे दिन सोए रहे। शाम को नौकर से पता चला कि टुटुल बाबू उठ नहीं पा रहे हैं। भयानक बुखार लगा हुआ है उनको। लोकनाथ उठकर बैठ गए। इसके बाद एक आलस तोड़ते हुए हाय किया। मन की बात तो कोई समझ नहीं पाता है, फिर भी नौकर के मन में उन्होंने देखा कि बाबू को किस तरह उत्फुल्ल किया जा सकता है। इसके बाद उन्होंने सोचा कि धत्, सब मन का भ्रम है।

ध्रुव को कालेज से लौटते हुए लोकनाथ ने नहीं देखा था। व्यस्त-सा बाहर निकलते देखा था। पूछा—"आते ही फिर बाहर कहां चले, बेटा?"

लोकनाथ का गोबरगणेश बेटा अपने आपको संभाल न सका, विषण्ण मुंह और कातर स्वर में बोला—"टुटुल को चार से ऊपर बुखार हो रहा है, डाक्टर को फोन किया तो मिल न सके..."

"टुटुल को बुखार कैसे हो गया?"

'कैसे?' इस प्रश्न का जवाब दे पाना संभव है! ध्रुव चलते हुए बोला—"पता नहीं, मैं लौटा तो देखा..."

"अच्छा, ठीक है। तुम बीमार बच्चे को छोड़कर बाहर मत जाओ, मैं देखता हूं। जाओ तब तक उसकी मां को बोलो। ...अच्छा..."

लोकनाथ गाड़ी लेकर निकल गए।

डाक्टर के आने में देर नहीं लगी।

किंतु उस समय ध्रुव कांप रहा था। सुप्रभा प्रायः रो रही थी और रूमा के गोरे मुंह पर जैसे आग की लपटें उठ रही थीं। उनकी इस स्थिति में आवेग, उत्कंठा, अभियोग, अभिमान—सब कुछ सन्निहित था।

डाक्टर ने पूछा—"क्या हाल है?"

ध्रुव रोते हुए स्वर में बोला—"अभी-अभी टेंपरेचर लिया है, पांच प्वाइंट छः..."

लोकनाथ ने उस पांच प्वाइंट छः के चेहरे की तरफ देखा। मन में हाहाकार-सा मच गया। सिर दीवार में पीट लेने का मन हुआ। इसके बाद भी क्या वे बहू-बेटे को अपना चेहरा दिखा सकेंगे?

रूमा तो ध्रुव को ही कहेगी।

शोक का समय—

शोक के अलावा और कर भी क्या सकते हैं?

लोकनाथ ने सोचा—'वह एक मुट्ठी फूल क्या उस ज्वलंत शिखा की रक्षा कर सकेगा? पांच प्वाइंट छः, आग नहीं तो और क्या?'

डाक्टर ने आइसबैग और गरम पानी दोनों की व्यवस्था करने को कहा। वहां उपस्थित लोगों ने सोचा कि यह सिर्फ सांत्वना के लिए चेष्टा है।

उस निश्चल फूल की मुट्ठी में बीच-बीच में हिचकी और सिर हिलाने के अलावा जीवन का कोई चिह्न नहीं नजर आ रहा था। यह हिचकी कब तक चलती रहेगी?

लोकनाथ अब और न सोच सके।

पसलियों के बीच उठती पीड़ा को चेहरे पर छिपा पाना क्या आसान काम है?

सभी ने आश्चर्यपूर्वक डाक्टर को देखा

रूमा कोई आश्चर्य नहीं हुआ। इतनी देर का एकत्र उस ज्वलंत माथे का रक्त स्नायुओं से होकर आंखों के रास्ते पानी की धार में फूट पड़ा।

लोकनाथ कमरे में चले गए और प्रतिक्षण इंतजार करने लगे।

इंतजार करने लगे सुप्रभा के स्वर का। हां, सुप्रभा के ही। पचास साल की उम्र की और पचास साल और पीछे के विचारोंवाली उस महिला की जो कि बच्चे के सिरहाने बैठी हुई है।

कितने युग बीत गए?....

युग-युगांतर?

क्या सुप्रभा चिल्ला उठी?

लोकनाथ सुन नहीं पा रहे?

लोकनाथ सो गए थे क्या?

इस प्रकार घर में सन्नाटा-सा क्यों है? एक भयानक भय से लोकनाथ के हाथ-पांव अवश हो गए। उठना चाहा, किंतु उठ न सके। निश्चय ही उनकी इस मान्यता

ने ही उन लोगों से अलग इनको एक कमरे में अकेला कर दिया है।

या तो वे सब लोकनाथ की इस निष्ठुरता को देखकर चुप हो गए हैं या नहीं तो चुपचाप उसे लेकर चले गए हैं।

'बेटा' कहकर बुलाना चाहा, लेकिन बुला न सके। तकिए में ही मुंह दबाकर एक घृणित गाली उच्चारित की।

किंतु इस शब्द में भी बेटा ही भाया।

बोला—"बाबूजी उठिए। आप सो गए थे, इसलिए नहीं जगाया। टुटुल का बुखार अब उतरकर साढ़े निन्यानबे पर आ गया है। डाक्टर आए थे, उन्होंने बताया उसे 'तड़का' हो गया था।"

लोकनाथ ने ध्रुव की तरफ नहीं देखा। निःशब्द दीवार की तरफ देखते रहे। ध्रुव ने कहा—"खाना खिलाने को कह गए हैं।"

"खाना देने को कह गए हैं। इसका मतलब कि रोज की तरह खाना-पीना बन रहा है!"

लोकनाथ ने घड़ी देखी—रात के साढ़े दस बज रहे थे।

वे दो घंटे से सो रहे थे। पूरा मन जैसे कड़वाहट से भर गया था। वह कड़वाहट जैसे उनकी जीभ पर उतर आई हो, बोले—"मैं खाऊंगा नहीं।"

ध्रुव चला गया।

किंतु थोड़ी देर बाद फिर नौकर आया बुलाने। उत्फुल्ल चेहरे से बोला—"बाबू! टुटुल का बुखार उतर गया है।"

लोकनाथ ने उसको बहुत तेज डांटा। बोले—"उतर गया तो मैं क्या करूं—दोनों हाथ उठाकर नाचूं! कितने लोग तो बोल गए?"

"वहां खाना खाने के लिए बुलाया जा रहा है।"

"कह तो दिया था कि 'नहीं खाऊंगा।'

लोकनाथ फिर से सो गए।

जैसे अपना सर्वस्व हृदय हारकर पराजित हो चुके हों लोकनाथ। पता नहीं, किसने उनको बहुत सारे आश्वासन देकर ठगा है।

तरंग प्रिंटर्स, लक्ष्मी नगर, दिल्ली द्वारा मुद्रित